संस्थापक

शिव वर्मा

संपादकीय परामर्श

असग़र वजाहत

संपादक

मुरली मनोहर प्रसाद सिंह / चंचल चौहान

संपादन सहयोग

कांतिमोहन 'सोज़'

रेखा अवस्थी

जवरीमल्ल पारख

संजीव कुमार

हरियश राय

बली सिंह

कार्यालय सहयोग

मुशर्रफ़ अली

इस अंक की सहयोग राशि

साठ ₹पये

(डाक ख़र्च अलग)

संपादकीय कार्यालय

ख़सरा नं0 258 , लेन नं0 5, चंपा गली, वेस्ट एंड रोड,

सैदुल्ला जाब, (साकेत मैट्रो के पास)

नयी दिल्ली-110050

Email : jlsind@gmail.com

Website : www.jlsindia.org

Mobile : 9818859545, 9818577833

प्रकाशन, संपादन, प्रबंधन पूर्णतया

ग़ैरव्यावसायिक और अवैतनिक

पत्रिका में प्रकाशित विचार लेखकों के अपने हैं

जलेस की सहमति आवश्यक नहीं

जनवादी लेखक संघ केंद्र की पत्रिका

नया पथ

पुस्तक चर्चा-1

वर्ष 34 : जुलाई-सितंबर 2020

अनुक्रम

संपादकीय / 3

जन्मशताब्दी स्मरण

जनकवि अन्ना भाऊ साठे : *सुबोध मोरे* / 5

वैचारिक चर्चा

सावित्रीबाई फुले रचना-समग्र और दलित चिंतन : *शिवानी* चोपड़ा / 11

ब्राह्मणवाद के विरुद्ध संघर्ष के प्रतीक : पेरियार : *विष्णु नागर* / 18

वर्ग और जाति की समझ : कार्यवाही के साझा आधार एवं डॉ. आंबेडकर : अजय कुमार और रमाशंकर सिंह / 23

भारत के राजनीतिक यथार्थ के संकट : वैभव सिंह / 28

काव्य चर्चा

कुछ कविता संग्रहों को पढ़ते हुए : कुछ नोट्स : राजेश जोशी / 35

एक अच्छे कवि की सामर्थ्य : मुकेश कुमार / 41

कविता की संभावना और आलोचना के संकट : प्रियदर्शन / 50

कविता की विश्वसनीय आवाज़ें : बसंत त्रिपाठी / 56

श्रेष्ठता के अमानवीय रूपों का सामना करती कविता : बली सिंह / 65

'अब्दुल की आत्मा के सवाल' और दलित कविता का वर्तमान : टेकचंद / 71

रिश्तों की धूप और जीवन की भाषा : हृदय कुमार / 79

उपन्यास चर्चा

न्यायतंत्र में उलटबांसी दिखानेवाले दो उपन्यास : रवींद्र त्रिपाठी / 89

पारसा बीबी से मुलाक़ात : अर्जुमंद आरा / 95

कहानी चर्चा

कहानी की नयी इबारत : हरियश राय / 99
विद्रूप यथार्थ की तस्वीरों के भिन्न लेंस : बलवंत कौर / 106

आलोचना संवाद

दलित विमर्श संबंधित कुछ पुस्तकों पर चर्चा : चंचल चौहान / 112
मुखौटों से लड़ती कहानी-आलोचना: अंकित नरवाल / 121

कथेतर : यात्रा वृतांत

'सैर कर दुनिया की ग़ाफ़िल' : अनिरुद्ध कुमार / 129

विशेष स्मरण

शब्द और संगीत के स्वर-साधक रमेश रंजक : अजय बिसारिया / 135
कवि रामेश्वर प्रशांत और उनकी कविताएं : नीरज सिंह / 147

संपादकीय

पुस्तक चर्चा की अहमियत

सूचनाक्रांति के इस दौर में पढ़े लिखे लोगों का अधिक समय फ़ेसबुक, व्हाट्सऐप और सोशल मीडिया के तमाम अन्य उपकरणों पर लगता है। इस स्थिति को, इस दौर की कोविड-19 की महामारी ने और अधिक विकट कर दिया क्योंकि सभी उम्र के लोगों को इस महामारी ने ज़बरन इन माध्यमों से जोड़ दिया। आफ़िस, स्कूल, कालेज सभी इन्हीं नये माध्यमों से काम चला रहे हैं। बड़ी कंपनियां, राजनीतिक पार्टियां, अनेक संगठन वीडियो कांफ्रेंसों के माध्यम से अपनी बैठकें, सेमिनार ('वेबिनार') और अन्य सामूहिक काम, यहां तक कि रोज़मर्रा की वस्तुओं की ख़रीदारी का काम भी घर से ही चला रहे हैं। पुस्तकालयों में जा कर पुस्तकें पढ़ने का परंपरागत ढर्रा अब समाप्तप्राय हो गया है। बहुत सी किताबें भी डिजिटल हो गयी हैं, इंटरनेट के माध्यम से कहीं भी, किसी भी वक़्त बैठकर या लेटे लेटे उन किताबों को पढ़ा जा सकता है।

यह सब होते हुए भी काग़ज़ पर छपी किताबों का सिलसिला जारी है। बड़ी तादाद में लेखक और चिंतक सक्रिय हैं। वे अपने मन की बात, अपना ज्ञान और अपनी संवेदना का इज़हार करने के लिए छपी किताब को ही माध्यम बनाना पसंद कर रहे हैं। जहां डिजिटल मंचों पर विचारधारात्मक संघर्ष चल रहा है, वहीं छपी किताबों के माध्यम से भी विचारों का यह घमासान जारी है। इसी घमासान की एक बानगी पेश करने के मक़सद से *नया पथ* का यह अंक 'पुस्तक चर्चा' पर केंद्रित किया गया है। कोशिश यह की गयी है कि इधर के दो चार बरसों में प्रकाशित किताबों पर चर्चा केंद्रित हो, सभी विधाओं की, और साहित्येतर भी, कुछ किताबें शामिल की जायें जिससे इस दौर के रचनाकारों और विचारकों के माध्यम से व्यक्त सामाजिक यथार्थ की पहचान की जा सके। इन किताबों के माध्यम से इस दौर के बहुविध विमर्शों की झलक भी इस चर्चा में समाहित है।

पिछले कुछ बरसों में देश की राजनीति पर जो ताक़तें झूठे आश्वासनों, मिथ्या भ्रमजाल और झांसों से अवाम को गुमराह करके हावी हो गयी हैं, वे जन और जनतंत्र के लिए बुरे दिन लाने में मशगूल हैं। उनकी मूल विचारधारा फ़ासीवादी है, देशी विदेशी वित्तीय पूंजी ने फ़ासीवाद की मौजूदा राजनीतिक संरचना को अपार धनबल से लैस कर दिया है, इस धनबल से उसने अपने लिए मानवसंसाधन भी अपार मात्रा में जुटा लिये हैं। इस समयउसके पास दलबदल कराने के लिए भी धन की कमी नहीं है। शानदार पार्टी आफ़िस हर ज़िले में इस धनबल से ही बने हैं, चुनावी प्रक्रियाओं पर उसकी पकड़ अन्य राजनीतिक संगठनों के मुक़ाबले कहीं बेहतर है। मतदाता सूची में पन्नों के हिसाब से प्रभारी, बूथ के हिसाब से प्रभारी बना दिये हैं और इसी तरह की पूरी संरचना फ़ासीवादी ताक़तों ने तैयार कर ली है। इसलिए इन ताक़तों को काडरविहीन राजनीतिक दल शिकस्त देने में कामयाब नहीं हो पा रहे हैं।

सत्ता के नशे में चूर इन फ़ासीवादी ताक़तों के शासन में महिलाओं, दलितों और अल्पसंख्यकों पर अत्याचारों में इस दौरान लगातार बढ़ोतरी हुई है। यों तो भाजपा शासित उत्तर प्रदेश में शायद ही कोई दिन ऐसा हो जब इस तरह के अत्याचारों की ख़बर न आती हो, मगर 14 सितंबर 2020 के दिन हाथरस के पास एक गांव में उन्नीस वर्षीय दलित महिला के साथ बलात्कार और हिंसा की जो बर्बर घटना हुई, उसने तो मानवता को शर्मसार ही कर दिया। उस महिला की मौत 29 सितंबर को दिल्ली के सफ़दरजंग अस्पताल में हुई, उत्तर प्रदेश पुलिस ने उस महिला का शव परिवारजनों को सौंपे बग़ैर रात में ही उसके गांव के बाहर जला दिया, पूरी दुनिया ने उस वीडियो को

देखा, फिर उमड़ा प्रतिरोध का सैलाब, पूरी दुनिया ने इस बर्बरता की निंदा की और हाथरस की इस 'निर्भया' के लिए न्याय की आवाज़ बुलंद की। संवेदनाहीन फ़ासीवादी ताक़तों के नेतृत्व और प्रशासन ने हत्यारों का पक्ष लिया। यह है भाजपा नेतृत्व का असली चेहरा, चाल और चरित्र। ऊंची जातियों के लोगों की पंचायतों को कुछ भी करने की छूट दी गयी, दलित पीड़िता के परिवार से सहानुभूति रखने वालों पर चलाया दमन चक्र।

देश की शासनव्यवस्था का ऐसा कोई खंभा नहीं है, जिसमें फ़ासीवादी तंत्र न घुसा हो, संवैधानिक संस्थाओं, ज्ञानविज्ञान के संस्थानों पर उसने पूरी तरह कब्ज़ा कर लिया है। लोकतंत्र दिखावे भर के लिए है। इधर महामारी ने और मनमाने ढंग से लागू की गयी तालाबंदी ने भी ग़रीब शोषित अवाम और मध्यवर्ग व छोटे उद्योग धंधों को तबाह कर दिया, लेकिन बड़े कारपोरेट घरानों और अंतरराष्ट्रीय वित्तीय पूंजी को मंदी की भयंकर चपेट से कोरोनाकाल ने उबार लिया। पूरी पूंजीवादी दुनिया में उत्पाद के लिए मांग का संकट पहले ही था जिसे कोरोनाकाल से पहले 'महामंदी' कहा जा रहा था, मगर इस दौर में उत्पादन के ठप होने से मज़दूरी की बचत हो गयी, ऑफ़िस का ख़र्च भी बच गया और उत्पाद भी धीरे धीरे महंगे दामों पर बिकने लगे। पूंजीवादी अर्थशास्त्री इस 'पुनर्जीवन' से खुश हैं। एक ओर सरकारों की ओर से अच्छा ख़ासा पैकेज हासिल कर लिया, दूसरी ओर सबसे बड़ी उत्पादक शक्ति यानी मज़दूर वर्ग पर कुछ भी ख़र्च नहीं करना पड़ा। जब प्रधानमंत्री ने देश को नसीहत दी कि 'कोरोना काल को अवसर में बदल लो' तो बीजेपी शासित कई राज्यों ने ऐसे श्रम क़ानून बना लिये, जिनसे कारपोरेट घराने मनमाने तौर पर मज़दूरों की छंटनी कर सकते हैं। केंद्र सरकार ने भी इसी तरह का क़ानून बना लिया। पक्की नौकरी देने का सिलसिला तो बहुत पहले लगभग सभी क्षेत्रों में ख़त्म हो चुका था, इसलिए असंगठित मज़दूरों की तादाद में ही बेतहाशा बढ़ोतरी होती रही, तालाबंदी के दौरान जो जन सैलाब महानगरों से गांव जाने के लिए उमड़ा था, वह इस सच्चाई का प्रमाण है। उनकी कमाई बंद हो गयी थी, मगर गोदामों में पहले से ही बना हुआ माल भरा पड़ा था, उसकी खपत इस दौरान हो जाने से कारपोरेट पूंजी को दोहरा लाभ मिल गया। कोरोना काल उनके लिए वरदान साबित हुआ, ग़रीबों के लिए वज्रपात।

मज़दूरों के ख़िलाफ़ श्रमक़ानूनों में संशोधन करने के बाद केंद्र सरकार ने किसानों को कारपोरेट घरानों के अधीन करके उनके शोषण में इज़ाफ़ा करने के मक़सद से तीन क़ानून पारित कर लिये, जिनका प्रतिरोध आजकल जारी है। अब तक के रवैये से लगता है कि फ़ासीवादी विचारधारा से लैस केंद्र सरकार शायद ही किसानों की मांगें माने क्योंकि वह महामारी को भी 'अवसर' के रूप में इस्तेमाल करने के फ़लसफ़े में यक़ीन रखती है। आंदोलन के दबाव में आकर किसान संगठनों से मिलकर बातचीत ज़रुर की है, मगर क़ानून वापस लेने का उसका कोई इरादा नहीं दिखता।

ऐसे माहौल का असर साहित्यकारों की संवेदना को, या समाजशास्त्रियों की चेतना को न छुए, यह संभव नहीं। इस सबकी जानकारी हमें किताबों से ही मिल सकती है, क्योंकि किताबें ज्ञान और संवेदना की वाहक होती हैं, मानवसभ्यता को समृद्ध करने में उनका ऐतिहासिक योगदान रहा है, हमेशा रहेगा। समाज में चल रहे वैचारिक संघर्षों की तसवीर भी इन्हीं में दिखायी देती है। इसीलिए पुस्तक चर्चा की अहमियत हमेशा रहेगी।

मराठी के मशहूर जनकवि अन्नाभाऊ साठे का यह जन्मशती वर्ष है। इस अंक में हम उन्हें स्मरण करते हुए उन पर एक लेख छाप रहे हैं और यह अंक उन्हीं की स्मृति का समर्पित कर रहे हैं।

इस अवधि में हमारे बीच कई साहित्यकार, कलाकार, लेखक नही रहे। *नया पथ* की ओर से कपिला वात्स्यायन, राहत इंदौरी, पंडित जसराज, इब्राहिम अल्काज़ी, मुकुंद लाठ समेत उन सभी को भावीभीनी श्रद्धांजलि।

मुरली मनोहर प्रसाद सिंह
चंचल चौहान

जन्मशताब्दी स्मरण

जनकवि अन्ना भाऊ साठे

सुबोध मोरे

साहित्यकार और जनकवि कॉमरेड अन्नाभाऊ साठे की दुनिया बदलने की अपील करनेवाला एक जनगीत लगभग सात-आठ दशकों से मज़दूर वर्ग के आंदोलन में शामिल है। यह उनका जन्म शताब्दी वर्ष है। सौ साल पहले 1 अगस्त, 1920 को कॉमरेड अन्नाभाऊ का जन्म, पिछड़ी समझी जाने वाली मातंग जाति में हुआ था। अन्नाभाऊ को साहित्यरत्न, लोकशाहीर (जनकवि) के नाम से सारी दुनिया जानती है। लेकिन यह महान कलाकार, साहित्यकार, जनकवि मज़दूर आंदोलन के माध्यम से कैसे उभरा, उनके क्रांतिकारी गीत, साहित्य की वैचारिक नींव जिस मज़दूर कम्युनिस्ट आंदोलन ने डाली, उसका सच्चा इतिहास और मज़दूर नेता, जनकवि और साहित्यकार के रूप में उनके सक्रिय जीवन को इस जन्म शताब्दी के अवसर पर जानना महत्वपूर्ण है।

कॉमरेड अन्नाभाऊ 1930 के दशक में तत्कालीन सतारा ज़िले में अपने मूल जन्मस्थान वाटेगांव को छोड़ कर मां-बाप के साथ बचपन में ही मुंबई आ गये थे। यहां आने के बाद सर पर बोझा ढोने, फेरीवाले का काम करने से लेकर कपड़ा मिल में हेल्पर के रूप में काम किया। लाल बावटा मिल वर्कर्स यूनियन के नेतृत्व में मुंबई में 1934 की ऐतिहासिक हड़ताल हुई थी। अन्नाभाऊ ने उस आंदोलन में एक मज़दूर के रूप में सक्रिय भागीदारी की थी। हड़ताल के दौरान शिवड़ी क्षेत्र में कार्यकर्ताओं और पुलिस के बीच झड़प हुई, उसके भी वे साक्षी रहे। यह हड़ताल मिल मज़दूरों के संघर्ष में मारे गये शहीदों तथा दलित समुदाय के परशुराम जाधव की याद में 23 अप्रैल, 1934 को शुरू हुई थी। सभी मिलों के गेट पर परशुराम जाधव के पोस्टर लगाये गये थे। इसी से अन्नाभाऊ श्रमिक आंदोलन की तरफ़ आकर्षित हुए। लेकिन कम्युनिस्ट आंदोलन के साथ उनका सीधा संबंध तब हुआ जब वे 1935-36 में मुंबई के धारावी के पास 'माटुंगा लेबर कैंप' के पास एक गंदी झुग्गी में रहने चले गये। उस समय बड़ी संख्या में दिहाड़ी निर्माण श्रमिक, महानगरपालिका, रेलवे, गोदी आदि में काम करने वाले कर्मचारी वहां झोपड़ियों में रहते थे। इन श्रमिकों को एकजुट करने और उनका संगठन बनाने का काम तत्कालीन कम्युनिस्ट नेता और डॉ. भीमराव बाबासाहेब आंबेडकर के ऐतिहासिक 'महाड सत्याग्रह' के प्रमुख सहयोगी कॉमरेड आर. बी. मोरे कर रहे थे। उनके साथ कॉमरेड के. एम. सालवी थे, जो आंबेडकर के नेतृत्व मे हुए 'कालाराम मंदिर सत्याग्रह' में अग्रणी कार्यकर्ताओं में से एक थे।

समाजवादी विचारधारा के रूबरू

अन्नाभाऊ उन नेताओं और कार्यकर्ताओं के संपर्क में आने वाले पहले व्यक्ति थे, जो इस तरह के सामाजिक आंदोलन के माध्यम से आत्म-जागरूक हुए थे। उनसे, अन्नाभाऊ को सामाजिक असमानता और अन्याय के ख़िलाफ़ संघर्ष के बारे में पता चला। इसी तरह उन्हें दुनिया भर के कामकाजी लोगों के शोषण और उत्पीड़न तथा उनके विरुद्ध संघर्षों की जानकारी मिली। रूसी क्रांति और वहां के श्रमिकों के समाजवादी राज्य की स्थिति के बारे में

भी पता चला। उस समय, कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा मज़दूर आंदोलन में श्रमिकों की वैचारिक जागरूकता बढ़ाने के लिए कॉ. आर. बी. मोरे, कॉ. बी. टी. रणदिवे, कॉ. एस. वी. देशपांडे आदि नेता मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचारधारा पर श्रमिकों का एक स्टडी सर्कल चलाते थे। इस अध्ययन मंडल से कामगारों का पहला कैडर निकला। जिसमें कॉ. सालवी, कॉ. शंकर नारायण पगारे, कॉ. किसन खवले, कॉ. सरतापे आदि थे। बाद में, उनके साथ, कॉमरेड अन्नाभाऊ ने भी भाग लेना शुरू कर दिया।

इसी लेबर कैंप में कार्यकर्ताओं के साथ मिलकर अन्नाभाऊ को अक्षरों का ज्ञान हुआ। वहीं पर उन्होंने मराठी भाषा में शाब्दिक रूप से क, ख, ग सीखा। (क्योंकि अस्पृश्यता के कारण उन्हें बचपन में ही स्कूल छोड़ना पड़ा था) वर्णमाला की पहचान के बाद, उन्होंने शुरू में दुकानों के नामफलक, फ़िल्म के पोस्टर पढ़ना शुरू किया। बाद में, वे लेनिन के जीवन चरित, रूसी क्रांति के प्रसिद्ध लेखक मैक्सिम गोर्की का उपन्यास, *मां*, रूसी क्रांति का इतिहास, श्रमिक साहित्य मंडल द्वारा मराठी मे प्रकाशित मार्क्स-एंगेल्स का *कम्युनिस्ट घोषणापत्र*, श्रमिक आंदोलन से निकलने वाली *मुंबई कामगार* साप्ताहिक पत्रिका आदि पढ़ना शुरू किया। इसी तरह वे कार्यकर्ताओं से देश-विदेश की मौजूदा परिस्थितियों को समझने लगे। इससे अन्नाभाऊ की राजनीतिक, सामाजिक तथा वैचारिक समझ बढ़ने लगी।

दलित युवक संघ की स्थापना

इसी दरमियान कॉ. आर. बी. मोरे के मार्गदर्शन में, कॉमरेड सालवी के सहयोग से अन्नाभाऊ ने माटुंगा लेबर कैंप में 'दलित युवक संघ' नामक एक युवा संगठन की स्थापना की और बेरोज़गार युवाओं को संगठित करने और उन्हें राजनीतिक और सामाजिक आंदोलन में शामिल करने की कोशिश की। इस तरह अन्नाभाऊ ने कम्युनिस्ट पार्टी, मज़दूर आंदोलन में सक्रिय भाग लेना शुरू कर दिया।

1936-37 की इसी अवधि के दौरान, अन्नाभाऊ कम्युनिस्ट पार्टी के एक आधिकारिक सदस्य बन गये और पार्टी के सक्रिय सदस्य के रूप में काम करना शुरू किया। पार्टी कार्यकर्ताओं के अनुरोध पर, उन्होंने तत्कालीन लेबर कैंप में मच्छरों के बारे में पहला गीत लिखा। उस समय, श्रमिक शिविरों में रहने वाले कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यकर्ता, कॉ. शंकर नारायण पगारे को पहले से 'अंबेडकरी जलसे' का अनुभव था। उनकी पहल से, अन्नाभाऊ ने श्रम शिविर में कम्युनिस्टों के प्रभाव में 'दलित युवक संघ' की पहली कला मंडली का गठन किया। इस तरह अन्नाभाऊ मज़दूर, कास्तकारों के आंदोलन पर गीत लिखने लगे। उसी समय, कम्युनिस्टों की पहल पर मुंबई में श्रमिकों के जो आंदोलन और लड़ाइयां शुरू हुई थीं, जैसे कपड़ा मिलों के गेट पर तथा मज़दूरों की सभाओं में अन्नाभाऊ और उनके सहयोगियों ने वहां गीत गाने शुरू किये।

प्रगतिशील लेखक संघ के सदस्य

इसी समय, 1936 में राष्ट्रीय स्तर पर, कम्युनिस्टों की पहल पर प्रगतिशील विचारकों की एक संस्था 'प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन' का गठन हुआ था। ये लेखक रूस में समाजवादी क्रांति से प्रभावित थे। जिनमें प्रेमचंद, सज्जाद ज़हीर, फ़ैज अहमद फ़ैज़, कृष्णचंदर, इस्मत चुग़ताई, ख़्वाजा अहमद अब्बास, मंटो, मख़दूम मोहिउद्दीन, राजेंद्र सिंह बेदी, राहुल सांकृत्यायन, मुल्कराज आनंद, कैफ़ी आज़मी, अली सरदार जाफ़री, मज़रूह सुल्तानपुरी आदि कई लोग शामिल थे। इनमें से कुछ लोगों का साहित्य, साथ ही गोर्की, चेख़व, तुर्गनेव, टॉलस्टॉय, मायकोव्स्की आदि मराठी में प्रकाशित हो रहे थे, उसे अन्नाभाऊ भी पढ़ते थे। उस साहित्य का वैचारिक प्रभाव अन्नाभाऊ पर भी पड़ने लगा। उसी से उनको कहानी, नाटक, उपन्यास लिखने की प्रेरणा मिली। कम्युनिस्ट आंदोलन एक अंतरराष्ट्रीय

आंदोलन था। उसे अंतरराष्ट्रीय राजनीति का परिचय भी था। दुनिया में जिस जिस देश मे साम्राज्यवाद, पूंजीवाद, फ़ासीवाद और मेहनतकश जनता के शोषण के ख़िलाफ़ मुक्ति संघर्ष चल रहा था, उसका प्रभाव यहां के आंदोलनों में दिखायी देने लगा था। साम्राज्यवाद, पूंजीवाद और फ़ासीवाद का प्रतिरोध समय समय पर कम्युनिस्टों द्वारा किया जा रहा था।

इन सबका असर अन्नाभाऊ की विचारधारा पर दिखायी देने लगा था और उनमें एक विश्वदृष्टि विकसित होने लगी थी। 1936 में स्पेन में फ़ासीवाद उभरना शुरू हुआ और इसके ख़िलाफ़ संघर्ष शुरू हुआ। उसकी रिपोर्ट कम्युनिस्ट पत्रिकाओं मे छपने लगी, उन्हें अन्नाभाऊ नियमित रूप से पढ़ते थे। इसे पढ़ने और कामरेडों के साथ चर्चा करने के बाद 1939 में, उन्होंने स्पेन के फ़ासीवाद के ख़िलाफ़ पहला 'स्पैनिश पोवाडा' (यानी लोकगीत का एक रूप जिसे गायन की लोकशैली में प्रस्तुत किया जाता है), लिखा, जिसे लेकर मुंबई के मिल वर्कर्स यूनियन की ओर से मज़दूरों के बीच कई कार्यक्रम आयोजित किये गये थे। लोगों ने पहली बार अन्नाभाऊ को कवि के रूप में पहचाना और सराहा।

सांस्कृतिक जागरण

दूसरे विश्व युद्ध के दौरान, फ़ासीवादी हिटलर ने सोवियत रूस पर आक्रमण किया। लाल सेना ने हिटलर के फ़ासीवाद के ख़िलाफ़ ज़ोरदार संघर्ष किया। इस सबका बख़ान करने वाला एक पोवाडा अन्नाभाऊ नें 1942 में लिखा जिसे काफ़ी लोकप्रियता मिली। मुंबई में मज़दूर आंदोलनों में इसका ज़ोरदार स्वागत हुआ और अन्नाभाऊ की लोकप्रियता भी बहुत बढ़ गयी। कम्युनिस्ट पार्टियों के आयोजनों में भी 'स्टालिनग्राद का पोवाडा' के विशेष कार्यक्रम हुए, जिसे कम्युनिस्ट पार्टी के तत्कालीन नेताओं ने देखा था और अन्नाभाऊ की प्रशंसा भी की थी। केवल इतना ही नहीं, बल्कि पार्टी ने *स्टालिनग्राद का पोवाडा* नामक एक पुस्तिका भी प्रकाशित की, जिसे लोगों में वितरित किया गया।

1938 से 1943-44 तक, जनकवि अन्नाभाऊ और उनके साथियों ने मुंबई के गिरणगांव में चल रहे हड़तालों, आंदोलनों, संघर्षों के समर्थन में कला मंडली द्वारा विभिन्न कार्यक्रमों का आयोजन करके कार्यकर्ताओं में जागरूकता पैदा करने का बड़ा काम किया। इस कला मंडली के माध्यम से होने वाले सांस्कृतिक जागरण का फ़ायदा कम्युनिस्ट आंदोलन को पहुंचाने के लिए पार्टी ने सांस्कृतिक मोर्चे पर विशेष ध्यान देने का निर्णय लिया।

संयुक्त कला मंडली स्थापित

इस बीच, 1943 में मुंबई में कम्युनिस्ट पार्टी का पहला सम्मेलन आयोजित किया गया था, जिसमें कॉमरेड पी. सी. जोशी को अखिल भारतीय महासचिव चुना गया। उनके लेखकों और कलाकारों के साथ घनिष्ठ संबंध थे। चूंकि कम्युनिस्ट पार्टी का केंद्रीय मुख्यालय मुंबई में था, इसलिए महाराष्ट्र के प्रमुख कवि कलाकारों को एक साथ लाने के लिए मुंबई में एक संयुक्त कला मंडली स्थापित करने का निर्णय लिया गया। इसके लिए पार्टी नें बार्शी-सोलापूर से कवि कॉ. अमर शेख़ और कोल्हापूर से कॉ. दत्तात्रय गव्हाणकर को मुंबई बुलाया था। 1944 में, माटुंगा लेबर कैंप में इन तीन प्रमुख कवियों और अन्य कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं और कलाकारों की भागीदारी के साथ 'लाल बावटा कला पथक' नामक एक ऐतिहासिक कला मंडली का गठन किया गया था जिसके प्रमुख कॉ. अन्नाभाऊ साठे, कॉ. अमर शेख़ और कॉ. दत्ता गव्हाणकर थे। प्रबंधक के रूप में वा. वि. भट थे।

अन्नाभाऊ के जाति-वर्ग चेतना के गीत, पोवाडे, लावणियां, लोक नाटकों के साथ कॉ. अमर शेख़ के गीत और उनकी पहाड़ी आवाज़, साथ में कॉ. दत्ता गव्हाणकर के गीत, लोक नाटक और उनकी लोकप्रिय सरस संगीत

के साथ और निर्देशन में तमाम कलाकार एक साथ आने की वजह से लाल बावटा कलापथक मुंबई में मज़दूरों के बीच बहुत लोकप्रिय हो गया।

दर्द को बयां करते गीत

इस बीच, कम्युनिस्ट पार्टी ने जनवरी 1945 में मुंबई के क़रीब ठाणे ज़िले के टिटवाला में महाराष्ट्र किसान सभा का पहला स्थापना सम्मेलन आयोजित करने का फ़ैसला लिया, जिसे कॉमरेड शामराव परुलेकर, कॉ. गोदावरी परुलेकर और कॉ. बुवा नवले का नेतृत्व मिला। मुंबई और आसपास के ठाणे तथा कोलाबा ज़िलों में इस ऐतिहासिक सम्मेलन के बारे में जागरूकता फैलाने में 'लाल बावटा कलापथक' का बड़ा योगदान था। सम्मेलन के लिए कॉ. अमर शेख़ द्वारा लिखा गया एक ख़ास गीत 'किसान सभा शेतकऱ्याची माऊली' (किसान सभा कृषकों की माता), दलित लेखक नारायण सुर्वे का लिखा 'डोंगरी शेत माझ गाव, मी बेनू किती...' (मेरी खेती पहाड़ी है, उसे कितना जोतूं...), ग्रामीण किसान महिला के दुःख, कठिनाई और दर्द को बयां करते ये गीत काफ़ी चर्चा में आये। इस सम्मेलन में ही कॉ. अन्नाभाऊ, कॉ. अमर शेख़ और कॉ. गव्हाणकर इन तीन प्रमुख जनकवियों को महाराष्ट्र से आये तमाम किसान, मज़दूर, कास्तकार, कार्यकर्ता, प्रतिनिधि, आदिवासी और श्रमिकों ने जाना। इन तीन प्रमुख जनकवियों के गीतों और लोक नाटकों को लोगों ने काफ़ी सराहा। इस सम्मेलन में अन्नाभाऊ ने किसानों की समस्याओं और शिकायतों को व्यक्त करने के लिए 'अकलेची गोष्ट' नामक एक विशेष लोक नाटक लिखा था जिसे बाद में पूरे महाराष्ट्र में खेला गया और वह बहुत लोकप्रिय भी हुआ। 1943 से 1946 तक बंगाल में भीषण सूखा पड़ा। लोग भूख से मर रहे थे। इस दुखद घटना के बारे में बताने के लिए और लोगों को अपनी नाराज़गी व्यक्त करने और लोगों की मानवीयता का आह्वान करने के लिए अन्नाभाऊ ने 1944 में 'बंगालची हाक' (बंगाल की पुकार) नामक पोवाडा लिखा था।

नाटकों में आम लोगों की जगह

कॉ. अन्नाभाऊ, कॉ. अमर शेख़ और कॉ. गव्हाणकर अपने साथियों के साथ लाल बावटा कलापथक को लेकर बंगाल गये। वहां उन्होंने उस पोवाडे और गीतों के कई कार्यक्रम करके लाखों रुपये इकट्ठा किये। यह पोवाड़ा इतना लोकप्रिय हो गया कि बंगाल में 'इप्टा' के कलाकारों ने इसका बांग्ला में अनुवाद किया और इसके कई कार्यक्रम किये और बाद में यह पूरे देश में लोकप्रिय हो गया। इस पोवाड़ा का बांग्ला में एल पी रिकॉर्ड भी आया। इतना ही नहीं, 'इप्टा' के कलाकारों द्वारा उसे लंदन के प्रसिद्ध रॉयल थिएटर में 'बैले' डांस नाटक के रूप में भी प्रस्तुत किया गया।

कॉमरेड अन्नाभाऊ की ख़ासियत यह थी कि मुंबई का मज़दूर आंदोलन हो या चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के नेता कॉ. माओ के नेतृत्व में हुई सामाजिक क्रांति, इन सबसे उन्होंने अपने आपको जोड़ रखा था। जैसे 1946 में मुंबई में नाविकों का ऐतिहासिक विद्रोह, किसान आंदोलन, तेलंगाना के किसानों, निज़ामशाही और ज़मींदारों के ख़िलाफ़ सशस्त्र संघर्ष, विभाजन को लेकर पंजाब और दिल्ली में हुए दंगों, अमलनेर में पुलिस की गोलीबारी में शहीद होने वाले किसानों का सवाल, हर एक अत्याचार को अन्नाभाऊ ने अपने गीतों, पोवाडे और जन नाटकों में लिखा है।

1946 में अन्नाभाऊ अपनी कला मंडली के साथ अमलनेर गये और सरकार की अंधाधुंध गोलीबारी का विरोध किया। 'मुंबईचा गिरणी कामगार' (मुंबई के मिल वर्कर्स), 'माझी मुंबई' (मेरी मुंबई), 'बोनसचा ढा' (बोनस के लिए संघर्ष), 'लवादाचा ऐका परकार', शेटजीचे इलेक्शन (सेठ का चुनाव), 'बेकायदेशीर' (ग़ैरकानूनी) इत्यादि

नाटकों में हाशिये पर धकेले गये समाज का चित्रण किया। वे अपने गीतों, पोवाडे, लोक नाटकों से मालिक-श्रमिक संबंध, पूंजीवादी लोकतंत्र, मज़दूर और किसानों के शोषण, धोखाधड़ी आदि पर प्रहार करते। अपने बहुचर्चित 'मुंबई लावणी' में, उन्होंने पूंजीपति, अमीर और ग़रीब के जीवन में अत्यधिक असमानता को दर्शाया है।

जग बदल घालूनी घाव, (दुनिया बदल दे..) सांगून गेले मला भीमराव, (कह चले भीमराव) गीत में अन्नाभाऊ कहते हैं, 'पूंजीपतियों ने हमेशा लूटा है, धर्मांधों ने छला है', गीत में जाति और वर्ग के शोषण के ख़िलाफ़ डॉ. बाबासाहब आंबेडकर के नाम पर, वे दलितों को चोट करने के लिए कहते हैं। कॉ. अन्नाभाऊ की कहानियां, उपन्यास के नायक और नायिकाएं भी विद्रोही और संघर्षशील हैं। उन्होंने दलितों, शोषितों, श्रमिक और उपेक्षित लोगों के नायकों को अपने साहित्य में सम्मानीय स्थान देने का बड़ा मौलिक काम किया है। उनके उपन्यास 'फ़कीरा' का नायक ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के ख़िलाफ़ विद्रोह करता है। उन्होंने इस प्रसिद्ध उपन्यास को डॉ.बाबासाहेब आंबेडकर के उग्र लेखन के लिए समर्पित किया था। उपन्यास ने सर्वश्रेष्ठ साहित्य के लिए कई सरकारी पुरस्कार भी जीते। इसके अलावा, इप्टा की मदद से, उस समय मराठी फ़िल्म उद्योग के प्रसिद्ध अभिनेताओं के साथ 'फ़कीरा' नामक फ़िल्म बनायी गयी थी।

जनकवि कॉ. गव्हाणकर ने फ़िल्म फ़ाइनेंस कॉरपोरेशन से वित्तीय कर्ज़ लेकर इसका निर्माण किया था। अन्नाभाऊ और जाने-माने पटकथा लेखक ख़्वाजा अहमद अब्बास ने इसकी पटकथा लिखी थी और उसे कुमार चंद्रशेखर द्वारा निर्देशित किया गया था। इसके अलावा उनके कुछ उपन्यासों पर भी प्रदेश में फ़िल्में बनी हैं। उनका उपन्यास, *चित्रा* मुंबई के नाविकों के विद्रोह की पृष्ठभूमि पर लिखा गया है और नायिका भी एक विद्रोही है। अन्नाभाऊ के सोवियत रूस जाने से पहले यानी 1961 में इसका रूसी में अनुवाद छपा था।

अन्नाभाऊ साठे न केवल एक साहित्यिक व्यक्ति थे, बल्कि एक कम्युनिस्ट कार्यकर्ता भी थे, जिन्हें अक्सर ब्रिटिश और कांग्रेस अधिकारियों के क्रोध और दमन का सामना करना पड़ता था। कभी-कभी, उन्हें भूमिगत रहना पड़ता था और जेल में डाल दिया जाता था। उनके कई लोक नाटकों पर भी सरकार द्वारा प्रतिबंध लगा दिया गया था। अन्नाभाऊ एक कर्तव्यनिष्ठ पत्रकार भी थे। वे दलित-शोषितों और मेहनतकशों की दुर्दशा को पढ़ने के लिए कम्युनिस्ट पार्टी की, *मशाल*, *लोकयुद्ध*, *युगांतर* और अन्य साप्ताहिक पत्रिकाओं के लिए नियमित रूप से लिखते थे। वे पुस्तक और फ़िल्म समीक्षा भी लिखते थे। 1943 में मुंबई में स्थापित 'इंडियन पीपुल्स थिएटर असोसिएशन' (इप्टा) की स्थापना में भी सहायक थे। 1949 में वे इप्टा के राष्ट्रीय अध्यक्ष भी रहे।

कॉमरेड अन्नाभाऊ ने मराठी में दलित और विद्रोही साहित्य की वैचारिक नींव रखी है। आधुनिक मार्क्सवादी विचारक एंटोनियो ग्राम्शी की, जो परिभाषा थी 'जैविक बुद्धिजिवी' वह अन्नाभाऊ पर भी लागू होती है। मराठी के प्रसिद्ध विद्रोही साहित्यकार बाबुराव बागुल उन्हें महाराष्ट्र का मैक्सिम गोर्की कहते थे।

संयुक्त महाराष्ट्र आंदोलन और इसके निर्माण में, अन्नाभाऊ के लाल बावटा कलापथक और उनके सहयोगी कॉ. अमर शेख़ तथा कॉ. गव्हाणकर ने भी अपना बहुमूल्य योगदान दिया। लेकिन जिन जनवादी साहित्यकारों ने अपने लेखन और गीतों के माध्यम से देश और दुनिया में पीड़ितों, मज़दूरों, काश्तकारों, दलित-शोषितों के शोषण के ख़िलाफ़ आवाज़ उठायी, उन्हें तथाकथित साहित्यिक तथा संस्कृति के ठेकेदार, तत्कालीन और वर्तमान अधिकारियों ने नज़रअंदाज़ किया।

उपेक्षा की वजह

महाराष्ट्र में, पी. एल. देशपांडे, कुसुमाग्रज, (साहित्यकार) यशवंतराव चव्हाण के नाम पर अकादमियां और सरकारी संस्थाएं स्थापित की जाती हैं, अख़बारों में स्मरण दिन मनाया जाता है, विशेष अंक निकालते हैं, चैनलों पर

चर्चा की जाती है। लेकिन जिनकी वजह से संयुक्त महाराष्ट्र अस्तित्व में आया उन कॉ. अमर शेख़, कॉ. अन्नाभाऊ साठे का जन्म शताब्दी वर्ष आया और चला गया, लेकिन न तो शासक और न ही तथाकथित महान संपादकों ने उन्हें याद किया। इस तरह इन तीनों जन कलाकारों की घोर उपेक्षा की गयी।

कॉ. अन्नाभाऊ, अमर शेख़ और गव्हाणकर के हिस्से में आयी उपेक्षा का मुख्य कारण यह है कि ये सभी लोकशाहीर यानी जनकवि निम्न समझी जाने वाली जातियों, धर्मों और वर्ग से आये थे। दूसरा कारण यह है कि वे उच्च जाति-वर्ग और शासकों के ख़िलाफ़ कम्युनिस्ट के रूप में एक मज़बूत भूमिका निभा रहे थे। यक़ीनन यह सच इनके लिए गले की हड्डी है। यही वजह है कि मुंबई-महाराष्ट्र और देश के मेहनतकश लोग और लोक कलाकारों की ओर से इन तीनों की स्मृति में जन-कलाकारों का संयुक्त स्मारक मुंबई में खड़ा किया जाना चाहिए। इस जन्म शताब्दी वर्ष का अच्छा परिणाम तभी साबित होगा, जब हम अन्नाभाऊ साठे, अमर शेख़ और दत्ता गव्हाणकर के क्रांतिकारी विचारों को दैनिक संघर्ष के माध्यम से अमल में लायें। यही एकमात्र कॉमरेड अन्नाभाऊ साठे को क्रांतिकारी अभिवादन होगा।

मो. 9819996029 / 9322025263

मराठी से हिंदी अनुवाद कलीम अज़ीम, पुणे, महाराष्ट्र

सावित्रीबाई फुले रचना-समग्र और दलित चिंतन

शिवानी चोपड़ा

दलित स्त्री चिंतन के समक्ष साहित्य व समीक्षा में ऐतिहासिक धरोहर बनाने का काम चुनौतीपूर्ण रहा है। सदियों से मूक मान ली जाने वाली जातियों, समुदायों व वर्गों की मौखिक व लिखित रचनाओं का न मिलना संयोग नहीं है। हाशिये पर रहने के कारण वे अपनी पहचान को स्थायी महत्त्व देने में संघर्षशील रहे हैं। लेकिन यहां सवाल केवल अस्मिता की पहचान का नहीं, उसे व्यापक वैचारिक आधार बनाते हुए चिंतन व ज्ञान की नयी स्थितियों व संरचनाओं के निर्माण का है। इस संदर्भ में सावित्रीबाई फुले को पहली शिक्षिका मानना प्रतीक मात्र नहीं है, उनकी रचनाओं व लेखन के माध्यम से यह जाना जा सकता है कि वे राष्ट्रीय चेतना के उत्थान के दौर में सभी वर्णों की स्त्रियों के लिए शिक्षा व ज्ञान को आवश्यक मान रहीं थीं। इसलिए दलित चिंतन उनके लेखन को शोषित-दमित वर्ण व समुदाय की स्त्रियों के लिए व्यापक आंदोलन के तहत अवस्थित करता है। सावित्रीबाई फुले जोतिबा फुले की प्रेरणा से दलित स्त्री समाज की स्थिति में बदलाव के लिए शिक्षा को अंधकार से उबारने वाले प्रकाश के रूप में देखती हैं। वे निरंतर प्रयास करती हैं कि दलित समाज अपने अंधविश्वासों व पिछड़ेपन से मुक्त हो, स्वाभिमान के साथ अस्तित्व को निर्मित करे व नये समाज का निर्माण करने में योगदान दे। जातीय भेदभाव के कारण होने वाले उत्पीड़न से मुक्ति के लिए शिक्षा जितनी ज़रूरी है, उतना ही महत्वपूर्ण सवाल शिक्षा के स्वरूप, ज्ञान के चरित्र और भाषा से भी जुड़ा हुआ है।

समाजशास्त्री शर्मिला रेगे आंबेडकर और फुले के लेखन पर विचार करते हुए कहती हैं कि दलित जातियों की मुक्ति के लिए शिक्षा तीसरा रत्न है। दलित चिंतन के अंतर्गत इसे तीसरा रत्न इसलिए कहा जा सकता है क्योंकि चिंतन की परंपरा में पहला रत्न फुले हैं, दूसरे आंबेडकर हैं, जिन्होंने मुक्ति के लिए रास्ते तैयार किये और तीसरा रत्न शिक्षा है जिसके लिए फुले और आंबेडकर दोनों ने जागृति फैलाने का काम किया। शिक्षा के माध्यम से वे मुक्ति का सिद्धांत गढ़ते हैं। इसलिए वे शिक्षा के स्वरूप पर भी बात करती हैं। सत्यशोधक समाज में पढ़ने वाली 14 वर्षीय मांग जाति की लड़की के कथन को उद्धृत करती हैं, जो किसी सभा में ऊंचे स्वर में ललकारते हुए कहती है, 'ओ(अ-) ज्ञानी पंडितो, खोखली बौद्धिकता से भरी अपनी स्वार्थपूर्ण बकबक को बंद करो और मेरी बात ध्यान से सुनो!...' शर्मिला रेगे सावित्रीबाई की इस साधारण शिष्या के शब्दों में निहित तीव्र विरोध व प्रखरता को स्पष्ट करते हुए आगे कहती हैं कि ये आग से भरे हुए दहकते हुए शब्द हैं, इन शब्दों के माध्यम से संस्कृति, सत्ता और ज्ञान के जटिल 'अंत:संबंधों को समझा जा सकता है, जिसमें स्त्रियों व दलितों को शिक्षा से वंचित रखने वाली प्रक्रिया सामने आती है। वे स्पष्ट करती हैं कि सत्यशोधक समाज के माध्यम से ऐसे विचलित कर देने वाले कई उदाहरण सामने आते हैं जिनमें (पूर्व-) अछूत जातियों व स्त्रियों की अवहेलना, तिरस्कार और बाधा उत्पन्न करने वाली परंपरागत संरचनाओं का विरोध किया गया है, जो शिक्षा व ज्ञान के माध्यम से समाज में सत्ता व वर्चस्व निर्मित करती हैं।[1] इस तरह के उदाहरणों का नोटिस रेगे जैसे समाजशास्त्रियों द्वारा ही अकादमिक चिंतन में किया गया। हिंदी साहित्य समीक्षा में सावित्रीबाई फुले जैसे चिंतकों का लेखन कुछ वर्ष पूर्व ही मूल से अनूदित रूप में सर्वसुलभ हुआ

है। सावित्रीबाई की मूल मराठी रचनाओं के अध्ययन पर दलित समीक्षक बजरंग बिहारी सावित्रीबाई की कविताओं का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं कि सावित्रीबाई की चिंताएं तात्कालिक से ज़्यादा दूरगामी स्वरूपवाली हैं, वे वास्तविकताओं से ही कविता रचना चाहती हैं, इसलिए उनकी कविताएं उन कल्पनामयी व भावुक कविताओं से अलग हैं जिनमें स्त्री स्वप्नलोक की परी की तरह आती है। उनके लिए यह एक गंभीर व चिंताजनक प्रश्न है कि सावित्रीबाई को किस तरह से पढ़ा जाये, क्योंकि वे सावित्रीबाई के लेखन को अस्मितावादी या विमर्शवादी एजेंडे तक सीमित कर देने से जो ऐतिहासिक-साहित्यिक क्षति होती है, उससे लेखन को बचाना चाहते हैं। इसलिए वे सावित्रीबाई को एक कवयित्री की तरह विश्लेषित करते हैं, उनकी कविता में आये छंदों से लेकर काव्यरूप व विषयवस्तु के चयन के सामाजिक आधार पर विस्तृत विश्लेषण करते हैं। वे उनकी कविताओं के माध्यम से 'द्रष्टा कवि' की अवधारणा को सामने रखते हैं, जिसके लिए कुछ पूर्ववर्ती शर्तें थीं, इसे वे संत परंपरा की 'ज्ञान' की अवधारणा से भी जोड़ते हैं, जिससे शास्त्र के समकक्ष साधारणजन व लोकपरंपरा में विकसित 'ज्ञान' की परंपरा से जोड़ते हैं।[2] इन कविताओं में शर्तों का संबंध जीवन के सत्य, शिव व सुंदर के महत्व की उचित व्याख्या से है, जो व्यापक मानव समाज व सृष्टि को घृणा, छुआछूत और भेदभाव से मुक्त एक द्रष्टा के रूप में देखने के लिए प्रेरित करती है। विमर्श व दलित चिंतन के विकास के कारण ही फुले दंपति के लेखन, समकक्ष ज्ञान और व्याख्या की ओर अकादमिक जगत उन्मुख हुआ, जिसे मुक्ति की व्यापक अवधारणा से जोड़ने के उपक्रम में रजनी तिलक जैसी रचनाकार व्यापक पाठक वर्ग के लिए उपलब्ध कराती हैं।

रजनी तिलक के संपादन में प्रकाशित किताब, *सावित्रीबाई फुले रचना समग्र* सावित्रीबाई के महत्त्वपूर्ण रचनात्मक व ऐतिहासिक दस्तावेज़ों को एक जगह एकत्रित कर जनसामान्य के लिए उपलब्ध कराती है। ये रचनाएं नयी ऐतिहासिक दृष्टि से विश्लेषण के नये रास्ते खोलती हैं, जिनसे दलित चिंतन को व्यापक सामाजिक संदर्भों में समझने में मदद मिलती है। अपने एक साक्षात्कार में रजनी तिलक इस किताब को संपादित करने व प्रकाशित करने की प्रेरणा का सारा श्रेय सामाजिक व दलित आदोलनों की संघर्षमय भूमि को देती हैं जिनसे वे व्यक्तिगत जीवन संघर्षों के लिए भी विचारधारात्मक शक्ति प्राप्त करती रहीं। रजनी तिलक आंदोलनों के यांत्रिक स्वरूप से बचते हुए इस बात के लिए सावधान करती हैं जो महत्त्वपूर्ण वैचारिक लेखन के सामाजिक उपयोग व वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित करने के स्थान पर इस तरह के जननायकों को पूजनीय देवी-देवता बनाकर अंधभक्ति करना सिखाते हैं। इससे संघर्ष करता जनमानस वैचारिक-मानसिक रूप से सबल होने के स्थान पर पूर्ववत जड़ और पिछड़ा बना रहता है। आज इस बात को रेखांकित किया जाता है कि दलित चिंतन में शिक्षा व ज्ञान अर्जित करने की प्रक्रिया को महत्वपूर्ण रत्न माना जाता है। दलित समाज की स्थिति बदलने के लिए फुले और आंबेडकर का चिंतन भी इसलिए है चूंकि इन चिंतकों ने शिक्षित होने व नये ज्ञान को प्राप्त करने के लिए दलित समाज को जाग्रत किया। फुले मानते थे कि सामाजिक आदोलनों को सफल बनाने के लिए शिक्षा व ज्ञान के नये अवयवों के लिए प्रयासरत रहना पड़ेगा।

सावित्रीबाई का लेखन मूल रूप से मराठी भाषा में उपलब्ध है और जिसे साहित्य व समीक्षा के इतिहास की धरोहर के रूप में दलित चिंतन की आधारभूमि माना जाता है। इसलिए सावित्रीबाई इस चिंतन की आधारशिला रखने वाली जन-नायिका के रूप में पढ़ी जाती हैं। उनका लेखन साहित्य व इतिहास के पृष्ठों में अनदेखा नहीं किया जा सकता बल्कि यह गंभीर समीक्षा व पुनरावलोकन की अपेक्षा रखता है। इन रचनाओं का मूल मराठी भाषा से हिंदी में अनुवाद शेखर पवार द्वारा किया गया और रजनी तिलक द्वारा इसका संपादन सर्वप्रथम सन् 2017 में प्रकाशित हुआ तथा यह भी ध्यान देने वाली बात है कि इसका प्रकाशन 'द मार्जिनलाइज़्ड पब्लिकेशन' द्वारा किया गया। सावित्रीबाई द्वारा इन रचनाओं को कब लिखा गया, इनकी सुनिश्चित जानकारी हिंदी अनुवाद में नहीं मिलती, परंतु कुछ कविताओं के अंत में लेखन वर्ष दिया गया है या सावित्रीबाई द्वारा लिखे कुछ पत्रों व भाषणों में वर्णित घटनाओं के माध्यम से मोटेतौर पर समय का अनुमान लगाया जा सकता है। जैसे आरंभिक कविता 'समर्पण' के

अंत में समय सन् 1854 दिया गया है। इस कविता में वे लिखती हैं कि सबकी कृपा व अगाध स्नेह के कारण ही वे लिख रहीं हैं, इसलिए यह 'काव्यमाला' वे अपने समुदाय के पाठकों व उनके स्नेह को समर्पित करती हैं। वे इसे इतिहास में दर्ज करने वाले दस्तावेज़ की तरह नहीं लिखतीं, बल्कि जनसामान्य के लिए आसानी से पढ़ी-सुनी जाने वाली रचनाओं की श्रेणी में रखती हैं। वर्तमान साहित्य-समीक्षा पद्धति केवल इतिहास के दस्तावेज़ बनाकर काव्यकृतियों के साहित्यिक–रचनात्मक स्वरूप का कहीं न कहीं अवमूल्यन करती रही है। सावित्री की कविताएं भी लोक परंपरा का हिस्सा हैं। उनकी कविताओं के बारे में एक जगह बताया गया है कि जोतिबा को समर्पित कविताएं *बावनकशी* संग्रह में '52 बहरों' की लंबी कविता के रूप में शामिल हैं, इन रचनाओं में उन्होंने जोतिबा के प्रति प्रेम, सम्मान प्रकट करते हुए अपनी भावात्मक अभिव्यक्ति की है तथा इसके साथ ही उनके व्यक्तित्व व विचारों का विस्तृत वर्णन भी किया है। इनमें जोतिबा के संपूर्ण जीवन के संघर्षों को शब्दबद्ध किया गया है। इस प्रकार इन रचनाओं व कविताओं में अभिव्यक्त जातीय उत्पीड़न के संदर्भ दलित साहित्य के विकास के लिए सैद्धांतिकी प्रदान करते हैं। दलित समीक्षक बजरंग बिहारी के एक आलेख में इसके बारे में विस्तृत जानकारी मिलती है। सावित्रीबाई फुले(1831-97) के दो काव्य-संग्रह— एक, *काव्य फुले*(1854) तथा दूसरा, *सुबोध रत्नाकर*(1891) मराठी भाषा में प्रकाशित हुए। एक संग्रह में जीवनसाथी फुले के प्रति प्रेमपूर्वक कृतज्ञता ज़ाहिर की गयी है व दूसरे में उनकी प्रामाणिक जीवनी दी गयी है।[3]

रजनी तिलक द्वारा संपादित *सावित्रीबाई फुले रचना समग्र* किताब को तीन भागों में विभाजित किया गया है। पहले भाग में सावित्रीबाई फुले रचित 'कविताएं' हैं, जिन्हें दलित संदर्भों से जुड़ी कविताएं कहना चाहिए। दूसरे भाग को 'काव्य-फुले' शीर्षक दिया गया है। इन कविताओं के नीचे इनका मूल प्रकाशन वर्ष सन् 1854 दिया हुआ है। इसी में जोतिबा को लिखे कुछ पत्रों का भी उन्होंने संकलन किया है जिनमें दलित समाज के साथ होने वाले अन्यायपूर्ण व्यवहार व घटनाओं का उल्लेख है। विशेषकर दलित स्त्रियों के साथ समाज का संकीर्ण व्यवहार व दलित समाज की अनभिज्ञता सामने आती है। सावित्रीबाई दलित स्त्री के साथ होने वाले अन्याय के लिए दलित समाज की सीमाओं का भी विवेचन करती हैं और उनके समक्ष इसका एकमात्र उपाय 'नयी व आधुनिक शिक्षा' है, जिसके पुरोधा अंग्रेज़ हैं। इस ज्ञान को वे ब्राह्मणवाद का सामना करने का हथियार मानती हैं। किताब का तीसरा और अंतिम भाग सावित्रीबाई के भाषणों का संकलन है, जिनमें वे दलित समाज को शिक्षित करने का दायित्व गंभीरता से विवेचित करती हैं तथा उनके उत्थान के लिए समाज में व्याप्त भिन्न भिन्न व्यसनों को छोड़ने व उनसे दूर रहने के लिए प्रेरित करती हैं। दलित समाज में पुरुषों को आलस्य त्यागने व परिस्थितयों से हारकर हाथ पर हाथ रखकर बैठने के स्थान पर श्रम करने का महत्व समझाती हैं।

सावित्रीबाई का लेखन ऐतिहासिक महत्त्व इसलिए भी रखता है क्योंकि यह ब्रिटिश उपनिवेशवाद के दौर में लिखा गया, जिसे राष्ट्रीय चेतना के उत्थान का काल भी माना जाता है। वे जातीय उत्पीड़न के प्रति सजग स्त्री थीं इसलिए उन्होंने धार्मिक संरचना के भीतर पोषित अंधविश्वास, पाखंड, ढोंग व कर्मकांडों के ख़िलाफ़ लिखा, जिन्हें आधार बनाकर स्त्रियों व अछूत मानी जाने वाली जातियों के प्रति शोषण, भेदभाव व उत्पीड़न किया जाता था। राष्ट्रीय चेतना के इस दौर में जब स्त्रियों की शिक्षा व उद्धार का सवाल सामने आया तब दमित जातियों का उत्थान देश के कई हिस्सों में ज्वलंत प्रश्न बनता जा रहा था। यह स्वीकृत तथ्य है कि उस समय सभी जातियों की स्त्रियां अपने तरीक़े से लड़ रहीं थीं और शिक्षा को स्त्री के सामाजिक उत्थान के लिए सबसे अहम व आवश्यक मान रही थीं। लेकिन शिक्षा व शैक्षिक प्रक्रियाओं के मायने सबके लिए अलग-अलग ढंग से काम कर रहे थे। अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त करने वाला उच्च वर्ण, विशेषकर जो आर्थिक रूप से भी संभ्रांत था, जिसे कुछ इतिहासकारों ने भद्र वर्ग भी कहा है, अपनी मातृभाषाओं के प्रति जितना सचेष्ट था उतना ही अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त करने के लिए जागरूक था। उसके लिए मातृभाषा और मातृभूमि राष्ट्रीय प्रतीक बनाये जा रहे थे—ऐसा राष्ट्रीय आंदोलन, साहित्यिक रचनाओं

और पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों के माध्यम से किया जा रहा था। देश भाषा और भारत भूमि के लिए चिंतित यह वर्ग अपने इतिहास, संस्कृति और जड़ों को औपनिवेशिक ताक़त के विरुद्ध परिभाषित कर रहा था जिसे बांग्ला में बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय के लेखन से लेकर हिंदी में भारतेंदु युग व उसके बाद के युगों में भी देखा जा सकता है। हिंदी नवजागरण के दौर में भाषा, समाज और स्त्री के अंत:संबंधों को समझने के लिए *स्त्री दर्पण* पत्रिका के कुछ अंकों के संपादन को देखा जा सकता है, जिनमें स्त्रियों की सामाजिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए जिन सुधार कार्यों को आवश्यक बताया गया है, वे मुख्यधारा और सवर्ण समाज की सांस्कृतिक समझ का परिचायक हैं। जैसे स्त्री धर्म, पतिव्रता धर्म आदि पर लेख व कई टिप्पणियां हैं, साथ ही विधवा स्त्री, परित्यक्ता तथा नीच जातियों की दुर्दशा पर चिंता भी व्यक्त की गयी है। भारतवासियों को स्त्री शिक्षा के महत्त्व के प्रति जागरुक करते हुए पश्चिम की संस्कृति, अंग्रेज़ी भाषा व शिक्षा से होने वाली हानि के बारे में विस्तार से लिखा गया है।[4] इसमें भारतीयता के जिस फ्रेमवर्क में स्त्री की नयी छवि को निर्मित किया जा रहा था वह भारतीय समाज की विभिन्न संरचनाओं में मौजूद विभेदीकरण की सटीक व्याख्या कर पाने में असमर्थ थी। भारतीय राष्ट्र की वह छवि विक्टोरियन समाज की तरह परंपरागत संस्कारों के निर्वाह को आदर्श बनाकर चल रही थी, जिसकी समीक्षा पूर्व बनाम पश्चिम की रूढ़िगत 'बाइनरी' के फ्रेमवर्क में भी की गयी है।

दलित मत की समीक्षा इस दौर के पूरे लेखन के प्रति भिन्न दृष्टि प्रदान करती है। वर्तमान दलित चिंतन सावित्रीबाई के लेखन को स्पष्टतौर पर जातीय भेदभाव व शोषण के संदर्भों में परिभाषित करता है। वे समाजसुधारक हैं, कवयित्री हैं, जोतिबा से प्रेरित हैं और उनके प्रति आभार व्यक्त करते हुए शिक्षा के महत्व पर काव्य रचती हैं, जिसमें जातीय संदर्भों में शिक्षा के विशिष्ट मायने हैं :

> प्रणाम जोतिबा...
>
> जोतिबा महान
> शूद्र-अतिशूद्र, अंत्यज
> तुम्हारे अनूठे ज्ञान को पाकर अपने को इंसान के रूप में पाते…
> ...
> ज्ञान की रोशनी है, जानकारी की ताक़त है
> सुन उपदेश तुम्हारा
> हम अपना स्वाभिमान जगाते। [5]

इसी तरह *मनुस्मृति* व मनुवाद के विरुद्ध एक कविता में ज्ञान के प्रतिष्ठित मानदंडों को चुनौती देते हुए लिखती हैं :

> मनु कहे--
> ...
> *मनुस्मृति* ब्राह्मणों को देती आदेश/ कहे *मनुस्मृति* खेती न कीजिए/ और उपदेश देती/ खेती करें जो लोग, जो हल चलावे/ वे होते हैं मूढ़ बे-अक्ल
> ...
> जन्म ले जो शूद्र में/ वह पाप है उनके पूर्वजन्मों का/ इस जन्म में चुक्ता करें सब शूद्र/ सावित्री खोले पोल मनु की विषमता की कुटिल रचना/ रीति-रिवाज, परंपराओं पे ठप्पा/ इन अमानवीय कृत्यों का षड्यंत्र/ रचा है धूर्तों की चाल ने।[6]

एक अन्य कविता में खेती को वे सर्वश्रेष्ठ मानती हैं – श्रम के साधन व पेट भरने के लिए, पर इनके साथ शिक्षा व ज्ञान को समय रहते आत्मसात करने पर भी बल देती हैं।[7]

शिक्षा का अभिप्राय दलित समाज के लिए अपनी सामाजिक स्थिति को ठीक तरह से समझना व उसकी व्याख्या करना भी था, इसलिए सावित्रीबाई शूद्र होने का अभिप्राय और जातीय इतिहास, पूर्वज आदि के बारे में भी लिखती हैं। शिक्षा के माध्यम से वे मुक्तिपथ निर्मित करना चाहती थीं, जिसमें स्त्रियों को गुलामी की संस्कृति से मुक्ति मिले, वे घर-संसार, परिवार, कामकाज व श्रम की भी व्याख्या करती हैं जिससे स्त्रियां प्रेरित हो सकें तथा स्त्री के लिए निर्धारित संरचनाओं को नये ढंग से देखें व व्यापक आंदोलन का हिस्सा बनें। 'शूद्र का शब्दार्थ', 'शूद्रों का दर्द', 'परनिर्भर शूद्र' आदि कविताओं में वे अपने विचार निर्भीकता से व्यक्त करती हैं।

शिक्षा के स्वरूप और भाषा के संबंध में सावित्रीबाई व जोतिबा के मत औपनिवेशिकता का विरोध कर रही राष्ट्र व भारतीयता की अवधारणा से अलग थे। वे अंग्रेज़ी-राज की नीति व क़ानून की प्रशंसा, इस अर्थ में करती हैं जिसका लाभ उठा कर दमित वर्ग शिक्षा के माध्यम से अपनी सामाजिक स्थिति को सुधारने का प्रयास करे। ब्राह्मणों-पुरोहितों के द्वारा सिखायी ग़ुलामी की संस्कृति को बढ़ावा देने वाली दक़ियानूसी परंपराओं को छोड़ कर व स्वर्ग-नरक के आतंक से मुक्त होकर जीवनयापन करें। भाग्य के भरोसे बैठने के बजाय व अकर्मण्यता के स्थान पर नयी जागृति व चेतना के साथ कर्मपथ पर अग्रसर होने के लिए भी प्रेरित करती हैं। 'अंग्रेज़ों की सत्ता' नामक कविता में वे स्पष्टतौर पर व्यक्त करती हैं कि पेशवाओं की सत्ता अब समाप्त हुई और अंग्रेज़ों की सत्ता में नये अवसर विधि-क़ानून समझ कर जातीयता के आधार पर दमित-शोषित वर्ग को अपने हितों को पहचानना होगा। वे लिखती हैं :

> ब्राह्मण-पुरोहितों के षड्यंत्र जाल/ अविद्या अज्ञानता के कारण शूद्रजनों का/ बहुत किया शोषण-दमन, अन्याय और अत्याचार/अपने ही जाल में फंसकर बेमौत मरी पेशवायी शासन देखो अब अंग्रेज़ों की सत्ता आयी
>
> ...
>
> ब्राह्मण पुरोहित और पेशवाओं के/ शासन का ख़ात्मा हुआ/ *मनुस्मृति* की स्मृतियां खाक हुईं/ शूद्रजनों को सताने वाले बर्बाद हुए/ सयाने अंग्रेज़ों का राज हुआ प्रारंभ
>
> ...
>
> देखो अब अंग्रेज़ों का राज्य है/ शूद्रों को मिलेगी ज्ञान की छांव/ अंग्रेज़ों की सत्ता की छतरी से/ शूद्र अतिशूद्रों को मिलेगी थोड़ी आज़ादी/ शूद्र विरोधी क्रूर शासकों की सत्ता का/ समाप्त हुआ काला अध्याय।[8]

इस कविता के माध्यम से यह भी स्पष्ट होता है कि सावित्रीबाई न केवल जातीयता के आधार शोषण की संरचनाओं को गहराई से पहचानती थी बल्कि शासनतंत्र और सत्ता परिवर्तन की राजनीति की गहरी समझ रखती थीं। इसी तरह 'काव्य–फुले' नामक भाग में उन्होंने एक कविता में पेशवा राजतंत्र के बारे में बताया है तो एक अन्य कविता में अंग्रेज़ी राज को समझाने का प्रयास किया है। सन् 1860 से 1880 के मध्य लिखे जोतिबा फुले के काव्य के साथ सावित्रीबाई द्वारा उन्हें लिखे पत्रों को भी देखा जा सकता है जिनमें इसी तरह के चिंतन व विचारों को दिया गया है तथा उनके द्वारा स्थापित 'सत्यशोधक समाज' के सुधार कार्यों का विवरण मिलता है। इसमें पुरोहितों द्वारा अशिक्षित ग्रामीणों के साथ किये जाने वाले छल छद्म और भ्रमों को फैलाने के साथ साथ पितृसत्ता के सामाजिक दबावों के कारण दलित स्त्री के साथ होने वाले दुर्व्यवहार और सामाजिक प्रतिबंधों के कारण होने वाली हिंसा के उदाहरण मिलते हैं जिसके मूल में वे अशिक्षा व अज्ञान को ही देखती हैं। जब एक दलित स्त्री सामाजिक मर्यादाओं के मानदंडों को तोड़ती है तो उसे दंडित करने व सामाजिक मर्यादाओं के अनुसार न्याय की स्थापना के लिए बिना सोचे समझे गांव व समुदाय के सभी लोग हिंसा पर उतर आते हैं। इसे रोकने के उपाय स्वरूप सावित्रीबाई सबको अंग्रेज़ों के शासन और क़ानून के बारे में बताती हैं और 'क्रूर भीड़ को हत्या करने से रोकती हैं।[9]

प्रस्तुत रचना समग्र की भूमिका में रजनी तिलक वर्तमान नारी आंदोलन की सक्रियता पर प्रश्नचिह्न लगाती हैं और इसकी तुलना में सावित्रीबाई द्वारा किये गये कार्यों का उल्लेख करते हुए लिखती हैं कि उन्होंने सन्1852 में महिला सेवा मंडल स्थापित किया जिसमें अछूत मानी जाने वाली महिलाओं व सवर्ण महिलाओं सभी को एकत्रित कर सभा आयोजित की व तत्पश्चात बदलाव के लिए अभियान कार्यों को आयोजित किया।[10]

सन् 1853 में फुले दंपति ने मिलकर स्त्रियों के लिए पहला शेल्टर होम व प्रसूति गृह खोला जिसे 'बाल-हत्या प्रतिबंधक गृह' नाम दिया गया और बाद में सन्1873 में इसी गृह से उन्होंने विधवा स्त्री के पुत्र को गोद लेकर उसे डाक्टर बनाया। दलित समाज के उद्धार को लेकर उनकी चिंता सक्रिय आंदोलनधर्मिता की प्रेरणा बनी जिसके परिणामस्वरूप विधवा विवाह, अंतर्जातीय विवाह करवाने से लेकर धार्मिक कर्मकांडों व अंधविश्वासों को रोकना, विधवा मुंडन जैसी प्रथाओं को बंद कराने के प्रयास करवाना आदि के बारे में यह रचना-समग्र महत्वपूर्ण जानकारी प्रदान करता है।

इस प्रकार जहां 'सत्यशोधक समाज' सुधार कार्यों व शिक्षा के क्षेत्र में नये ज्ञान, भाषा व संस्कृति के माध्यम से परंपरागत दासता, अपमान व उत्पीड़न से मुक्ति के मार्ग तलाश रहा था, वहीं राष्ट्रीय चेतना का विकास कर रही मुख्यधारा, भारतीयता की मूल परंपरागत संस्कृति, संस्कृत भाषा और धर्म की स्थापना के माध्यम से काम कर रही थी। *स्त्री दर्पण* के संपादित अंकों में सन् 1910 के एक अंक में 'मातृभाषा' नामक लेख छपा, जिसे श्रीमती कैलासरानी बातल, (इलाहबाद) ने लिखा। इस लेख में मातृभाषा संस्कृत को मानकर उसे स्थापित करने व सम्मान देने का आग्रह प्रबलता से किया गया है। वे अपने भाषण में कहती हैं, 'औपनिवेशिक सत्ता के कारण अंग्रेज़ी भाषा और संस्कृति अपनी जड़ें जमाती जा रही है, जिससे आम जनमानस के विचारों में बिखराव व विशृंखलता आ गयी है। स्त्री हो कर अपनी बात कहने का सुअवसर मिला है ...इसकी सराहना व आभार व्यक्त किया गया है और घर से बाहर निकल कर शिक्षा प्राप्त करने पर बल दिया गया है। 'शिक्षा अवश्य होनी चाहिए...अपने देश के लिए, धर्म की और राष्ट्र की दशा सुधार लेंगे।...हमें ऐसी शिक्षा देनी चाहिए कि जिससे देश के बालक सच्चे देश भक्त व राष्ट्र को बनाने वाले बनें। ऐसी विद्या उनको तब तक नहीं मिल सकती जब तक कि संस्कृत की शिक्षा न दी जावेगी और अपनी धार्मिक या मज़हबी पुस्तकें न पढ़ाई जावेंगी। हमारे बालकों का बहुत सा समय व्यर्थ विदेशी भाषा सीखने में जाता है।'[11]

इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं—एक, पितृसत्ता में जकड़ी ये भद्र महिलाएं भी घर से बाहर निकल कर अपने तरीक़े से राष्ट्रीय चेतना के निर्माण में भागीदारी कर रही थीं—जिसमें स्त्री शिक्षा, परिवार और देश की देख रेख और विदेशी शासन का विरोध शामिल थे। दूसरे, विदेशी शासन के विकल्प के रूप में अपनी परंपरा, भाषा और संस्कृति में स्त्री के लिए बराबरी और नेतृत्व की बात अंतर्निहित है, अर्थात कहीं न कहीं ये स्त्रियां अब तक अपनी ही परंपरा, भाषा और संस्कृति से भी वंचित थीं और किसी भी तरह का दख़ल देने से वंचित थीं, जैसा कि इस लेख के आरंभ में लेखिका कहती है कि 'हमें अपने टूटे-फूटे विचार रखने का अवसर मिला है'।[12]

परंतु इन स्त्रियों के लिए राष्ट्रीय चेतना और सुधारवाद का अभिप्राय था—अंग्रेज़ी भाषा और विदेशी संस्कृति का विरोध। जबकि सावित्रीबाई और जोतिबा इसी विदेशी शासन की भाषा, संस्कृति की सत्ता के माध्यम से नयी शिक्षा ग्रहण करने व भारतीय धार्मिक रूढ़ियों से मुक्ति के रास्ते तलाश रहे थे।

जोतिबा को एक पत्र में सावित्रीबाई लिखती हैं कि महार-मांग जैसे अस्पृश्यों के लिए काम करना पापकार्य बता कर उन्हें समाज से बहिष्कृत कर दिया गया है और ब्राह्मण की कही धर्म सम्मत बातों को न मानने के कारण उनहें बचकानी – अतार्किक बातें सुननी पड़ीं। इस सबके बावजूद वे लगातार कोशिश करती रहीं कि इन जातियों का शिक्षा से बौद्धिक विकास हो। वे दलित ही नहीं अन्य जातियों की स्त्रियों को शिक्षा देतीं जो आर्थिक रूप से वंचित थीं। स्वाभिमान से जीने के लिए और अशिक्षा के कारण अपमानजनक विशेषणों से अपनी रक्षा करने के लिए उन्होंने ज्ञान अर्जित करने की महिमा का निरंतर प्रयास किया।[13]

विद्या को सबसे बड़ा दान मानते हुए सावित्रीबाई ने अंग्रेज़ी शिक्षा के कार्यों व पाठशालाओं की स्थापना के बारे में स्त्रियों व दलितों को बताया। जहां सवर्ण अंग्रेज़ी शिक्षा का भरपूर लाभ उठा रहे थे और सत्ता व प्रशासन में भागीदारी कर रहे थे, वहीं दलितों व दलित स्त्रियों के लिए उस समय यह काम चुनौतीपूर्ण था कि वे अपने परंपरागत व्यवसायों— 'कुम्हार, लुहार, बढ़ई, जुलाहा, बुनकर, नाई, धोबी, माली, बसोड़ जाति, केवट मल्लाह, पशुपालन करने वाली सैनी जातियां, कुशवाह, कुर्मी, काछी आदि श्रमजीवी मेहनती जातियां' सरकारी तंत्र का लाभ उठा पातीं। इसके लिए सावित्रीबाई अंग्रेज़ सरकार की आलोचना भी करती हैं कि 'सरकार ने इन श्रमजीवियों की मेहनत का उपयोग नहीं किया'। सरकार के लापरवाह रुख़ की वे निंदा भी करती हैं।[14]

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि *सावित्रीबाई फुले रचना समग्र* के माध्यम से हमें न केवल भातीय समाज की विभिन्न संरचनाओं की ऐतिहासिक-सांस्कृतिक पुर्नव्याख्या करने के लिए ठोस व प्रमाणिक तथ्य मिलते हैं, बल्कि साहित्यिक-रचनात्मक वैचारिक दृष्टि विकसित करने के लिए ज़मीन तैयार होती है। पिछले दो दशकों में हाशिये के लेखन में आत्मनिष्ठता को प्रमुखता दी जाती रही है और कुछ सीमा तक आत्मनिष्ठता आत्मकेंद्रित होती नज़र आयी है। परंतु रजनी तिलक द्वारा किये इन ऐतिहासिक महत्त्व की रचनाओं के संपादन से न केवल सावित्रीबाई व जोतिबा का नि:स्वार्थ जीवन, सुधार कार्य व शिक्षा के क्षेत्र में विशेष रूप से जागरूकता फैलाने के लिए क्रांतिकारी प्रयास सामने आते हैं बल्कि अकादमिक जगत में व विभिन्न अनुशासनों में ज्ञान मीमांसा के स्वरूप की समीक्षा के लिए मदद मिलती है।

मो . 8054229264

संदर्भ व सहायक पुस्तकें

1. 'Education as Tritya Ratna: Towards Phule-Ambedkar Feminist Pedagogical Practices- Sharmila Rege', NCERT Memorial Lecture at SNDT University, 2009
2. सावित्रीबाई फुले की कविताई (लेख)- बजरंग बिहारी तिवारी, *समालोचन* ब्लाग. कॉम, मई, 2019
3. वही
4. *स्त्री दर्पण* : *हिंदी नवजागरण और स्त्री*, संपादन : गरिमा श्रीवास्तव, अनन्य प्रकाशन, 2018, पृष्ठ 59, 66,74,102
5. *सावित्रीबाई फुले रचना-समग्र*, संपादन : रजनी तिलक, मार्जिनलाइज़्ड पब्लिकेशन, नयी दिल्ली, 2017, पृष्ठ 31
6. वही, पृष्ठ 53
7. वही, पृष्ठ 54
8. वही, पृष्ठ 71
9. वही (फुले, पत्र – तीन), पृष्ठ 100
10. वही, पृष्ठ 15-16
11. *स्त्री दर्पण : हिंदी नवजागरण और स्त्री*, लेख : 'मातृभाषा', पृष्ठ 107
12. वही, पृष्ठ 106
13. *सावित्रीबाई फुले रचना-समग्र*, पत्र-4, पृष्ठ 103-105
14. वही (भाषण : विद्या-दान), पृष्ठ 117

अन्य संदर्भ

Against Madness of Manu : B.R Ambedkar's Writing on Brahmanical Patriarchy, Selected and Introduced by Sharmila Rege, Navayana Publication, Print-2013.

ब्राह्मणवाद के विरुद्ध संघर्ष के प्रतीक : पेरियार

विष्णु नागर

तमिलनाडु के द्रविड़ आंदोलन के जनक ई. वी. रामास्वामी पेरियार की इस वर्ष तीन पुस्तकें हिंदी में पेपरबैक संस्करण में प्रकाशित हुई हैं- *सच्ची रामायण, जाति व्यवस्था और पितृसत्ता* तथा *धर्म और विश्वदृष्टि* (राधाकृष्ण पेपरबैक्स) इनमें हिंदीक्षेत्र में विवादास्पद एक पुस्तक रही है, *सच्ची रामायण*। बाक़ी दो पुस्तकें उनके लेखों, व्याख्यानों, संपादकीयों का संकलन है ,जो पुस्तकाकार स्वरूप में पहली बार सामने आया है। दिलचस्प यह है कि इस कड़ी में संभवतः सबसे बाद में *सच्ची रामायण* प्रकाशित हुई, मगर सबसे जल्दी एक महीने बाद ही प्रकाशक को इसका दूसरा संस्करण प्रकाशित करना पड़ा। जुलाई में छपा पहला संस्करण और अगस्त में दूसरा। दिलचस्प यह है कि यह पुस्तक. वाल्मीकि के बहाने दक्षिण भारत पर आर्य-ब्राह्मण वर्चस्व को चुनौती देने के लिए लिखी गयी थी। इसके कारण उत्तर प्रदेश में इस पर 1969 में तत्कालीन प्रदेश सरकार ने प्रतिबंध लगाया था और प्रतियां ज़ब्त की थीं। प्रतिबंध को सुप्रीम कोर्ट में चुनौती दी गयी, तब 1976 में निर्णय लेखक-प्रकाशक के पक्ष में आया था, मगर देश के न्यायालय के आदेश की भी अनदेखी करते हुए अगले 19 साल तक प्रदेश सरकार ने यह प्रतिबंध जारी रखा। 1995 में मायावती की सरकार आने पर यह रोक हटी। अब मूल रूप से 70 पृष्ठों की यह पुस्तक (अन्य आवश्यक सामग्री के साथ 150 पृष्ठों की) पहले से बेहतर और प्रामाणिक अनुवाद में सामने आयी है। उसकी यह लोकप्रियता दर्शाती है कि इस भयानक सांप्रदायिकता के दौर में भी ऐसे तमाम लोग हैं,जो विवादी स्वरों को सुनना चाहते हैं। *वाल्मीकि रामायण* के राम और रामपक्षीय चरित्रों की तीखी आलोचना-भर्त्सना सुनने को तैयार हैं।

जाति व्यवस्था और पितृसत्ता का भी दूसरा संस्करण सात महीने के अंदर ही सामने आ गया। *सच्ची रामायण* पुस्तक वैसे तो पहले भी बामसेफ के माध्यम से लाखों की संख्या में लोगों तक पहुंच चुकी बतायी जाती है, ऐसी जानकारी इन तीनों पुस्तकों के संपादक प्रमोद रंजन ने अपने संपादकीय में दी है। यह काम तब बामसेफ के कार्यकर्ताओं ने किया था और पुस्तक विक्रेताओं को इससे दूर रखा था। इस कारण प्रतियां जलाने को आतुर भाजपा के कार्यकर्ताओं को यह किताब बाज़ार में कहीं नहीं मिली। उन्हें इसके कथित आपत्तिजनक अंशों की फ़ोटोकॉपी जलाकर ही संतोष करना पड़ा। बहरहाल यह पुस्तक किसी धार्मिक हिंदू को कभी नहीं पच सकती क्योंकि यह *वाल्मीकि रामायण* का एक अलग द्रविड़ पाठ प्रस्तुत करती है,जो रावण को नायक और दशरथ, राम, सीता, लक्ष्मण आदि को खलनायकों के रूप में चित्रित करती है। पेरियार तमिल मानस पर छाये *रामायण* के इन चरित्रों को अपदस्थ करके द्रविड़ चरित्रों को सामने लाना चाहते थे। उनके अनुसार रावण द्रविड़ था, इसलिए उसे आर्य वाल्मीकि ने राम के चरित्र के माध्यम से लांछित किया। पेरियार इस मामले में स्पष्ट थे कि उन्हें तमिल स्वाभिमान जगाना है, इसलिए *रामायण* को उन्होंने 'आर्य ' और 'द्रविड़' पात्रों में बांटकर देखा। *वाल्मीकि रामायण* उनके लिए आर्य-ब्राह्मण वर्चस्व का एक बड़ा प्रतीक थी, जिसका एक निहित उद्देश्य उनके अनुसार तमिल स्त्री-पुरुषों को बंदर और राक्षस आदि रूपों में दिखाकर उनका अपमान करना था। वे भूमिका में लिखते हैं कि इसमें जिस लड़ाई का वर्णन है, उसमें उत्तर का एक भी ब्राह्मण और आर्य(देवता) नहीं मारा गया। जो मारे गये वे राक्षस(तमिल) थे। निश्चित रूप से वे जगह जगह *वाल्मीकि रामायण* से ही उद्धरण देकर अपनी बात सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। किसी भी महान महाकाव्य या नाटक या उपन्यास में समय और परिस्थिति के अनुसार विभिन्न चरित्र एक दूसरे के

बारे में समय-समय पर सकारात्मक या नकारात्मक टिप्पणियां करते हैं। हर चरित्र अपने पक्ष को मज़बूती से रखता है। वे कवि या उपन्यासकार का अपना नहीं, पात्रों का पक्ष होता है। यह एक तरह से हमारे जीवन का ही प्रतिबिंब होता है, जिसमें हमारे अपने जीवन में आने-जानेवालों के बारे में एक स्थिर,जड़ मत नहीं होता, बदलता रहता है। इसके विपरीत पेरियार इस पुस्तक में राम या सीता या दूसरे चरित्रों का आपस में एक दूसरे के बारे में एक विशेष परिस्थिति में कथनों का अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग तरह की बातें सिद्ध करने के लिए उपयोग करते हैं और एक निश्चित-निर्धारित लक्ष्य तक पहुंचते हैं। इस प्रक्रिया में वे कई बार उलझ जाते हैं। उदाहरण के लिए, रावण के बारे में ऐसी बहुत सी अंतर्विरोधी बातें वे एकसाथ सामने रखते हैं। एक ओर रावण सज्जन-सच्चरित्र है, जिसने किसी महिला को उसकी अनुमति के बग़ैर छुआ तक नहीं, दूसरी तरफ़ वे यह भी बताते हैं कि वह सीता को उठाकर ले जाने के लिए झोपड़ी तक आया था और उसे गोद में उठाकर ले जा रहा था। क्या बिना छुए किसी स्त्री को इस तरह उठाकर ले जाया जा सकता है, यह कृत्य क्या उसकी इच्छा को प्रकट करता है, क्या उसकी उसी छवि को प्रक्षेपित करता है, जिसे पेरियार हमें दिखाना चाहते हैं? क्या इसमें सीता की सहमति प्रकट होती है? यह अंतर्विरोध राम के बारे में भी दीखता है। एक तरफ़ राम का सीता के चरित्र पर संदेह करना, राम की कमज़ोरी बताया जाता है, दूसरी ओर वे यह भी सिद्ध करते हैं कि सीता चरित्रहीन थी। फिर रावण जब सीता से कहता है कि 'आओ हम मिलकर आनंद उठायें, तो वे सुबकने क्यों लगती हैं? यह सीता की चरित्रहीनता है या उसकी विवशता, अनिच्छा, भय? यहां लगता है कि अपनी बात को सिद्ध करने की उन्हें जल्दी थी। शायद अधिक धैर्य से, अधिक तथ्यात्मकता का सहारा लेकर वे अपने उद्देश्य तक पहुंच सकते थे।

बहरहाल महाकाव्यों, बड़ी रचनाओं की समय के साथ नयी साहित्यिक और समाजशास्त्रीय व्याख्याएं स्वाभाविक रूप से सामने आती हैं। पेरियार की भी यह एक राजनीतिक-सामाजिक व्याख्या है। उनका अपना एक बड़ा राजनीतिक लक्ष्य था,जो उन्होंने अपने जीवनकाल में एक हद तक हासिल किया। उन्होंने तमिलनाडु की राजनीति को सवर्ण वर्चस्व से मुक्त किया। यह काम पिछड़ों को 27 प्रतिशत आरक्षण देने के बाद उत्तरी भारत में भी बड़ी हद तक हो सका। इस अर्थ में उनकी अपनी व्याख्या सफल रही। *रामायण* उनके लिए महाकाव्य नहीं, आर्यों-ब्राह्मणों को उच्चासन पर बैठाये रखने में सक्षम एक ग्रंथ था, जिसने द्रविड़ चरित्रों को लांछित किया। उन्होंने महसूस किया कि 90 प्रतिशत निरक्षर तमिल, दास्य भाव से *रामायण* से जुड़े हैं। इसका कारण वे *रामायण* पर आधारित तमिल *कम्ब रामायण* को मानते थे,जिसने तमिल मानस को बनाने में बड़ी भूमिका अदा की (शायद उसी प्रकार, जिस तरह हिंदीभाषी प्रदेशों में वाल्मीकि की *रामायण* से हज़ार गुना अधिक तुलसीकृत *रामचरितमानस* ने की)। इस कारण वे कम्ब की भी तीखी आलोचना करते हैं, मगर उनकी आलोचना का मुख्य निशाना *वाल्मीकि रामायण* है। एक लंबे, कठिन और सतत संघर्ष के बाद पेरियार इस उद्देश्य में राजनीतिक रूप से अपेक्षाकृत अधिक सफल रहे और तमिल स्वाभिमान पैदा करने में किसी हद तक सक्षम। यह साठ से भी अधिक वर्षों से हिंदी के वर्चस्व को चुनौती देने के रूप में प्रकट हो रहा है, जो इन राज्यों के सांस्कृतिक वर्चस्व का विरोध है। दक्षिण भारत में हिंदी वर्चस्व के विरोध का सबसे मज़बूत गढ़ तमिलनाडु है, इसका एक बड़ा कारण पेरियार का व्यापक प्रभाव है। तमिलनाडु की द्रविड़ राजनीति में आज चाहे, जितनी विसंगतियां हों, उसने कांग्रेस की सवर्ण राजनीति को राज्य से हमेशा के लिए अपदस्थ कर दिया। इस परिवर्तन की मुख्य प्रेरणा पेरियार और उनकी यह किताब थी। एक और अर्थ में यह *रामायण* की इस नयी व्याख्या की राजनीतिक-सामाजिक वैधता पर मोहर लगाता है,भले ही उसकी साहित्यिक-अकादमिक वैधता प्रश्नांकित करना उसका लक्ष्य न रहा हो। बाक़ी दो ग्रंथों को भी साथ में पढ़ें तो निश्चित रूप से पेरियार एक विवेकसम्मत समाज की स्थापना चाहनेवाले नेता के रूप में सामने आते हैं। उन्होंने अपने जीवनकाल में अपना दृष्टिकोण हिंदीभाषी समाज के सामने रखने में संकोच नहीं किया था। उन्होंने उत्तरी भारत की

अनेक यात्राएं की थीं और अपना दृष्टिकोण रखा था। इस दौरान उन्होंने *सच्ची रामायण* तथा अपने विभिन्न लेखों के प्रकाशन की अनुमति भी दी थी।

उनकी दूसरी दो किताबों से उनकी बौद्धिक गहराई और विवेचन दृष्टि अधिक सामने आती है। *जाति समस्या और पितृसत्ता* बहुत विस्तार से भारत और विशेषकर तमिलनाडु के संदर्भ में जाति की समस्या की विभिन्न परतें उघाड़ती है। पेरियार बताते हैं कि जाति की समस्या ने हमें किस प्रकार अनुसंधान, तर्क और विचार से रोका है। विभिन्न प्रथाओं, परंपराओं, देवताओं, धर्म, जाति ने हमें किस तरह मानवीय विवेक से वंचित किया है, लोगों को सवाल करने के हक़ से रोका है। इन सब पर यह पुस्तक विस्तार से प्रकाश डालती है। वे कहते हैं कि तर्क और विवेक ही आगे बढ़ने का एकमात्र रास्ता है। जो दिमाग़ सोच नहीं सकता, वह विवेकहीन है,जो सोचने की क्षमता होते हुए भी नहीं सोचता,वह बर्बर है। वे महिलाओं को लेकर परिवर्तनकारी सोच रखते थे। उन्हें अमुक की पत्नी की तरह नहीं, बल्कि एक अलग व्यक्ति के रूप में चिह्नित किया जाये, इस पर बल देते थे। उन्हें पति-पत्नी शब्द पर भी ऐतराज़ था। विवाह को वे दो पक्षों के बीच साहचर्य का अनुबंध मानते थे। जहां लैंगिक समानता तथा स्त्री-पुरुष के बीच व्यवहार में समानता संभव नहीं, वहां जिसे 'पवित्र वैवाहिक जीवन' से बंधना कहते हैं,उससे स्त्री को बाहर आकर पुरुष की गुलामी को अस्वीकार करते हुए एकल जीवन जीने का निर्णय लेना चाहिए। दरअसल, स्त्रियों को अपने आश्रित रखने, उन्हें अपने नियंत्रण में रखने के लिए ही सतीत्व और प्रेमरूपी गुण की आवश्यकता बतायी गयी है। किस प्रकार दो जातियों के बीच वैवाहिक संबंधों को बनने से रोकने के लिए तमिलनाडु में श्रेष्ठ मानी जाने वाली जाति और इससे नीची मानी जानेवाली जाति के बीच संबंधों से उत्पन्न संतानों को दोयम दर्जा दिया जाता था, वे यह भी सोदाहरण बताते हैं।

जाति की और भी कई पर्तों को वे खोलते हैं, जिनमें ब्राह्मण श्रेष्ठता को सुरक्षित रखकर बेहद चतुराई से अन्य जातियों को उनसे हीनतर बताना भी शामिल है। श्रेष्ठता का यह किटाणु किस प्रकार अन्य जातियों में भी प्रवेश कर गया है, कैसे एक ही जाति में श्रेष्ठ और अश्रेष्ठ का भेद पनप गया है, इसकी भी वे तमिल जाति के संदर्भ में विशेष रूप से व्याख्या करते हैं। वे बताते हैं कि कुछ वंचितों में यह सोच बन गयी है कि अगर वे रोज़ नहायेंगे, सिर पर तिलक लगायेंगे, शराब और मांस को नहीं छुएंगे तो उनकी स्थिति सुधर जायेगी, उन्हें अस्पृश्य नहीं माना जायेगा। यह खुद को धोखा देते हुए यह सोचना है कि इस तरह दूसरों को भी धोखा दिया जा सकता है। वे जातिगत आरक्षण को एक वरदान मानते थे जिससे समान नागरिकों के समाज का निर्माण होता है। वे जाति व्यवस्था का नाश चाहते थे और कहते थे कि ऐसा करने वालों को धर्म के नष्ट होने का भय नहीं सताना चाहिए। जाति,धर्म, वेद, ईश्वर सभी को नष्ट किया जाना चाहिए। ये एकदूसरे से इस तरह अभिन्न रूप से जुड़े हैं कि इनमें से किसी को भी अलग करना या सबको अलग-अलग नष्ट करना संभव नहीं है। इस मायने में और हर मायने में वे आंबेडकर को अपने सबसे क़रीब पाते हैं।

इस पुस्तक में उनके जीवन का वर्षवार लेखा (जो बाक़ी दो किताबों में भी इसी प्रकार उपलब्ध है) के अलावा ललिता धारा, टी. थमराईकन्न, वी.गीता तथा एस वी राजदुर्रे का एक संयुक्त लेख पेरियार को समझने में अधिक मदद करता है।

तीसरी पुस्तक, *धर्म और विश्वदृष्टि* है। इसमें विषय से इतर भी कुछ और लेख शामिल हैं, मगर जो इस किताब को भिन्न बनाता है, वह ईश्वर, दर्शन और धर्म के बारे में पेरियार का दृष्टिकोण है। एक बात जो मेरे जैसे लोगों की जानकारी में नयी है,वह यह है कि तमिल में ईश्वर के लिए कोई शब्द नहीं है। 'कांत जी' शब्द है ,मगर इसके बारे में वे बताते हैं कि कुछ विद्वानों की राय में यह शब्द ईश्वर के लिए है, मगर इसे यह अर्थ मिले भी अधिक समय नहीं हुआ है। उनके अनुसार जब कोई तमिल 'कांत जी' शब्द बोलता है तो उसमें भी एक तरह से ईश्वर का नकार ही

शामिल होता है। 'कांत जी' शब्द का अपना कोई स्वायत्त अर्थ नहीं है। यह तमिलों पर थोपा गया शब्द है। उनके अनुसार सच तो यह है कि केवल तमिल ग्रंथों में ही नहीं, बल्कि वेदों में भी ईश्वर की अवधारणा नहीं मिलती, मगर आर्य ही इस देश में ईश्वर की धारणा लेकर आये। आज से दो हज़ार वर्ष पहले भी माना जाता था कि ज्ञानियों और बुद्धिमानों को ईश्वर की ज़रूरत नहीं। ईश्वर की अवधारणा अपने आप में वैज्ञानिक सोच के रास्ते में बड़ी बाधा है। मनुष्यरचित यह ईश्वर हमेशा उच्च वर्ण का ही होता है, ऐसा क्यों? अवतारवाद के बारे में उनका कहना है कि ईश्वर को अपने संदेश लोगों तक पहुंचाने के लिए अपने वाहकों की क्या ज़रूरत? उसे वाणी के माध्यम से अपना संदेश पहुंचाने की भला क्या आवश्यकता? यह भी विचारणीय है कि लोगों को ईश्वर की आवश्यकता ही क्या है? क्या समाज कल्याण और लोकव्यवहार उसके बग़ैर संभव नहीं? अब तक लोग बीमारियों और समस्याओं के निवारण को ईश्वर की मर्ज़ी मानते थे, मगर तब भी युवा अवस्था में अधिकांश लोग मृत्यु को प्राप्त हो जाते थे। जीवन के अनेक क्षेत्रों में हुई प्रगति के कारण ही अब लोगों की आयु बढ़ी है। यह ईश्वर की नहीं, मनुष्य की देन है। आज जिन मनुष्यों के पास बेहतर बौद्धिकता है, तार्किकता है, गहन विचार क्षमता है, जो अनुभवजन्य जीवन जी सकते हैं, ऐसे लोगों को भला ईश्वर की ज़रूरत ही क्या? ईश्वर और धर्म को अतीत में बनाने वाले लोगों का कहना था कि आप ग़रीबों की मदद करें और आपको इसका लाभ स्वर्ग में मिलेगा, परंतु आधुनिक विज्ञान कहता है कि आखिर दुनिया में गरीब लोग हो ही क्यों? ग़रीबी होनी ही नहीं चाहिए। अतीत में ग़रीबों की मौजूदगी की चाहे जो कारण रहे हों, लेकिन मौजूदा समाज में किसी को ग़रीब नहीं होना चाहिए।

वे इस बात के पक्षधर थे कि एक लोकतांत्रिक राज्य का आधार बुद्धिमत्ता और स्वतंत्रता होना चाहिए जबकि धर्म और धर्मशास्त्र के निर्माण का एकमात्र उद्देश्य बौद्धिकता और आज़ादी को नष्ट करना और लोगों को मूर्ख और दास बनाये रखना है। धर्म उस समय चलन में आया, जब आदमी आदिम अवस्था में था- कमोबेश जानवर की तरह। जिस प्रकार लोग भूत-प्रेत और आत्माओं से भयभीत रहते थे, ठीक वही डर धर्म और धार्मिकशास्त्र भी पैदा करते थे। ये धर्म हमारी बौद्धिकता को ही नष्ट नहीं करते बल्कि हमारे चरित्र को भी क्षति पहुंचाते हैं। इनकी वजह से हमारी ईमानदारी, प्रेम, एकता की क्षमता आदि प्रभावित होती है। हमारे विकास पर असर पड़ता है, विज्ञान को नुक़सान पहुंचता है और अज्ञान को बढ़ावा मिलता है। ज़ाहिर है कि पेरियार एक अलग दृष्टि की मांग करते हैं, तर्क और विवेक को सर्वोच्च स्थान देते हैं। नास्तिकतावाद की मांग करते हैं मगर अब द्रविड़ राजनीति भी इस मामले में दृढ़ नहीं रही। उसमें भी काफ़ी झोल पैदा हो चुके हैं।

सामान्यत: राजनीतिक कार्यकर्ता और नेता दर्शन की बात करने में सक्षम नहीं होते, मगर पेरियार का एक सुदीर्घ व्याख्यान इस बारे में है।

संपादक, प्रमोद रंजन ने तीनों पुस्तकों को तैयार करने-करवाने में काफ़ी परिश्रम किया है और बहुत सी बारीक़ियों में गये हैं और प्रामाणिक अनुवाद उपलब्ध करवाने की कोशिश की है। *सच्ची रामायण* का अंग्रेज़ी से हिंदी अनुवाद पहले अर्जक संघ से जुड़े लोकप्रिय सामाजिक कार्यकर्ता ललई सिंह ने प्रकाशित करवाया था, जिन्हें कभी उत्तर भारत के पेरियार के नाम से भी जाना जाता था। इसका अंग्रेज़ी अनुवाद किन्हीं रामाधार ने (संभवतः वे रहे हों, जो कभी *दिनमान* से जुड़े थे) किया था। उस अनुवाद का मिलान करने पर पता चला कि कई स्थानों पर इसके अनुवादक-प्रकाशक ने अपनी भावनाओं का समावेश भी कर दिया है। पुनः पूरी पुस्तक का नया और सटीक अनुवाद, तमिल भाषा के शब्दों के सही भावार्थ को समझने के लिए तमिलभाषियों से निरंतर संपर्क कर बहुत अच्छा अनुवाद उपलब्ध करवाना एक चुनौती थी, जिसे अनुवादकों में से एक अशोक झा ने पूरी प्रतिबद्धता से पूर्ण किया। कई लोगों के अनुवादों में एकरूपता लाना भी एक जटिल चुनौती थी और कोई अनुवाद हिंदी की स्वाभाविकता को नष्ट न करे, यह भी एक बड़ा काम था। तमाम अनुवादकों और संपादक ने इस काम को बड़े

परिश्रम से पूरा किया है। इसके लिए उन्हें साधुवाद। निश्चय ही इन पुस्तकों में व्यक्त विचारों से सहमति-असहमति अलग चीज़ है लेकिन ऐसे विचारों का हिंदी के संसार में आना और आते रहना बहुत ज़रूरी है। लोकप्रिय स्तर पर यह काम कभी मार्क्सवादियों ने काफ़ी लगन से किया था। विवेक के काम को आगे बढ़ाने का यह सिलसिला आगे भी जारी रहना चाहिए, वरना हिंदीभाषी क्षेत्रों में जो व्यापक जड़ता और अंधविश्वास फैले हैं और सांप्रदायिक राजनीति जिस प्रकार अपने उफान पर है, उसके विरुद्ध कोई नया विचार मज़बूती से सामने नहीं आ पायेगा।

मो. 9810892198

पुस्तक संदर्भ

1. *सच्ची रामायण* : ई. वी. रामास्वामी पेरियार, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2020

2. *जाति व्यवस्था और पितृसत्ता* : ई. वी. रामास्वामी पेरियार, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2020

3. *धर्म और विश्व दृष्टि* : ई. वी. रामास्वामी पेरियार, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2020

वर्ग और जाति की समझ : कार्यवाही के साझा आधार एवं डॉ. आंबेडकर

अजय कुमार और रमाशंकर सिंह

हमारे सामने आनंद तेलतुंबड़े की दो किताबें हैं। इन दोनों का संबंध डॉ. भीमराव आंबेडकर से है। पहली किताब है : *रिपब्लिक ऑफ़ कास्ट : थिंकिंग एक्वालिटी इन द टाइम ऑफ़ नियोलिबरल हिंदुत्व*(2020) और दूसरी किताब है : *भीमराव रामजी आंबेडकर : भारत और साम्यवाद*(2019)। *रिपब्लिक ऑफ़ कास्ट* में आनंद तेलतुंबड़े ने डॉ. आंबेडकर के विचारों की पड़ताल करते हुए डॉ. आंबेडकर के समय के इतिहास और भारतीय समाज की बनावट एवं समकालीन भारत से उनकी वैचारिक मुठभेड़ का बेधक वर्णन किया है, जबकि *भीमराव रामजी आंबेडकर : भारत और साम्यवाद* में आनंद तेलतुंबड़े ने अपनी एक लंबी भूमिका के साथ डॉ. आंबेडकर की उस अपूर्ण किताब से पाठकों को परिचित कराया है जिसे वे अपनी असामयिक मृत्यु के कारण पूरा नहीं कर सके। *भीमराव रामजी आंबेडकर : भारत और साम्यवाद* दर असल, *इंडिया एंड कम्युनिज़्म* का अनुवाद है जिसे अखिल विकल्प ने किया है।

इन दोनों किताबों को हम दो लोगों द्वारा साथ-साथ पढ़ा गया था और आपसी बातचीत में हमने पाया कि एक किताब दूसरे को पूर्ण करती है। इसलिए हम दोनों ने मिलकर इन दो किताबों की समीक्षा लिखने का प्रयास किया है। फिर भी इसमें एक चुनौती यह थी कि हमें एक ही साथ डॉ. आंबेडकर और आनंद तेलतुंबड़े के बारे में बात करनी थी जिनमें आधी शताब्दी से ज़्यादा का समयांतराल है।

आनंद तेलतुंबड़े ने अपनी बात को पुष्ट करने के लिए आंबेडकर के लेखन को आधार बनाते हुए उसमें हमारे अपने समय के वैचारिक ताप को भी मिला दिया है और जैसा हम आगे देखेंगे कि अपनी एक अधूरी पांडुलिपि में डॉ. आंबेडकर भारत की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं को उसके इतिहास, ब्रिटिश भारत में उसकी वस्तुस्थिति और आज़ाद भारत की संवैधानिक उपलब्धियों के आलोक में देख-समझ रहे हैं।

अब हम *रिपब्लिक ऑफ़ कास्ट* पर बात करेंगे। किताब के प्राक्कथन में सुनील खिलनानी ने लिखा है कि तेलतुंबड़े ने किसी को नहीं बख़्शा है। तेलतुंबड़े ने वामपंथियों की इस बात के लिए खिंचाई की है कि उन्होंने सुविधाजनक तरीक़े से जाति की राजनीतिक वास्तविकता को नज़रअंदाज़ किया और इसे वर्गीय गतिशीलता के साथ संभावनाओं पर जोड़ने की कोशिश करते रहे। वे जाति की पहचान का जश्न मनाने के लिए आंबेडकरवादियों की भी आलोचना करते हैं। जाति के विनाश के लिए आंबेडकर की दृष्टि का अनुसरण करने के बजाय, एक 'निष्क्रिय देवता' के रूप में उनकी पूजा किये जाने की भी आलोचना करते हैं। लेखक ने अपने साथी भाइयों को जाति के शोषण के संकट से बाहर निकालने में विफल रहने के लिए 'दलित पूंजीवाद' को भी ख़ारिज किया है। इसके आगे वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा आंबेडकर को अपने पाले में लाने की कोशिशों पर ध्यान केंद्रित करते हैं।

इस किताब में तेलतुंबड़े आरक्षण की नीति का वैचारिक आधार विश्लेषित करते हैं। सामान्य धारणा के विपरीत यह अंग्रेज़ नहीं बल्कि कुछ देशी शासक थे जिन्होंने आरक्षण की शुरुआत की, मसलन कोल्हापुर के राजा शाहू महाराज (1874-1922) के रूप में, मद्रास प्रेसीडेंसी में न्याय पार्टी, मैसूर, बड़ौदा और त्रावणकोर की रियासतें

इस दिशा में आगे आयीं। यह आंबेडकर थे जिन्होंने गोलमेज़ सम्मेलन (1931-32) के दौरान आरक्षित सीटों के साथ दलितों के लिए अलग निर्वाचक मंडल का प्रस्ताव रखा था। सितंबर 1932 में पूना पैक्ट के बाद, दलितों को वरीयता देने की नीति के रूप में आरक्षण को भारत सरकार अधिनियम, 1935 में शामिल किया गया। 1943 में,आंबेडकर ने वायसराय की कार्यकारी परिषद के सदस्य के रूप में, इस प्राथमिकता नीति को कोटा में तब्दील कर दिया।

तेलतुंबड़े दिखाते हैं कि आरक्षण शासक वर्गों के हाथों में एक हथियार बन गया है, लेकिन इसका मतलब यह कदापि नहीं है कि यह स्वाभाविक रूप से बुरा है और इसे छोड़ दिया जाना चाहिए। वे मानते हैं कि आरक्षण संविधान में जाति के संरक्षण का बहाना बन गया। दोनों किताबों में तेलतुंबड़े की चिंता का एक प्रमुख बिंदु 'वर्ग और जाति के अंतर्विरोध' हैं जिन्हें अपने जीवन के अंतिम दो दशकों में डॉ. आंबेडकर ने संबोधित किया था। भारतीय समाज की विशिष्टता ऐसी है जहां वर्ग की गतिशीलता जाति की परतों से और अधिक जटिल है, उसने कार्ल मार्क्स को भी झकझोर कर रख दिया था। आश्चर्यजनक रूप से, दोनों आंदोलनों- साम्यवाद और दलित सक्रियता- में किसी समान और साझे उद्देश्य की खोज नहीं हो सकी। इसके लिए वे दोनों की खिंचाई करते हैं। वे आधार और अधिरचना के रूपक को लेने के लिए कम्युनिस्टों को ज़िम्मेदार ठहराते हैं, हालांकि यह असंगत लग सकता है। उन्होंने बंबई की कपड़ा मिलों के उदाहरण को उद्धृत किया है जहां श्रमिकों पर कम्युनिस्ट नियंत्रण के बावजूद, अस्पृश्यता का अभ्यास जारी रहा। साथ ही वे आंबेडकरवादियों को भी भूमि आंदोलनों में भाग नहीं लेने के लिए दोषी ठहराते हैं जो आरक्षण की तुलना में अधिक लाभकारी मांग साबित होने वाली हो सकती थी। भूमि पर हक़दारी दलितों को सक्षम बनाने में एक कारगर उपाय साबित होती।

वे यह भी सवाल उठाते हैं कि दलितों पर अत्याचार के मामलों में हम क़ानूनी न्याय और सामाजिक अस्वीकृति दोनों एक साथ कैसे हासिल कर सकते हैं? दूसरे लक्ष्य को हासिल करना असंभव सा है क्योंकि इस बात की संभावना बहुत कम है कि ऊंची जातियों के लोग स्वयं की निंदा करने के लिए आगे आयेंगे। एक जातिवादी समाज में न ही इस बात की नैतिक स्पष्टता है और न ही इस तरह की आत्मनिंदा उन लोगों के भौतिक और बौद्धिक हितों पर कोई फ़र्क़ डालेगी जो समाज के कर्ताधर्ता होने का दावा करते हैं। मानव अधिकार कार्यकर्ताओं के सामने यह एक उलझन है कि वे इस बात पर तो ज़ोर दे सकते हैं कि राज्य संवैधानिक प्रावधानों का पालन करे, परंतु वे नागरिकों को संवैधानिक नैतिकता का पालन करने पर मजबूर नहीं कर सकते हैं। एक सक्रिय सामाजिक कार्यकर्ता के तौर पर तेलतुंबड़े कई मानव अधिकार आंदोलनों में शामिल रहे हैं। उन्हें यह समझ है कि भारतीय गणतंत्र को आकार और दिशा उसकी परंपरागत 'रिपब्लिक ऑफ़ कास्ट (जाति का गणतंत्र)' दे रहा है। यहां आकर किताब के शीर्षक का अर्थ खुलता है।

इसके साथ ही वे हमें यह उपाय सुझाते हैं कि एक नागरिक के तौर पर हम इस आपराधिकता की जड़ को कैसे कमज़ोर कर सकते हैं, कैसे इस आपराधिकता के ख़िलाफ़ काम कर सकते हैं। राज्य हमें कई प्रकार की सामाजिक सुरक्षाएं देता है और हमारे कल्याण के लिए बहुत कुछ करता है। राज्य के इस पक्ष की व्यावहारिक उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए हम तार्किक और आलोचनात्मक व्याख्या से कैसे यह देखें कि दलितों के मामले में हम कहां खड़े हैं और हमें क्या करना है? दरअसल, उनकी पुस्तक, *रिपब्लिक ऑफ़ कास्ट* इस बात पर ज़ोर देती है कि हम जाति व्यवस्था और वर्ग प्रणालियों के संदर्भ में भारतीय राज्य की प्रकृति और आचरण का निरंतर आकलन और अध्ययन करें। अगर संविधान द्वारा निर्मित राज्य भारत के लोगों की संप्रभुता का प्रतिनिधित्व करता है तो हम यह भी देखें कि यह संप्रभुता किस रूप में अभिव्यक्त होती है। मसलन, क्या राज्य सामाजिक न्याय को सार्थक तरीक़े से लागू करना चाहता है या केवल औपचारिकता का निर्वहन करने का इच्छुक है। यह एक महत्वपूर्ण

अंतर है और तेलतुंबड़े चाहते हैं कि हम इस पर ध्यान दें। सरकार के औपचारिक निर्णयों से भी कुछ परिणाम हासिल किये जा सकते हैं और इन सभी को तिरस्कार की दृष्टि से देखना भी ठीक नहीं है।

आज के नवउदारवाद के बढ़ते प्रभाव के चलते राज्य ने अपनी कल्याणकारी भूमिका का संकुचन किया है और जनता एवं राज्य के बीच नए क़िस्म के संघर्ष उपजे हैं। तेलतुंबड़े कहते हैं कि राज्य का उद्देश्य केवल टकरावों और संघर्षों को नियंत्रित कर शांति की स्थापना करना नहीं हो सकता, राज्य को यह भी समझना होगा कि टकराव इसलिए हो रहे हैं क्योंकि समाज में आर्थिक असमानता और सामाजिक संकीर्णता है तथा संस्कृति व इतिहास के क्षेत्रों में संघर्ष की स्थितियां उत्पन्न हो गयी हैं। इसका हल यह नहीं है कि असहमति के स्वरों के दबाया जाये या टकराव के कारणों पर चर्चा प्रतिबंधित कर दी जाये। राज्य को खुली और जनतांत्रिक बहसों को प्रोत्साहन देना चाहिए।

जब जनतांत्रिक दायरे सिकुड़ते हैं तो वे ऊपर और नीचे – दोनों जगह अपना प्रभाव दिखाते हैं। इधर पिछले कुछ वर्षों में नागरिकता के गुणों का पतन हुआ है, भीड़ अफ़वाह से हिंसा की ओर आकर्षित होने लगी है जिससे कुछ बहुत ही दर्दनाक घटनाएं हुई हैं। तेलतुंबड़े इसकी तह में जाने का प्रयास करते हैं। भारत में भीड़ के इस हिंसक और आश्चर्यजनक प्रदर्शन को 'लिंचिंग' कहा गया है। इस भीड़-भाड़ के माध्यम से कई लोगों की जान गयी है। तेलतुंबड़े आश्चर्य व्यक्त करते हैं कि कृष्ण, बुद्ध, अशोक और महात्मा गांधी के इस देश में इस तरह के उपद्रव और भयावह घटनाएं कैसे संभव हुई हैं? तेलतुंबड़े ने दिखाया है कि मनुष्यों की हत्या मनुष्यों के द्वारा हो रही है जिसमें जाति से उपजी घृणा दलितों को शिकार बनाती है। यह 'लिंचिंग' अल्पसंख्यक समुदायों के सदस्यों के ख़िलाफ़ भी धर्म के आधार पर की जाती है। वे इस किताब में 'लिंचिंग' की घटनाओं से निपटने में राज्य की संस्थाओं की भूमिका को ज़मीनी स्तर पर पुलिस-नौकरशाही-नेताओं की सांठगांठ के रूप में सामने लाते हैं। इसी बात को आगे बढ़ाते हुए तेलतुंबड़े कहते हैं कि ऐसा लगता है कि न्यायपालिका में लोगों की आख़िरी उम्मीद भी ग़ायब हो रही है और कुछ सम्मानज़नक अपवादों को छोड़कर अदालतें हमेशा ग़रीबों, आदिवासियों, दलितों और मुसलमानों के ख़िलाफ़ पक्षपाती रही हैं। इस संदर्भ में लेखक का मानना है कि एक लिंच वाली भीड़ की विशेषताएं- नैतिक धार्मिकता की अपनी आसान धारणा और अपनी निष्पक्षता के बारे में विश्वास, सहज रूप से उत्पन्न नहीं होती हैं, बल्कि यह सब एक विशेष राजनीति के तहत उन्हें कई वर्षों के प्रयोग और अवलोकन से परिपूर्ण एक रणनीति की अभिव्यक्ति के रूप में सौंप दिया जाता है जो मुख्य रूप से दलितों और अल्पसंख्यकों को सबक़ सिखाने से जुड़ी मिसालों के माध्यम से होती है।

भारत की आज़ादी की लड़ाई अलग अलग समूहों के लिए अलग अलग अर्थ संधान करती है। एक कांग्रेसी के लिए इसका जो आशय होता है, वह एक आंबेडकरवादी के लिए नहीं हो सकता है। मज़दूर आंदोलनों से जुड़े लोगों एवं मार्क्सवादियों के लिए इसका आशय भिन्न होता है। डॉ. आंबेडकर के योगदानों के बारे में भारत सहित दुनिया में जो राय बनी है, उसमें उनके द्वारा जाति-उन्मूलन के प्रयास, दलितों को संघटित और शिक्षित करने की अपील तो है ही, वे एक राजमर्मज्ञ के रूप में याद किये जाते हैं। भारत के संविधान को रूप देने में उनकी विलक्षण भूमिका थी।

तेलतुंबड़े रेखांकित करते हैं कि वे जो कर रहे थे, उसके परिणाम के बारे में वे स्पष्ट थे और दलित, आदिवासी, पिछड़ी जातियों, महिलाओं और अल्पसंख्यकों, ग़रीब जनता और उनकी भावी पीढ़ियों के लिए उनके अद्वितीय योगदान पर संदेह नहीं किया जा सकता है। हो सकता है कि इन समूहों को वर्ग संघर्ष या ऐतिहासिक भौतिकवाद जैसे नुस्ख़े की तरह कोई जादू की छड़ी नहीं दी गयी हो, लेकिन आंबेडकर ने व्यक्ति की गरिमा का आश्वासन देकर सभी के बीच भाईचारे को बढ़ावा देकर एक सामाजिक-आर्थिक क्रांति की शुरुआत की है। 25

नवंबर 1949 को संविधान के अंतिम मसौदे पर चर्चा को छोड़कर, आंबेडकर ने संविधान की खूबियों पर कहा था कि यह एक अच्छा संविधान साबित हो सकता है, लेकिन यह संविधान का व्यवहार करने वाले लोगों की गुणवत्ता पर निर्भर करेगा। इसी के साथ आंबेडकर संविधान की संभावित निंदा के बारे में जानते थे, ख़ासकर कम्युनिस्टों द्वारा, क्योंकि वे सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के सिद्धांत के आधार पर एक संविधान चाहते थे। उनके अनुसार कम्युनिस्ट इसलिए संविधान की निंदा करते हैं क्योंकि यह संसदीय लोकतंत्र पर आधारित है। इस तरह से इस पुस्तक में लेखक घटनाओं और आंदोलनों के बीच दिलचस्प घटनाओं का खुलासा करते हुए सूचना और विश्लेषण की एक बृहत व्याख्या प्रदान करता है, जिस पर, अक्सर अनुसंधान के संबंधित क्षेत्रों के विशेषज्ञों का ध्यान नहीं जाता है। इस काम में, लेखक पाठकों के साथ यह साझा करते हैं कि एक क्रांति का सपना देखने के लिए, जो दलितों और सर्वहारा वर्ग के एक सम्मिलित वर्ग द्वारा संघर्ष के माध्यम से आगे बढ़ने की वकालत करता है। यह पुस्तक उन सभी को अवश्य पढ़नी चाहिए जो जाति और वर्ग के मुद्दों में रुचि रखते हैं।

अब बात करते हैं दूसरी किताब, *भीमराव रामजी आंबेडकर : भारत और साम्यवाद की*। यह किताब दो हिस्सों में है। पहले हिस्से में तेलतुंबड़े ने एक लंबी भूमिका लिखी है और दूसरे हिस्से में एक अधूरी पांडुलिपि है जो डॉ. आंबेडकर के कागज़ात में मिली थी। इसे 1950 के दशक में लिखा बताया जाता है। इसमें बहुत सी वे बातें हैं जो *रिपब्लिक ऑफ़ कास्ट* में कही गयी हैं, लेकिन इसका एक नवीन परिप्रेक्ष्य भी है कि साम्यवाद और डॉ. आंबेडकर की वैचारिकी के बीच कोई साझा भूमि विकसित की जा सकती है? यह अब तक संभव नहीं हुआ तो उसके क्या ऐतिहासिक और मनो-राजनीतिक कारण रहे हैं? इधर हाल के वर्षों में विद्वत जगत, सार्वजनिक बहस-मुबाहिसों एवं सोसल मीडिया में, छात्र संघ चुनावों से लेकर पतली पुस्तिकाओं एवं लेखों के माध्यम से बुद्धिजीवियों का एक बड़ा तबक़ा आरोप लगाता है कि मार्क्सवाद का आंबेडकर से कोई संवाद नहीं रह गया है। एक सीमा के बाद वे यहां तक कहने लगते हैं कि इसके बीच कोई संवाद संभव ही नहीं है। तेलतुंबड़े इसकी धज्जियां उड़ा देते हैं।

इसके लिए तेलतुंबड़े तीन काम करते हैं। आंबेडकर की वैचारिक यात्रा का इतिहास बताना, मार्क्सवाद से उनकी मुठभेड़ और अंत में दोनों की बीच समझ स्थापित करने वाली साझा कार्यवाहियों की सूची प्रस्तुत करना। अपनी लगभग 67 मुद्रित पृष्ठों की प्रस्तावना में आंनद तेलतुंबड़े ने उस वैचारिक काई को साफ़ करने का काम किया है जो आंबेडकर और मार्क्सवादी हलक़ों के बीच जम गयी है। इस काई पर या तो लोग फिसल कर गिर पड़ते हैं या उन्हें इसके नीचे उन्हें आंबेडकर की वह राजनीतिक भावभूमि नहीं दिखायी पड़ती है जिस पर चलकर श्रम, जाति और जोतने वाली ज़मीन का मुद्दा हल हो सकता है। इसके लिए उस ऐतिहासिक अनुभव को व्याख्यायित करते हैं जिसे मज़दूरों, ग़रीब किसानों और महिलाओं ने अनुभव किया है।

डॉ. आंबेडकर की किताब, *भारत और साम्यवाद* उनके काग़ज़ात में अपूर्ण पांडुलिपि के रूप में मिली थी। इसमें हिंदू समाज व्यवस्था और उसके प्रतीकों पर चर्चा की गयी है। इसमें डॉ. आंबेडकर का लेखन उनके पहले के लेखन से सरल और स्पष्ट है। संभवत: संविधान सभा के वाद-विवादों, आज़ाद भारत में अस्पृश्य जनों की दशा और उनके राजनीतिक भविष्य पर वे पहले की अपेक्षा ज़्यादा सोच-समझ पा रहे थे।

जिस नवउदारवाद की चर्चा वे अपनी पिछली किताब में कर रहे थे, उसे यहां थोड़ा विस्तार देते हैं और उसको समझने के लिए एक खिड़की उपलब्ध कराते हैं। वे लिखते हैं कि दुनिया लगातार और तेज़ी से बदल रही है। इसके सार को उन ढांचों की मदद से नहीं समझा जा सकता है, जिनसे इसके पिछले संस्करणों के साथ जूझा गया था। यह 'वाद' केवल प्रकाश स्तंभ जैसे तो हो सकते हैं लेकिन जनता को उन कठिन परिस्थितियों के बीच से ही अपने लिए रास्ते निकालने होंगे जिन परिस्थितियों में वह रह रही है। इस एहसास के पैदा होने पर पहचानवादी जिद

समाप्त हो जानी चाहिए। तेलतुंबड़े आंबेडकरवादियों एवं मार्क्सवादियों को स्वाभाविक मित्र मानते हैं लेकिन यह तभी संभव है जब आपस में विश्वास पनपे। वे लिखते हैं कि भारत के दलितों के कंधे से कंधा मिलाये बग़ैर कोई क्रांति संभव नहीं हो सकती है और मेहनतकश जनता के व्यापक तबक़ों द्वारा उन्हें अपनाये बग़ैर जाति का विनाश संभव नहीं है। इसी के साथ कम्युनिस्टों को यह समझना चाहिए कि दलितों के साथ हाथ मिलाने का दायित्व उनके ऊपर है और यह मेल सच्चा और किसी भी चुनावी गणित से परे होना चाहिए। दलितों को भी यह महसूस करना होगा कि जातीय पहचान पर आधारित राजनीति उन्हें केवल अधिक टुकड़ों में बांटेगी और उनका टुकड़ों में बंट जाना शासक वर्ग के खेमे में खुशियां लेकर आयेगा। उनकी मुक्ति का मार्ग जाति के पास नहीं है बल्कि वर्गीय एकता ही उन्हें मुक्त करा पायेगी। कम्युनिस्टों को यह भी समझना चाहिए कि क्रांति किसी एक बिंदु तक सीमित नहीं है बल्कि यह एक प्रक्रिया है। क्रांतिकारी रणनीति को संचालित करने वाली तमाम नीतियां इसी क्रांति का हिस्सा हैं।

1927 से लेकर भारत की संविधान सभा में आने से पहले के डॉ. आंबेडकर के लेखन को, कोई यदि सरसरी तौर पर देखे, तो पायेगा कि भारतीय समाज व्यवस्था, हिंदू धर्म और उसके अंदर अस्पृश्यों की स्थिति पर न केवल लिख और बोल रहे थे बल्कि उनके लिए राजनीतिक भागीदरी की ज़ोरदार पैरवी भी कर रहे थे। भारत की संविधान सभा की बहसों में भाग लेने, उसे रूप देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने के दौर में ही उन्होंने भारत की सामाजिक व्यवस्था को संवैधानिक नैतिकता से चालित होने का स्वप्न देखा था। 4 नवंबर 1948 को उन्होंने ग्रीक इतिहासकार ग्रोट को उद्धृत करते हुए शासन और संविधान के बीच संबंधों की व्याख्या के लिए 'संवैधानिक नैतिकता' पर बल दिया और कहा कि किसी भी समाज को इसे स्वत: विकसित करना होता है। अभी भी हमारे लोगों यानी भारतीय जनों को इसे सीखना है। उन्होंने कहा कि भारत में लोकतंत्र ऊपरी छिड़काव भर है, वह भारत जो मूल रूप से अलोकतांत्रिक है।

अपनी अधूरी पांडुलिपि में वे कहते हैं कि स्वाधीनता एक स्वतंत्र सामाजिक व्यवस्था के लिए आवश्यक है। यहां पर डॉ. आंबेडकर दो प्रकार की स्वाधीनताओं की बात करते हैं : नागरिक स्वाधीनता और राजनीतिक स्वाधीनता। डॉ. आंबेडकर की चिंता थी कि हिंदू समाज व्यवस्था जिस सीमा तक इन सिद्धांतों को मान्यता प्रदान करती है, उसी सीमा तक वह स्वतंत्र कही जा सकती है। इसके बाद वे हिंदू समाज व्यवस्था के मूलभूत सिद्धांतों, विशिष्टताओं और प्रतीकों का वर्णन करते हैं। अपने पूर्ववर्ती लेखन की तरह वे इस पांडुलिपि में अकादमिक परिश्रम के साथ उपस्थित हैं, लेकिन पहले की अपेक्षा भाषा काफ़ी सरल है, शायद वे इसे एक लोकप्रिय लेकिन महत्वपूर्ण पाठ के रूप में विकसित करना चाहते थे।

मो. अजय कुमार : 9415159762 , और रमाशंकर सिंह : 738045713

पुस्तक संदर्भ

***रिपब्लिक ऑफ़ कास्ट : थिंकिंग एक्वालिटी इन द टाइम ऑफ़ नियोलिबरल हिंदुत्व* : आनंद तेलतुंबड़े, नवयान, नयी दिल्ली, 2020**

***भीमराव रामजी आंबेडकर : भारत और साम्यवाद* : आनंद तेलतुंबड़े, लेफ़्टवर्ड, नयी दिल्ली, 2019**

भारत के राजनीतिक यथार्थ के संकट

वैभव सिंह

यह आलेख भारत के राजनीतिक यथार्थ का विचारोत्तेजक विश्लेषण करने वाली हिंदी व अंग्रेज़ी की तीन प्रमुख पुस्तकों की समीक्षा पर आधारित है। ये पुस्तकें अभय कुमार दुबे की हिंदी में रचित पुस्तक, *हिंदू एकता बनाम ज्ञान की राजनीति*, पैरी एंडरसन की पुस्तक, *द इंडियन आइडियोलॉजी* और एंडरसन की पुस्तक के विवादास्पद तर्कों के जवाब के रूप में प्रकाशित पुस्तक, *द इंडियन आइडियोलॉजीः थ्री रिस्पांसेज़ टु पैरी एंडरसन* हैं। अंतिम पुस्तक में पार्थ चटर्जी, सुदीप्तो कविराज तथा निवेदिता मेनन के लेख शामिल हैं। अब आगे हम सिलसिलेवार ढंग से इन पुस्तकों पर चर्चा करेंगे।

अभय कुमार दुबे की पुस्तक, *हिंदू एकता बनाम ज्ञान की राजनीति* हिंदुत्व के व्यापक उभार के बौद्धिक-राजनीतिक स्रोतों की पडताल करती है। यह पुस्तक, लेखक के अनुसार, विमर्श-नवीसी (डिस्कोर्स मैपिंग) की शैली में लिखे निबंधों का संग्रह है जिसमें संघ विरोधी राजनीति की सीमाओं को उजागर करने पर बल है। पुस्तक हिंदुत्व की विभिन्न बुराइयों तथा समस्याओं का विवरण देने के स्थान पर विभिन्न क़िस्म की अस्मितावादी राजनीति, वामपंथी विचारधारा तथा कांग्रेसी नीतियों की सघन शल्यक्रिया करती है। इन सभी को लेखक ने एक सामूहिक नाम प्रदान किया है वह है-'मध्यमार्गी विमर्श'। यह मध्यमार्गी विमर्श वामपंथी, दक्षिणपंथी, सेकुलरवादी, आंबेडकरवादी, बहुलतावादी, समतावादी, बाज़ारवादी-विकासवादी विचारों से मिलकर तैयार हुआ है। केवल हिंदुत्व तथा माओवाद इस मध्यमार्गी विमर्श से बाहर हैं और लेखक के अनुसार यह मध्यमार्गी विमर्श और उसके रुझान कुल मिलाकर वामपंथी हैं।

अभय कुमार दुबे ने इस किताब को 'पॉलिमिकल प्रोजेक्ट' की तरह लिखा है जिसमें धर्मनिरपेक्षता, बहुलतावाद, दलित राजनीति जैसी मान्यताओं तथा उनसे जुड़े प्रदत्त विश्वासों पर पुनर्विचार करने का प्रयास किया गया है। उनसे विमर्श के धरातल पर अपना कील-कांटा दुरुस्त करने की अपील की गयी है। इन बौद्धिक उद्यमों से गुज़रते हुए लेखक ने अपने इस भय को भी व्यक्त किया है कि- 'ज्ञान की विवादात्मक राजनीति के तहत मुझ पर हिंदुत्ववादी परियोजना के एक नये प्रच्छन्न समर्थक होने का आरोप लगाया जा सकता है। अगर ऐसा हुआ तो मैं इसे सार्वजनिक जीवन में सेकुलरवाद और उदारतावाद की निरंतर पराजय के कारण पैदा हुई निराशा का परिणाम मानकर नज़रअंदाज़ कर दूंगा।'

अभयकुमार दुबे ने लगभग आस्था का रूप ग्रहण कर चुकी राजनीतिक अवधारणाओं को खंगाला है तथा उनकी कमियों-सीमाओं में वर्तमान हिंदुत्व की सियासत की सफलता के सूत्र ढूंढ़े हैं। लोकतंत्र पर हावी होते बहुसंख्यकवाद के प्रति उनकी चिंता पूरी पुस्तक में व्याप्त है और वे मानते हैं कि इस बहुसंख्यकवाद का एक संरचनागत आधार भारतीय समाज में हमेशा से मौजूद रहा है और कथित मध्यमार्गी विमर्श (वामपंथी, सेकुलर, उदारतावादी) ने इसे नज़रअंदाज़ करने की भूल की। रजनी कोठारी जैसे मेधावी विचारक जो भारतीय राजनीति में अल्पसंख्यकवाद बनाम बहुसंख्यकवाद के विभाजन के ख़िलाफ़ थे, वे भी 1990 के बाद जातियों के राजनीतिकरण के मुद्दे पर शोध करने की दिशा में मुड़ गये और उन्होंने चुनावी प्रक्रियाओं से पैदा होते सांप्रदायिक बहुसंख्यकवाद के बारे में बात करना लगभग बंद कर दिया। आज़ादी के पश्चात कई तरह से कांग्रेस स्वयं एक बहुसंख्यकवाद का

निजी राजनीतिक संस्करण निर्मित कर रही थी। विभिन्न प्रांतों (पंजाब में अकाली दल, कश्मीर में पीडीपी-नेशनल कान्फ्रेंस, उत्तरप्रदेश में बसपा का बहुजनवाद) ने बहुसंख्यकवाद की राजनीति को ही व्यापक स्वीकृति दिलाने में न केवल बड़ी भूमिका अदा की बल्कि संघ की बहुसंख्यकवाद की राजनीति को एक ज़मीनी आधार मुहैया कराया।

किताब में अभय कुमार दुबे ने मोटे तौर पर छह प्रमुख राजनीतिक आस्थाओं को प्रश्नांकित करने पर बल दिया है जिसके आधार पर बहुसंख्यकवाद से संघर्ष की रणनीति तैयार की जाती है। पर वह रणनीति अब समय के साथ आत्मघाती तथा यथार्थ की अवज्ञा करने वाली साबित होने लगी है। पहली आस्था यह है कि भारत में हिंदू भले बहुसंख्यक हों, पर भारत एक सामासिक संस्कृति है और मैत्रीपूर्ण सामासिकता विवादों से परे है। दूसरी आस्था यह है कि भारत का बहुलतावाद हिंदुत्ववादी एकता को परास्त कर देगा। तीसरी आस्था यह कि भारतीय सेकुलरवाद का काम अल्पसंख्यकों की रक्षा करने से जुड़ा है। चौथी आस्था यह कि दुष्ट ब्राह्मणवाद से कमज़ोर जातियों का संघर्ष अंततः लोकतंत्र की रक्षा करने में समर्थ होगा। पांचवी आस्था यह कि भारतीय संविधान सभी अतिवादी विचारधाराओं (साम्यवाद, जातिवादी उग्रता, हिंदुत्व) को मध्यमार्ग पर चलने के लिए मज़बूर कर देगा। छठी आस्था यह कि सेकुलर, उदार, वामपंथी चिंतन श्रेष्ठ है तथा हिंदुत्ववादी बौद्धिकता हेय व हीन है और इसीलिए उनके बारे में पढ़ने-समझने की ज़रूरत भी नहीं है। पूरी पुस्तक में इन्हीं छह राजनीतिक विश्वासों की सघन पड़ताल की गयी है और यह दावा किया गया है कि इन आस्थाओं का ईमानदारी से सामना करके ही हिंदुत्ववादी राजनीति की बनावट व सफलता के इतिहास को समझा जा सकता है। हिंदुत्ववादी राजनीति के आंतरिक विकासक्रम व उहापोहों को समझने के लिए भी इन आस्थाओं पर गंभीर पुनर्विचार करना होगा। तभी हम उस 'पॉलिटिकल करेक्टनेस' के जाल से अपने को आज़ाद कर सकेंगे जिसमें विचारधारात्मक आग्रह तो बहुत तीव्र हैं पर यथार्थ की रोशनी में यथार्थ के मूल्यांकन के बौद्धिक प्रयास विरल हैं। आज़ादी के बाद भारतीय इतिहास, समाज व राजनीति के बारे में निर्मित इन आस्थाओं का उल्लेख करने के बाद लेखक ने पुस्तक में (जिसे वह निबंध कहता है) आज़ादी से पहले की हिंदुत्ववादी एकता, चुनाव से जन्म लेते बहुसंख्यकवाद, भारतीय बहुलतावाद के बारे में विमर्शी आस्थाओं के संकट, ब्राह्मणवाद विरोधी व कांग्रेसी धर्मनिरपेक्षता की समस्या, सामासिक संस्कृति के अंतर्विरोध तथा हिंदू वोट बैंक तैयार करने की राजनीतिक प्रौद्योगिकी का विस्तार से विवेचन किया है। पुस्तक हिंदुत्व की राजनीतिक शक्ति के विस्तार का श्रेय हिंदुत्ववादी विचारकों-नेताओं को प्रदान करने के स्थान उसका ऐतिहासिक-समाजशास्त्रीय मूल्यांकन इस प्रकार करती है कि हिंदुत्व की विजय बहुत स्वाभाविक तथा स्वीकार्य प्रतीत होने लगती है। ऐसा लगता है जैसे भारतीय इतिहास लगातार सांप्रदायिक-बहुसंख्यवादी राजनीति की कामयाबी के लिए उफन रहा था और हिंदुत्व की राजनीति के लिए हिंदुत्व कम भारतीय धर्मनिरपेक्षता व चुनावी गणनशास्त्र ज़िम्मेदार है।

पर लेखक के द्वारा उठाये प्रश्नों में यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है कि संघ विरोधियों ने संघ परिवार-भाजपा को देखने की दृष्टि को सत्तर के दशक में ही क्यों जड़ीभूत कर रखा है! संघ ने एक सीमा तक बहुलतावाद को आत्मसात कर लिया है और वह बहुलतावाद को हिंदू एकता के मार्ग में बाधक नहीं समझता है। इसी प्रकार वह आरक्षण, कमज़ोर जातियों की सत्ता में हिस्सेदारी, शिया मुसलमानों को जोड़ने, संविधान के प्रति निष्ठावान होने जैसे कई रणनीतिक प्रयासों को सफलतापूर्वक अंजाम दे चुका है, जबकि संघविरोधी संघ के बारे में सत्तर के दशक की पुरानी समझ के आधार पर उसकी आलोचना करते हैं। इस प्रकार संघ से संघर्ष करने के लिए वक़्ती फ़ैशन के दबाव में कई राजनीतिक अवधारणाओं का सहारा लिया जाता रहा जिससे संघ के विस्तार को रोकना असंभव था। केवल चुनावी जय-पराजय पर संघ के हिंदुत्व की जय-पराजय नहीं निर्भर करती है। कई चुनावों को हारने के बावजूद संघ-भाजपा का जनाधार बढ़ता रहा है और इसलिए संघ की राजनीति की काट केवल चुनाव जीतने में नहीं बल्कि दीर्घकालीन

वैचारिक अभियान में निहित है।

पुस्तक में औपनिवेशिक व उत्तर औपनिवेशिक काल में सरकारी प्रयासों के द्वारा हिंदूपन के बोध को पुख़्ता करने के प्रयासों का विस्तृत विवेचन किया है। लेखक ने यह स्थापना रखी है कि मध्ययुगीन स्थितियों तथा औपनिवेशिक बौद्धिक अभियानों -- दोनों से हिंदू आत्मछवि को लगातार गढ़े जाने की प्रक्रिया को बल मिला है तथा विभिन्न जनगणना संबंधी प्रयासों, औपनिवेशिक क़ानूनों तथा आज़ादी के बाद के क़ानूनों ने भी 'एकजुट हिंदू समुदाय' की कल्पना को बल प्रदान किया है। भारत के चौथे वायसराय लार्ड मेयो ने वर्ष 1871 में जब पहली जनगणना करायी तभी लोगों को न केवल आधिकारिक स्तर पर चतुर्वर्ण व्यवस्था में विभाजित किया गया बल्कि बिखरे हुए, असंबद्ध तथा परस्पर संघर्षरत हिंदू समुदाय को पहली बार आधिकारिक तौर पर बोध कराया कि वे हिंदू हैं। जनगणना और हिंदूपन के बोध में संबंध बना। जनगणना के माध्यम से कई निम्नजातियों ने उच्चजाति ख़ासकर क्षत्रिय होने का दावा किया ताकि वे ब्रिटिश फ़ौज में युवकों को रोज़गार दिला सकें और जनगणना में दर्ज जानकारी के आधार पर द्विज होने का गौरव प्राप्त कर सकें। आज़ादी के आंदोलन के दौरान भी हिंदू एकता व हिंदूपन के बोध को हवा मिली। 1937-47 के दौरान कांग्रेस-मुस्लिम लीग के संबंधों में जो गिरावट व टकराव दर्ज हुए, उसके पीछे कांग्रेस के 'एक पार्टीवाद' को ज़िम्मेदार माना जा सकता है जिसने लीग को मुसलमानों में यह भ्रम फैलाने का अवसर दिया कि जब पराधीन भारत में हिंदू कांग्रेस किसी प्रकार का समझौता नहीं कर रही है तो आज़ाद भारत में तो मुसलमानों को वह हाशिये पर डाल देगी। आगे चलकर हिंदू अस्मिता का बोध स्वतंत्र भारत के क़ानूनों से भी निर्मित हुआ। हिंदुओं के लिए बने क़ानूनों जैसे हिंदू विवाह क़ानून (1955) और हिंदू उत्तराधिकार क़ानून (1956) ने हिंदुओं के पारंपरिक विवाह व दूसरे सामाजिक क़ानूनों की विविधता को समाप्त कर दिया और उन्हें एक हिंदू समुदाय की तरह चित्रित किया जिसमें बौद्ध,जैन, सिख को भी सम्मिलित कर लिया। इस प्रकार लेखक के अनुसार, सावरकर की 'पुण्यभूमि व पितृभूमि' को भारतीयता का आधार बनाने की थीसिस को केंद्रीय क़ानूनों ने अपना लिया। समाजशास्त्री दीपंकर गुप्त के हवाले से लेखक ने बताया है कि जिसे हम हिंदू बहुमत मानते हैं वह इन्हीं क़ानूनों की देन है और उदारतावादी लोकतंत्र ने इसकी रचना की है। इनके बनने के बाद अदालतों में सारे मुक़दमे व विवाद हिंदू धर्मसमुदाय की स्मृति-परंपरा व उसकी विशेषताओं के केंद्र में रखकर हिंदुत्व के एजेंडे को मज़बूत करते रहे हैं।

पर हिंदू एकजुटता को उत्तर-औपनिवेशिक क़ानूनों में ढूंढ़ने की अपनी सीमाएं भी हैं। पहली बात तो यह है कि ये क़ानून किसी भी सभ्य, आधुनिक देश की पहचान हैं जिसमें शास्त्र-परंपरा के स्थान पर लिखित क़ानूनी संहिताओं का अस्तित्व संभव होता है। चूंकि वे नये क़ानून किसी धार्मिक समुदाय के सभी सदस्यों पर लागू होते हैं इसलिए उनके सिर्फ़ उसी के आधार पर बहुसंख्यकवाद पैदा होने के ख़तरे को देखना विवेक कम हड़बडी अधिक है। भारत में धर्मनिरपेक्षता तभी संभव हो सकती थी जब यहां की बहुसंख्यक हिंदू आबादी को शास्त्र व धार्मिक परंपरा के स्थान पर आधुनिक क़ानूनों के दायरे में लाया जाता। इन्हीं क़ानूनों से स्त्रियों, निम्नजातियों को अधिकार प्राप्त हुए हैं और इन्हीं के बल पर हिंदू आत्मपहचान बल्कि एक 'धर्मनिरपेक्ष देश के आधुनिक नागरिक' की पहचान अधिक पुख़्ता हुई है। बहुसंख्यकवाद प्रगतिशील क़ानूनों के माध्यम से बने धार्मिक एकताबोध पर नहीं निर्भर करता है बल्कि वह हिंदू संस्कृति के कुछ तत्त्वों जैसे उपासना की तरीक़े, मिथकों के राजनीतिकरण, प्रतिशोधमूलक मानसिकता, संख्याबल के महत्त्व को समझने और तर्क-विवेकवाद से घृणा करने की बुनियाद पर टिका होता है। मध्ययुग के कई राजा-सामंत इन प्रगतिशील क़ानूनों के अस्तित्व में आने से पहले अपने राजकाज के संचालन में हिंदू गौरव की वैचारिकी का इस्तेमाल करते रहे हैं। इसी प्रकार लेखक ने आज़ाद भारत की नेहरू सरकार को जिस प्रकार से हिंदूपन के बोध से ग्रस्त बताया है वह भी जिरहतलब स्थापना है। यह धर्मनिरपेक्ष राज्य-राष्ट्र की स्थापना

में नेहरू के योगदान के महत्त्व को अनदेखा करती है जिसमें नेहरू ने हिंदुओं को धर्मनिरपेक्षता के बोध से परिचित कराने का व्यवस्थित शासकीय-राजकीय प्रयास किया था। उसे केवल यह कहकर ख़ारिज नहीं किया जा सकता कि नेहरू एक हिंदू की तरह हिंदू संस्थाओं व हिंदू सांस्कृतिक जीवन को बदलने का प्रयास कर रहे थे। नेहरू की प्राथमिकता में जीवन के हर क्षेत्र का धर्मनिरपेक्षीकरण करना शामिल था और इसके लिए यह आवश्यक था कि देश के आम नागरिक को धार्मिक प्रथा-परंपरा के अनुसार जीवन जीने की बाध्यता से मुक्ति दिलायी जाये। नेहरू की धर्मनिरपेक्षता में सर्वधर्मसमभाव ही नहीं बल्कि वैज्ञानिक दृष्टि का प्रचार प्रसार अभिन्न हिस्सा था और इस दिशा में आधुनिक क़ानून संहिताओं को बल प्रदान कर उन्होंने कई निर्णायक क़दम उठाये थे। तिस पर अगर कोई यह तर्क दे कि नेहरू हिंदू होने का लाभ उठाकर हिंदू धार्मिक जीवन को बदल रहे थे तो इस तर्क से बहस करना बेकार है क्योंकि यह तत्कालीन स्थितियों में समाजवाद, गांधीवाद तथा पश्चिमी आधुनिकता के प्रभावों से मिलकर बने उच्चशिक्षित मानस के उदारतावादी चिंतन को भी वर्तमान हिंदुत्व के उभार के लिए दंडित करना चाहता है।

अभय कुमार दुबे की इस पुस्तक में कई स्थानों पर चुनावी जोड़तोड़ व सोशल इंजीनियरिंग की राजनीति के माध्यम से बहुसंख्यकवादी हिंदुत्व को रोकने के प्रयासों की विफलता को भी उजागर किया गया है। उत्तर भारत में ख़ासतौर पर यूपी व बिहार में बसपा के जाटववाद, सपा के यादववाद की वास्तविकता को उन्होंने पहचानने पर ज़ोर दिया है और कहा है कि ये दल किसी प्रकार के बहुजन की राजनीति का प्रतिनिधित्व नहीं करते, बल्कि ख़ास जाति -समूहों की नुमाइंदगी पर टिके हैं। ग़ैर-यादव व ग़ैर जाटव राजनीति पर ध्यान देकर भाजपा ने अतिपिछड़ों व अतिदलितों को अपने पक्ष में करने में सफलता हासिल की है। उसने कई छोटी जातिवादी पार्टियों से गठबंधन कर यह संदेश प्रसारित कर दिया है भाजपा केवल ब्राह्मण-बनिया की पार्टी न होकर वह उन सभी कमज़ोर जातियों के लिए राजनीतिक विकल्प है जिन्हें सपा-बसपा-राजद आदि में सम्मानजनक स्थान नहीं मिला। इसी प्रकार सेकुलर दलों ने मुस्लिमों के वोट को जादुई ताक़त की तरह देखा जिसे अपने पक्ष में कर वे चुनाव जीतने को लेकर आत्मविश्वास से भर जाते थे। पर लेखक ने विभिन्न चुनावशास्त्रियों व राजनीतिवैज्ञानिकों के शोधों के हवाले से दिखाया है कि इस क़िस्म की सेकुलरवादी राजनीति ने उच्चजाति के हिंदुओं को इस बात के लिए प्रोत्साहित करना बंद कर दिया कि उन्हें भी सेकुलर राजनीति में हिस्सा लेना चाहिए। सेकुलर राजनीति अपनी हिंदूविरोधी छवि तैयार किये जाने के ख़तरों से बेपरवाह बनी रही। उधर भाजपा ने ग़ैर यादव-ग़ैर जाटव जातियों को अपने साथ जोड़कर तथा सवर्णों का शक्तिशाली वोटबैंक तैयार कर चुनावों में मुस्लिम वोट का पासा पलटने वाली ताक़त को छिन्नभिन्न कर दिया। लेखक के शब्दों में, 'जिस तरह राजनीति की व्यावहारिक ज़मीन पर सेकुलरिज़्म का कूट अर्थ मुस्लिमिज़्म (सुन्नीइज़्म) हो गया, उसी तरह सामाजिक न्याय का कूट-अर्थ यादविज़्म और आंबेडकरवाद का कूट अर्थ जाटवविज़्म हो गया।'

अपनी पूरी संरचना में बहुत विचारोत्तेजक बहसों से भरी यह पुस्तक इसी प्रश्न पर आकर समाप्त होती है कि दलित, दलित चेतना, ब्राह्मणवाद, आंबेडकर-फुले-पेरियार विचारधारा, फ़ासीवाद, सामाजिक न्याय और बहुजनवाद जैसी श्रेणियों की हमारी लोकतांत्रिक राजनीति के लिए कोई उपयोगिता बची है? लोकतंत्र को हिंदुत्व के आघात से बचाने के लिए लेखक यह अपील करता है कि हमें उन ढांचागत परिवर्तनों को समझना होगा जिनके बल पर हिंदुत्व की पूरी राजनीति तेज़ी से फैलती चली गयी। हालांकि यह पुस्तक हिंदुत्व का विरोध करने वाले राजनीतिक विचारों की सीमा को प्रकट करती है, लेकिन कोई ठोस वैचारिक समाधान प्रस्तावित करने में इसकी भी रुचि नहीं है। हम अधिक से अधिक लेखक के कुछ विश्लेषणों से कुछ नतीजे अवश्य निकाल सकते हैं। जैसे यह कि सामाजिक न्याय की राजनीति केवल जाटव या यादव जैसी जातियों तक सीमित नहीं रहनी चाहिए और उसे बहुसंख्यक पिछड़ी जातियों को स्वीकार करना होगा। सेकुलर राजनीति को मुस्लिम वोट पर ज़्यादा ज़ोर देने के

स्थान पर तथाकथित सांप्रदायिक ढंग का चुनावी आचरण करने वाले हिंदू वोटों को फिर से अपने पक्ष में करना होगा। या बहुलतावाद के आधार पर हिंदुओं की राजनीतिक एकजुटता को असंभव समझने के भ्रम से हमें मुक्त होना पड़ेगा और भ्रम-मुक्त होने से ही हिंदुत्व के वैचारिक क़िले को तोड़ा जा सकता है। अल्पसंख्यकवाद से जुड़ी 'पॉलिटिकल करेक्टनेस' से मुक्ति भी ज़रूरी है ताकि इस सच को पहचाना जा सके कि अल्पसंख्यकों में भी शिया मुस्लिमों व सिखों का बड़ा हिस्सा बहुसंख्यकवाद के साथ सहयोग कर रहा है। कुल मिलाकर यह पुस्तक हिंदुत्व की राजनीति के बारे में हमारी समझ को गहरा बनाने के लिए हिंदुत्वविरोधी राजनीति की व्यवहारिक व वैचारिक समस्याओं का बारीक़ अध्ययन प्रस्तुत करती है। यह सेकुलर-उदार राजनीति को आत्मघाती भ्रमों से घिरा हुआ दिखाती है और उसके भ्रम-निवारण का बौद्धिक प्रयास करती है।

अब हम भिन्न निष्कर्ष प्रदान करने वाली और भिन्न विषयवस्तु पर केंद्रित एक अन्य पुस्तक पर चर्चा कर सकते हैं जिसकी लेखन शैली इस पुस्तक से मिलती है। यह है वर्ष 2012 में प्रकाशित ब्रिटिश मार्क्सवादी विचारक पैरी एंडरसन की पुस्तक, *द इंडियन आइडियोलॉजी*। इसमें भी भारत की वर्तमान दुर्दशा के कारणों की समीक्षा के लिए गांधी के राजनीतिक प्रयोगों, नेहरू की विफलताओं व विभाजन के अमानवीय फ़ैसले का सख़्त विश्लेषण किया गया है। हिंदू भारत के निर्माण की प्रक्रिया को समझने के लिए इतिहास को जांचा-परखा गया है। वर्तमान में भारत में विभिन्न क़िस्म के राजनीतिक-सामाजिक संकट इतने गहरा रहे हैं कि जो विदेशी राजनीति-वैज्ञानिक भारत का अध्ययन कर रहे हैं वे भारत की स्वातंत्र्योत्तर लोकतांत्रिक यात्रा की सफलता के दावों को चुनौती दे रहे हैं। स्वतंत्र भारत में लोकतंत्र के कामयाब होने के दावों को ब्रिटिश विचारधारा और हिंदुत्ववादी दृष्टिकोण, दोनों से चुनौती मिल रही है। जिन पुस्तकों के माध्यम से ये काम किये जाते रहे हैं, उनकी न तो पहले कोई कमी थी और न आज कोई कमी है। पेरी एंडरसन ने अपनी पुस्तक, *द इंडियन आइडियोलॉजी* के माध्यम से भी यही काम किया है।

एंडरसन प्रतिष्ठित पत्रिका, *न्यू लेफ़्ट रिव्यू* के संपादक रहे हैं। अपनी पुस्तक में उन्होंने भारत में लोकतंत्र की स्थिरता, बहुसांस्कृतिक एकता-सहिष्णुता और भारतीय राज-व्यवस्था की निष्पक्ष धर्मनिरपेक्षता को 'द आइडिया आफ इंडिया' के केंद्रीय विचार की तरह प्रस्तुत करने के दावों की सीमाएं प्रस्तुत करने का काम करते-करते उन्हें लगभग ख़ारिज कर दिया है। उन्होंने लोकतंत्र, सहिष्णुता, धर्मनिरपेक्षता को मुख्यधारा का विमर्श यानी 'इंडियन आइडियोलॉजी' माना और इसकी सीमाएं प्रकट करने के उद्देश्य से अपनी पुस्तक लिखी है। यह पुस्तक भारत के बारे में पांच बड़ी स्थापनाओं को प्रस्तुत करने का दावा करती है। पहली, भारत की एकता-अखंडता का किसी छह हज़ार वर्ष के कालखंड में फैला होना एक भ्रम है। दूसरा, गांधी के द्वारा राष्ट्रीय आंदोलन में धर्म का प्रयोग विनाशकारी साबित हुआ। तीसरा, भारत के विभाजन के लिए अंग्रेज़ नहीं बल्कि कांग्रेसी नेतृत्व ज़िम्मेदार था। चौथा, स्वतंत्रता के बाद नेहरू के प्रशंसकों के दावों के विपरीत नेहरू की विरासत बहुत संदिग्ध व अंतर्विरोधपूर्ण है। पांचवा, जातिगत विषमताएं भारतीय लोकतंत्र को कमज़ोर नहीं बल्कि सशक्त बनाती हैं।

पुस्तक में गांधी के बारे में कड़ा आलोचनात्मक रवैया मौजूद है। उनके विभिन्न राजनीतिक प्रयोगों में उनकी ग़लतियों व समझौतापरस्ती के प्रमाण तलाशे गये हैं। उदाहरण के लिए, उनके किसान आंदोलनों पर भी प्रश्नचिह्न लगाते हुए यह तथ्य बताया गया है कि गांधी ने बारादोली (गुजरात) में उन इलाक़ों में किसानों के बीच आंदोलन किया जो रैयतवाड़ी व्यवस्था के अधीन थे और उन्होंने ज़मीदारी व्यवस्था के अंतर्गत आने वाले गांवों में आंदोलन का इसलिए समर्थन नहीं किया ताकि कहीं कांग्रेस से ज़मींदारों का वर्ग नाराज़ न हो जाये। पैरी एंडरसन ने भारतीय राष्ट्र को मूलतः हिंदू धर्म से संचालित होता हुआ बताया है जिसमें आर्म्ड फ़ोर्सेज़ स्पेशल पावर ऐक्ट (AFSPA) जैसे जनविरोधी क़ानून भी कश्मीर, नागालैंड, मिज़ोरम, पंजाब आदि प्रदेशों में लगाये जाते हैं जहां हिंदू

धर्म का वर्चस्व नहीं है।

यह किताब तीन अध्यायों में विभाजित है- इंडिपेंडेंस, पार्टिशन और रिपब्लिक। पैरी एंडरसन ने भारत की उदार-धर्मनिरपेक्ष अवधारणा को केवल भारतीय सत्ताधारी वर्ग की आत्ममुग्ध सोच बताया है, जिसका यथार्थ से सबंध नहीं है। इस किताब की विवादास्पद स्थापनाओं का जवाब देने के लिए 2015 में एक और किताब प्रकाशित की गयी -- *द इंडियन आइडियोलॉजी- थ्री रिस्पांसेज़ टू पैरी एंडरसन*। इस किताब में तीन लोगों ने पैरी एंडरसन की स्थापनाओं की कड़ी आलोचना करते हुए लेख लिखे। ये तीन विद्वान थे- सुदीप्तो कविराज, निवेदिता मेनन और पार्थ चटर्जी। इसमें सबसे दिलचस्प व कठोर अकादमिक तरीक़े से निवेदिता मेनन ने पैरी एंडरसन के उठाये सवालों का जवाब दिया है। उनका मत है कि भारत की स्वतंत्रता, उसकी धर्मनिरपेक्ष अवधारणा तथा उसकी नेहरूवादी विरासत पर सवाल उठाना कोई मौलिक विचार नहीं है बल्कि वह ब्रिटिश विचारधारा व सोच का ही विस्तार है। यह इतिहास लेखन के उस 'कैंब्रिज स्कूल' के निकट है जिसमें माना जाता है कि ब्रिटिश साम्राज्यों ने अपने उपनिवेशों के आधुनिकीकरण में सहायता प्रदान की थी। भारतीयों के राजनीतिक चिंतन के मुक़ाबले 'श्वेत साम्राज्य' को विश्व के लिए हितकर माना जाता था। इसी प्रकार भारत की आज़ादी को भारतीयों के संघर्ष का परिणाम नहीं माना जाता है। यह कहा जाता है कि भारत में अंग्रेज़ों ने ही विभिन्न क़िस्म की राजनीतिक संस्थाओं का विकास किया और फिर अंतर्राष्ट्रीय स्थितियों के कारण उन्हें भारत को स्वतंत्र करना पड़ा। इस प्रकार भारत की स्वतंत्रता दो कारणों पर निर्भर थी और वे दोनों भारतीयों के त्यागमय संघर्ष से निरपेक्ष थे। एक था अंग्रेज़ों के द्वारा प्रतिनिधिक राजनीतिक संस्थाओं (representative institutions) का विकास और दूसरा था अंतर्राष्ट्रीय पटल पर साम्राज्यवादी देशों द्वारा अंग्रेज़ों की सत्ता को चुनौती। आज़ादी के बाद के भारतीय इतिहास के प्रति भी ऐसा ही नकारवादी रवैया मौजूद है। भारत की धर्मनिरपेक्षता व भौतिक विकास की उपलब्धियों को नकारने के लिए इसे मूल रूप से एक 'हिंदू स्टेट' के रूप में चित्रित किया जाता है और 2014 में भाजपा की पूर्ण बहुमत से सरकार बनने के बाद इस धारणा को और बल मिलने लगा है। पैरी एंडरसन ने भारतीय राज्य को 'कनफ़ैशनल स्टेट' का नाम दिया है। यानी ऐसा राज्य जिसमें केवल एक संप्रदाय का महत्त्व होता है और यह कैथोलिक धर्म के प्रभाव वाले यूरोपीय देशों से निकला हुआ शब्द है। निवेदिता मेनन लिखती है, 'भारत में अधिकांश हिंदुओं के वोट ग़ैरहिंदूवादी पार्टियों में विभाजित होते रहे हैं। मोदी को भी हिंदुत्व के बजाय विकास के मुद्दों पर बार-बार लौटना पड़ता है। यह कहना भी ग़लत है कि जो भाजपा को अपना मत देते हैं, वे सभी हिंदुत्व के पक्षधर हैं। इसलिए भारत को मूल रूप से हिंदू स्टेट कह देना समझदारी का काम नहीं है।' भारत के विभाजन के लिए कांग्रेस, नेहरू या गांधी को पूरी तरह ज़िम्मेदार ठहराना अनैतिहासिक सोच है। भारत के विभाजन के अपराध को केवल कांग्रेस के ऊपर थोपने वाले यह नहीं जानते हैं कि साइप्रस, फ़िलस्तीन और आयरलैंड में भी विभाजन की घटना को अंजाम दिया गया है और वहां न तो नेहरू मौजूद थे, न कांग्रेस।

इस प्रकार की पुस्तकें भारतीय विचारधारा (इंडियन आइडियोलॉजी) की खोज करने का दावा करते-करते ब्रिटिश विचारधारा के पाले में चली जाती हैं। उनके माध्यम से जिस उपनिवेशवादी 'ब्रिटिश विचारधारा' का प्रचार-प्रसार होता है, वह हिंदुत्ववादी वैचारिकी के साथ मिलकर इस धारणा का खंडन करती है कि भारत ने सफलतापूर्वक धर्मनिरपेक्षता को लागू किया है और वह आधुनिक क़िस्म के राज्य-राष्ट्र के बल पर राजनीतिक स्वतंत्रता को बनाये रखने में सक्षम है। हिंदुत्व की विचारधारा भी भारतीय धर्मनिरपेक्षता, सहिष्णुता व स्वतंत्रता आंदोलन की सामूहिक उपलब्धियों के प्रति गहरी वितृष्णा से भरी हुई है। उसमें भी माना जाता है कि संघ-भाजपा ही पिछले साठ वर्ष की ऐतिहासिक ग़लतियों को सुधारने का काम बेहतर विज़न के साथ कर सकते हैं। दूसरी ओर, ब्रिटिश-औपनिवेशिक वैचारिकी भी हर निश्चित अंतराल पर सामने आती है जिसमें भारत के स्वतंत्रता आंदोलन के

नायकों, स्वातंत्र्योत्तर भारत की स्वतंत्र राजनीतिक यात्रा तथा उसके संस्थानिक विकास की आलोचना के नाम पर उसे केवल धर्म-संप्रदाय से जुड़ी चेतना का विस्तार माना जाता है। भारतीय समाज में यूरोप जैसी धर्मनिरपेक्षता, उदार लोकतंत्र व नागरिक चेतना का विस्तार न दिखने पर भारत के लोकतंत्र की सफलता पर प्रश्न लगाने का प्रयास किया जाता है। भारत में हिंदू व मुस्लिम झगड़ों को गहरे सभ्यतागत मतभेद का परिणाम बताकर उन्हें किसी साझे राष्ट्रवाद के प्रतिकूल बताया जाता है जबकि सच यह है कि सांप्रदायिकता पूरी तरह से आधुनिक समस्या है और इसके जन्म के निर्णायक कारण आधुनिक क़िस्म के राष्ट्र-राज्य के उदय की परिस्थितियों में निहित हैं। आशीष नंदी और विपिन चंद्रा ने विस्तारपूर्वक पहले ही इस बारे में लेखन किया है जिस पर आज अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। कुल मिलाकर एंडरसन की पुस्तक किस पुरानी औपनिवेशिक समझ पर आधारित है, इसका विस्तार से विवेचन इसी पुस्तक की प्रतिक्रिया में प्रकाशित, *द इंडियन आइडियालाजीः श्री रिस्पांसेज़ टु पैरी एंडरसन* नामक पुस्तक में किया गया है।

मो. 9711312374

पुस्तक संदर्भ

1. हिंदू एकता बनाम ज्ञान की राजनीति **: अभय कुमारे दुबे, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2019**

2 . *इंडियन आइडियोलॉजी* : पैरी एंडरसन, वर्सो लंदन, 2012

3. *द इंडियन आइडियोलॉजी- श्री रिस्पांसेज़ टु पैरी एंडरसन* : पार्थ चटर्जी, सुदीप्तो कविराज, निवेदिता मेनन, द ओरियंट ब्लैकस्वान, 2015

कुछ कविता संग्रहों को पढ़ते हुए : कुछ नोट्स

राजेश जोशी

1. *कवि मन जनी मन*: आदिवासी स्त्री कविताएं

यह समीक्षा नहीं है। कुछ कविता संग्रहों को पढ़ते हुए बने इम्प्रेशन्स हैं। वंदना टेटे ने आदिवासी स्त्री कविताओं का एक संकलन संपादित किया है -*कवि मन: जनी मन*। स्त्री के लिए 'जनी' शब्द मैंने अपनी नानी के मुंह से कभी सुना था। वे मालवा की थीं। शहरी भाषा में विस्मृत हो गये इस शब्द की स्मृति को वंदना ने पुनः जीवित कर दिया। इन कविताओं में ऐसे दर्जनों शब्द हैं , जैसे टोनही नरेटी, टोकी, पियार, पिठोर, खुखड़ी, रूगड़ा,कांदो आदि जो हिंदी कविता में कहीं नहीं सुनायी या दिखायी देंगे। आदिवासी कविता ने हमारी भाषा को ही नये शब्द नहीं दिये हैं, उसने शहर और गांव तक सीमित हमारे भूगोल को जंगलों तक विस्तृत कर दिया है। डॉ. रोज केरकेट्टा की कविता 'पत्थलगढ़ी' हिंदी कविता के लिए बिल्कुल नया अनुभव है। उसकी मार्मिक पंक्तियां हैं : 'भाई मेरे तुमसे अपील करता / बहन से भी निवेदन करता / कभी किसी दिन माघ महीने में / कर देना पत्थलगड़ी / याद कर भाई को।' हिंदी कविता में बहुत सारे नये अनुभव इन कविताओं से जुड़ रहे हैं।

कवि मन जनी मन आदिवासी स्त्री कविताओं का पहला संग्रह है। वंदना टेटे ने अपनी भूमिका में लिखा है कि इससे पहले आदिवासी स्त्री कवियों का कोई साझा संकलन प्रकाशित नहीं हुआ । इसमें बारह स्त्री कवियों यथा सुषमा असुर, डॉ. रोज केरकेट्टा, ग्रेस कुजूर, प्यारी टूटी, डॉ. फ्रांसिस्का कुजूर, उज्ज्वला ज्योति तिग्गा, डॉ. दमयन्ती सिंकु, डॉ. शांति खलखो, यशोदा मुर्मू, ज्योति लकड़ा, जसिंता केरकेट्टा और वंदना टेटे की कविताएं, उनके परिचय के साथ संकलित की गयी हैं। वंदना टेटे ने भूमिका में लिखा है कि आदिवासी स्त्री का चिंतन केंद्र स्व, समुदाय और सामुदायिकता के साथ ही प्रतिध्वनित होता रहा है। इसलिए इस संग्रह को 'नारीवाद' की प्रस्तावना या अभिव्यक्ति मान लेना किसी भी रूप में उचित नहीं होगा। यह संकलन महज़ आदिवासी स्त्रियों को एक साथ पढ़ने-सुनने के लिए है। वंदना टेटे का मत है कि आदिवासी जनी मन का धरातल बिल्कुल दूसरी तरह का है। आदिवासियत के दर्शन पर खड़ा सम भाव ही उसकी मूल प्रकृति है। सामाजिक सत्ता द्वारा थोपा गया कोई दूसरा नक़ली भेद नहीं है। वंदना ने लिखा है कि सामंती क्रूरता और धार्मिक आडंबरों के क़िले में आदिवासी स्त्री बिल्कुल क़ैद नहीं है। आदिवासी समाज में पुरुष सत्ता नहीं होने से स्त्रीवाद भी नहीं है। वंदना का मत है कि कहीं-कहीं कविता में पुरुष उत्पीड़न के दृश्य मिलते हैं, तो उसकी वजह 'सभ्यता' नामक बीमारी है, आदिवासी दर्शन और संस्कृति नहीं। 'सभ्यता' से संपर्क से पहले पुरुष सत्ता जैसी कोई अवधारणा आदिवासियों की सामाजिक व्यवस्था में हमें नहीं मिलती। यह बात यशोदा मुर्मू भी मानती हैं कि जो स्त्रीपन कविताओं में आया है, वह निस्संदेह ग़ैरआदिवासी समाज के प्रभाव से सामने आया है। ज्योति लकड़ा ने भी इसे बाहरी प्रभाव माना है। लेकिन चाहे ज्योति लकड़ा की 'तुम्हारा डर' या 'टोनही' जैसी कविताएं हों या यशोदा मुर्मू की 'स्वाधीन भारत में है कहां नारी का स्थान' कविता हो, स्वयं वंदना टेटे की 'तुम कौन हो?' जैसी कविता हो, इन सबमें कहीं न कहीं स्त्री के उत्पीड़न की निशानदेही की जा सकती है। लेकिन फिर भी मराठी कवि भुजंग मेश्राम का वह मत मायने रखता है कि आदिवासी समाज की

संरचना अलग तरह की है, अतः उसको दलित विमर्श से अलग करके देखा जाना चाहिए।

इन बारह स्त्री-कवियों की कविताएं पढ़ते हुए लगता है कि आदिवासी स्त्री-कविता के केंद्र में प्रकृति, जातीय संस्कृति और अलग अलग समुदायों की भाषा को बचाने की चिंता प्रमुख है। साथ ही, यह कविता विकास की अवधारणा और योजनाओं के कार्यान्वयन में हो रहे भेदभाव पर भी लगातार सवाल उठाती है। आदिवासी स्त्री-कविता सिर्फ़ विचार के स्तर पर ही काम नहीं कर रही है। ज़्यादातर कवि हिंदी के अलावा अपनी भाषा में अध्ययन भी कर रही हैं और उसमें लिख भी रही हैं। कई कवि एक्टिविस्ट हैं और जनआंदोलनों से जुड़ी हैं। संस्कृति के सवाल तो लगभग सभी स्त्री कवियों ने अपने अपने स्तर पर उठाये ही हैं। ये सारे सवाल एक दूसरे से जुड़े हैं। भाषा का सवाल संस्कृति का सवाल भी है :

जाकर बताओ सबों को / कुड़ुख है मेरी मातृभाषा।

इसी कविता में डॉ. फ्रांसिस्का कुजूर आगे कहती हैं:

भाषा है समाज का मेरुदंड
बचाता है जो समाज की संस्कृति
बचाता है जो अपनों की पहचान
समझो सभी कुड़ुख भाई बहनो !
भाषा के इस गूढ़ रहस्य को
भाषा गयी ,पहचान गयी, अस्मिता गयी

इसी तरह सुषमा असुर कहती हैं कि 'पहाड़ का घर खतम हो रहा है। भाषा भी नहीं रहेगी तो / गीतों का मेला कहां लगेगा।' पहाड़ और भाषा के ख़त्म होने की चिंता विकास की प्रक्रियाओं पर भी सवाल उठाती है। इसी कविता में आगे सुषमा कहती हैं कि 'हमने बनाया था लोहा / अब उसी लोहे से कंपनी वाले / धरती कोड़ कोड़ लहू बहा रहे हैं / उसी लोहे से मार रहे हैं / रो रहे हैं असुर सारे।'

उज्ज्वला ज्योति तिग्गा की कविता 'शिकारी दल अब आते हैं' की पंक्तियां हैं :

विकास के नये माडल्स के रूप में
दिखाते हैं सब्ज़ बाग़
कि कैसे पुराने जर्जर जंगल
का भी हो सकता है कायाकल्प
कि एक कोने में पड़े
सुनसान उपेक्षित जंगल भी
बन सकते हैं
विश्वस्तरीय वन्य उद्यान
जहां पर होगी
विश्वस्तरीय सुविधाओं की टीमटाम
और रहेगी विदेशी पर्यटकों की रेल-पेल
और कैसे घर बैठे खायेंगी
शेर-हाथी और भालू की
अनगिन पुश्तें।

आदिवासी स्त्री-कविता में विकास के मॉडल को लेकर बार बार सवाल उठाये गये हैं। इसी मॉडल ने उन्हें उनकी ही ज़मीन से विस्थापित कर डाला है। डॉ. शांति खलखो की एक दिलचस्प कविता है, 'वैश्वीकरण'। कुछ पंक्तियां दृष्टव्य हैं :

हमारे बीच में घुस गया है ये 'करण'

औद्योगीकरण, शहरीकरण, संस्कृतीकरण,
इन सबसे हम हैं परेशान
इससे निकलना नहीं है आसान
बहुत बड़े बड़े हैं ये 'करण'
बाज़ारीकरण, उदारीकरण, वैश्वीकरण
ये 'करण' हमें निगल रहा
तन मन को पूरा ही लील रहा।

जसिंता केरकेट्टा की कविता एक जिरह करती कविता है। विकास के मॉडल और विस्थापन के सवाल पर जसिंता की अनेक चर्चित कविताएं हैं। 'पहाड़ों पर उगे असंख्य बांसों का रहस्य' में एक तरह की फ़ैंटेसी भी है और नाटकीयता भी। इसमें प्रतिरोध को, बल्कि कहना चाहिए कि सीधे संघर्ष को सुना जा सकता है।

मैं कुरूआ में सो रहा था
अचानक ज़मीन हिलने लगी
देखा ज़मीन का एक टुकड़ा
जेसीबी मशीन के पंजों पर था
अपनी ज़मीन के टुकड़े के साथ
मैं भी लटका था मशीन पर
तब महसूस हुआ मुझे
अपनी ज़मीन सहित उखड़ जाने का दर्द।

इसी कविता के अंत में वाचिका कहती है कि 'इस बार बांस बाज़ार नहीं जायेंगे / वे हाथों में तीर धनुष बनेंगे।' और इसी से उसे पहाड़ों पर उगे असंख्य बांसों का रहस्य समझ में आता है। ग्रेस कुजूर भी अपनी कविता – 'एक और जनी-शिकार' में भी इसी तरह के सीधे संघर्ष की बात कहती है : 'मैं बनूंगी एक बार और / सिनगी दई / बांधूंगी फेंटा /और कसेगी फिर से / बेतरा की गांठ / और होगा / झारखंड में / फिर एक बार / एक जबरदस्त जनी-शिकार।' वंदना टेंटे ने अपनी कविता, 'पके धान के खेतों से दूर' में सलवा जुड़ूम के डर का सवाल भी उठाया है। उन्हें उम्मीद है कि यह डर दूर होगा और फिर से घोटुल में हंसी गूंजेगी।

कहना न होगा कि आदिवासी विमर्श एक स्तर पर आदिवासी समाज के विकास के मॉडल का विमर्श भी है। वंदना टेटे को इसीलिए यह चिंता भी है कि 'नहीं जान पायेंगे मेरे बच्चे / बारिश से पहले क्यों चीटियां / अपने अंडे लिये भागती हैं।'

2. *लछमनिया का चूल्हा*

विश्वासी एक्का का यह पहला कविता संग्रह है। एक्का ने लिखा है कि 'संग्रह का यह नाम रखने की प्रेरणा उनको गांव में चूल्हा फूंकती स्त्रियों से मिली। कभी कभी एक पंक्ति, एक बिंब या एक आब्ज़र्वेशन बता देता है कि कवि कहां से देख रहा है, क्या देख रहा है और उसके देखने का दृष्टिकोण क्या है।' वंदना टेटे ने एक्का की कविताओं की भूमिका में यह सवाल उठाया है कि 'कविता के बारे में पूरी परंपरा की और रामचंद्र शुक्ल की जो समझ है, आदिवासी कविता की समझ उससे अलग है। क्योंकि आदिवासी समाज का तो पूरा जीवन ही काव्यात्मक है।' वंदना टेटे का मत है कि 'कविता सिर्फ़ रस की अनुभूति, सुंदरता का अर्थ बताने और मात्र मनुष्य के रागात्मक संबंध की रक्षा के लिए नहीं होती।' वह असल में सुंदरता और असुंदरता की परिधि से बाहर समूची सृष्टि की अभिव्यक्ति होती है। वंदना को लगता है कि हम सिर्फ़ मनुष्यों की भाषा जानते हैं, इसलिए सृष्टि के अन्य तत्वों की कविता को नहीं समझ पाते। उनको लगता है कि आदिवासी समाज और ग़ैरआदिवासी समाज में कविता की समझ को लेकर

यही मूल अंतर है। आदिवासी कविता वस्तुतः कठिन और जटिल जीवन संघर्षों की कविता है । यहां उसे लगातार भूख से, कॉरपोरेट कंपनियों से, फ़ौजी संगीनों से और सलवा जुडूम जैसे सरकार द्वारा प्रायोजित हिंसक समूहों से हर पल संघर्ष करना पड़ रहा है। कॉरपोरेट घराने फ़ौजों और सलवा जुडूम जैसे पालतू हिंसक समूहों के द्वारा आदिवासियों को लगातार उनके जल, जंगल और ज़मीन से बेदख़ल करने में जुटे हैं। इन उत्पीड़नों और संघर्षों के दृश्य पूरी आदिवासी कविता में देखे जा सकते हैं।

विश्वासी एक्का की कविता में अक्सर एक प्रच्छन्न सी छोटी कहानी मौजूद होती है। एक दृश्य मौजूद होता है। उसमें पात्र अपने नाम के साथ दाख़िल होते हैं। संज्ञाओं की ऐसी उपस्थिति शहरी कविता में अक्सर नहीं होती और अगर होती है तो वहां पात्र का नाम किसी नाटकीय प्रयोजन को पूरा कर रहा होता है। एक्का की कविता में पात्र सहज ही अपने नाम के साथ आता है , अपने सारे सुख दुख के साथ। सुखमतिया का सुख है, तो उसका दुख भी है। उसकी गठरी में, 'भुना चना, उबला हुआ सरई/ और इमली बीज मिला / मीठा महुआ / और ढोंसा रोटी' है तो इस गठरी के बोझ से सुखमतिया की कमर झुक जाने का दुख भी है। 'भूख' कविता में भूख की भयावह तस्वीर है, पर बिना किसी बलाघात के या बिना किसी अतिशयोक्ति और शोर के। भयावहता को किसी अतिशयोक्ति की ज़रूरत नहीं होती। इस बरजोर भूख में - 'लोग भूखे, गाय बैल भूखे, शेर भूखा।' शेर दहाड़ता है। मिट्टी के घरों के आसपास चक्कर काटता है। इससे परिवार के लोग तो भयभीत हैं ही लेकिन, भूख से बेहाल होकर बाड़ा तोड़ कर बारहासिंघा भी बाहर निकल आया है। और इसी भयावह दृश्य में बुधना बाहर निकल कर शेर का अधखाया शिकार उठा लाता है। सतझरी यानी सप्ताह भर चलती बारिश रुक गयी है । बुधना स्वयं गुमसुम है लेकिन आसपास जिसने भी इस घटना के बारे में सुना, वह कहता है कि बुधना बड़ा बहादुर है। इस भयावह और क्रूर विडंबना को एक्का कितने सहज ढंग से लगभग एक छोटी सी कथा की तरह अपनी कविता में कह देते हैं। एक्का की कविता वस्तुतः आदिवासी समाज की विडंबनाओं की कविता है। उसमें सहजता है। उसके आब्ज़र्वेशन कई बार अचंभित कर देते हैं। 'बया का घोसला', 'गोंदना', 'ज़हर और ज़हरीली हवा' जैसी कविताओं में विडंबनाओं को पकड़ने की एक्का की क्षमताओं को देखा जा सकता है। 'बचाना है आदिवासियों को' में व्यंग्य की कचोट को महसूस किया जा सकता है:

आदिवासी न होते
तो कैसे होता स्वागत
नेताओं का
कौन बजाता तालियां भीड़ बढ़ाकर
कौन करता करमा और शैला नृत्य।

इसके साथ ही इन आदिवासियों का हमारे शहरी और तथाकथित सभ्य समाज के लिए और क्या क्या उपयोग हैं, वे भी एक्का ने गिना दिये हैं। एक तो इन्हें खूबसूरत पेंटिंग में बदला जाता है। इन पर शोध होते हैं। इनके विकास की और इनके संरक्षण और संवर्धन की बातें होती हैं। लेकिन विडंबना यह है कि दस बरस बाद जब जनगणना होती है, तो इनकी जनसंख्या कम हो जाती है। इन बहुतेरी योजनाओं के लिए आदिवासियों को बचाकर रखना ज़रूरी है।

यह बहुत छोटा सा संग्रह अपने में बहुत कुछ समेटे है। इसको पढ़ते हुए हम सिर्फ़ आदिवासी समाज की समस्याओं, सुख-दुख और विडंबनाओं को ही नहीं जानते हैं, इससे हमारे तथाकथित सभ्य समाज के चरित्र की भी कलई उतरती है।

जड़ों की ज़मीन

जड़ों की ज़मीन जसिंता केरकेट्टा की कविताओं का दूसरा संग्रह है, जो अपनी कविताओं के अंग्रेज़ी अनुवाद के साथ प्रकाशित हुआ है। इसके प्राक्कथन में जसिंता ने अपनी मां के बारे में लिखा है कि उन्होंने अपना गांव कभी

इसलिए नहीं छोड़ा क्योंकि अपने गांव की ज़मीन से उनका स्वाभिमान जुड़ा है। और इसमें वृहद् आदिवासी समाज की जल-जंगल-ज़मीन-ज़मीर और ज़ुबान के संघर्ष का सार दिखता है मुझे। यानी यह संघर्ष सिर्फ़ जल, जंगल और ज़मीन तक नहीं, बल्कि ज़मीर और ज़ुबान का संघर्ष भी है। गांव और शहर के बीच के संबंध और द्वंद्व को तलाशने और रेखांकित करने की कोशिश इस पूरे संग्रह में दिखायी देती है। अपने इस संग्रह के बारे में जसिंता ने लिखा है कि 'जंगल, फूल, नदी, पहाड़, स्त्री, गांव, शहर सबसे जुड़ी संवेदनाओं का संग्रह मैं अपने इस संग्रह को मानती हूं।' यह सही है कि प्रकृति की उपस्थिति लगातार जसिंता की कविता में बनी रहती है लेकिन इस संग्रह के केंद्र में शहर की बेचैनी मौजूद है। शहर को लेकर 'यहीं कहीं इसी शहर में', ' शहर और गाय', 'शहर की नसों में', 'शहर की नाक', 'शहर की बेचैनी' जैसी कविताएं तो हैं ही, साथ ही अन्य कई कविताओं में भी शहर किसी न किसी रूप में मौजूद है :

आधी रात की बेचैनी में
पसीने से भीगा यह शहर
उठेगा एक दिन
और मांगने लगेगा तुमसे
अपना सुकून
अपना पहाड़
अपना असली चेहरा।

शहर से संवाद करती यह कविता मुझे लगता है कि इस संग्रह की केंद्रीय थीम है। जसिंता को महसूस होता है कि शहर का वर्तमान चेहरा उसका वास्तविक चेहरा नहीं है। कम से कम वह चेहरा नहीं है जो शहर का होना चाहिए। इसलिए उसको लगता है कि एक दिन ऐसा आयेगा जब यह शहर सारे दरवाज़ों को तोड़कर, अपने असली चेहरे की तलाश में यात्रा पर निकल जायेगा। जब तुम उससे यह सवाल करोगे कि वह तुम्हें छोड़ कर क्यों जा रहा है, तो वह पलटकर तुमसे पूछेगा:

लाखों आविष्कार किये तुमने
पर तुम्हारी कोख से
क्यों जन्म नहीं लेता
कोई बुद्ध, कोई बिरसा मुंडा ?
तुम दलील दोगे
'आख़िर आदमी को सभ्य किसने बनाया?'
वह कहेगा
'एक पेड़ किसी आदमी को
बुद्ध बना सकता है
कोई जंगल
किसी को बिरसा मुंडा
तो फिर तुम्हारी ज़रूरत क्या है ?

यह सिर्फ़ शहर के वर्तमान स्वरूप पर ही उठाया गया सवाल नहीं है। यह सभ्यता के वर्तमान स्वरूप पर भी उठाया गया सवाल है। एक स्तर पर सभ्यता समीक्षा। कविता में यह चिंता भी है कि ऐसे ही शहर लगातार बनाये जायेंगे जिनमें हर स्तर पर बहुलता को नष्ट करके एकसापन स्थापित कर दिया जाये।

एक कुनबा निकल पड़ता है
फिर कोई नया शहर तैयार करने की कवायद पर
जिन पर थोपी जा सके

ऐसी विरासतों को संभालने की ज़िम्मेदारी
या फिर कोई ऐसी कोख ढूंढने का जतन
जो एक ही चेहरा
एक ही विचार
एक ही व्यवहार वाले बच्चों को
पैदा करने को अभिशप्त हो।

यह जैसे हमारी पूरी शहरी सभ्यता पर की गयी टिप्पणी है जो प्रकृति की और संस्कृति की बहुलता को नष्ट करके एकसापन थोपने की कोशिश में लगी है। तानाशाही इसकी कोख में मौजूद है। जसिंता की कविता की एक बड़ी खूबी यह है कि वह सिर्फ़ विक्टिम या उत्पीड़ित व्यक्ति की कविता नहीं है, वह एक लड़ते हुए आदमी की, एक जुझारू समाज की कविता है। इसलिए उसमें हर मुद्दे पर लगातार चलती जिरह भी है और लड़ने वाले समाज के दृश्य भी।

जसिन्ता की एक छोटी-सी कविता, 'खिड़की' उसके अपने स्वभाव और दृष्टि को भी स्पष्ट कर देती है। कविता की अंतिम पंक्तियां हैं :

यह खिड़की सिखाती है मुझे
अंदर रहते हुए
कैसे देखा जाता है बाहर।

यह कविता अंदर को छोड़ कर बाहर निकल जाने की नहीं, बल्कि अंदर रहते हुए बाहर को देखने की कविता है। जहां हर तरह के अन्याय के ख़िलाफ़ सब एक साथ निकल पड़ते हैं।

मो. 9424579277

पुस्तक संदर्भ

1. *कवि मन: जनी मन* : आदिवासी स्त्री कविताएं : सं. वंदना टेटे, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2019
2. *लछमनिया का चूल्हा* : विश्वासी एक्का,प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, रांची, 2018
3. *जड़ों की ज़मीन* : जसिन्ता केरकेट्टा, भारतीय ज्ञानपीठ. नयी दिल्ली, 2018

एक अच्छे कवि की सामर्थ्य

मुकेश कुमार

1. मनुष्यता के *ऋतुरैण* में कविता का ग्रीष्म

एक अच्छे कवि की सामर्थ्य केवल इतनी नहीं होती कि वह जो दिख रहा है उसे संवेदनशीलता के साथ सशक्त भाषा के ज़रिये प्रभावशाली ढंग से व्यक्त कर सकता है और उसके उस अर्थ को रचता एवं परिभाषित करता है जो सामान्य की नज़र में नहीं आता। उसकी सामर्थ्य की परीक्षा एक से अधिक मोर्चों पर होती है। उसे विचारों, संवेदनाओं और संप्रेषण, हर प्रतिमान पर खरा उतरना होता है। इसीलिए अच्छी कविता भी बहुस्तरीय होती है, वह चालू मुहावरों को तोड़कर कहन का नया अंदाज़ रचती है। वह अपनी भाषा या गढ़न से केवल चमत्कृत नहीं करती, कोई कौतूहल या खुशनुमा एहसास ही पैदा नहीं करती बल्कि पाठक के अंदर एक बेचैनी को भी जन्म देती है। वह देश और काल दोनों का अतिक्रमण करती है, उनके आरपार देखती है और वर्तमान को अतीत एवं भविष्य से जोड़ती भी चलती है।

शिरीष कुमार मौर्य इसीलिए एक सशक्त कवि हैं क्योंकि वे बखूबी ये काम करते रहे हैं। उनके पहले के कविता संग्रहों को हिंदी जगत में जैसी स्वीकृति मिली, वह इसका प्रमाण है। उनका नया कविता संग्रह, *ऋतुरैण* इस विश्वास को और भी पुख़्ता करता है कि एक कवि के रूप में उनकी यात्रा नये मार्गों का अन्वेषण करते हुए निरंतर आगे बढ़ रही है। *ऋतुरैण* में उन्होंने ऋतुओं के आवागमन को एक नयी दृष्टि के साथ देखा और प्रस्तुत किया है। यह नयी दृष्टि गहरी मानवीय संवेदनाओं और सामाजिक सरोकारों से निर्मित है। यह दृष्टि उनमें पहले नहीं थी ऐसा नहीं है। इस दृष्टि के दर्शन वे अपनी पूर्व की कविताओं में भी कराते रहे हैं लेकिन जब हम उसे हिंदी साहित्य में ऋतु वर्णन की परंपरा के संदर्भ में देखते हैं तो फिर से हमें एक नयेपन का अनुभव होता है :

> कवि अपनी मिट्टी से पूछो
> चैत में गेहूं कटेगा कि नहीं?
> जेठ में तुम्हारे भीतर का गुलमोहर
> खिलेगा कि नहीं?

उदाहरण के लिए, हिंदी साहित्य वसंत ऋतु के गुणगान से भरा पड़ा है। वसंत को ऋतुराज कहा गया है और उसकी शान में बहुत कुछ लिखा गया है। मगर *ऋतुरैण* का रचयिता वसंत से खिन्न नज़र आता है :

> तुम्हारा वसंत यह
> भारत का लोकतंत्र है
> मैं उस राह पर
> ज़हरखुरानी के बाद भी बचा हुआ
> कोई मुसाफ़िर।

और

> मुंह में दबी हुई थैली विकट ज़हर की

दिल में कमीनगी है पर थोबड़े वसंत के

वह तो वसंत को एक छलावे की तरह देखता है और उसे सीधे लांघकर ग्रीष्म में चला जाना चाहता है। शिशिर उसके लिए गहरे संघर्ष का प्रतीक है, क्योंकि ऋतुओं को वह पहाड़ों के संदर्भ में देखता है और पहाड़ों पर जाड़ों का जीवन भारी जद्दोजहद से भरा होता है। शिशिर के बाद इसीलिए वह ग्रीष्म में उल्लसित होता है, उसके स्वागत के लिए तत्पर नज़र आता है :

शिशिर मेरा माध्यम है
जलती लकड़ियों की लपट शिशिर में
मेरा वसंत है
ग्रीष्म में राह पर थोड़ी छांव
घर लौटने पर ठंडा पानी और प्रिय चेहरे परिजनों के
मेरे जीवन में रोज़ उतरने वाले वसंत हैं

ऋतुरैण रुढ़ि के मुताबिक़ चैत्र में मायके की याद और भाई की प्रतीक्षा में गाया जाने वाला गीत है, लेकिन इसका एक अर्थ ऋतुओं का बदलना भी है। अगर हम इन्हें बिंब की तरह लें तो कविता संग्रह में हमें इन सबके विभिन्न रूप देखने को मिलते हैं :

शिशिर की रात
वसंत की स्मृति में कोई रोता है
उसे वसंत की उम्मीद और स्वप्न में
होना चाहिए
पर वह रोता है
बस यही तो मेरे मुल्क में ऋतुरैण होता है।

यहीं हमें कवि की विचार-दृष्टि को समझने का मौक़ा भी मिलता है। वह ऋतुओं को विलासितापूर्ण जीवन जीने वाले एक छोटे से वर्ग के मन बहलाव के रूप में नहीं देखता, जो कि रीतिकाल के कवियों में प्रचुरता से पाया जाता है, इसके विपरीत वह मेहनतकश वर्ग और ऋतुओं के संबंधों के द्वंद्व को उभारते हुए एक सघन तनाव रचता है। कहा जा सकता है कि शिरीष अपने कविता-कर्म में कल्पनाशील होते हुए भी काल्पनिकता से अधिक यथार्थ पर अवलंबित कविताएं रचते हैं :

वह जो गंध उठती है
विकट जैविक
गलते-सड़ते हुए पत्तों से ढकी धरती पर
प्यारी है कि नहीं?

विचार से भरा जीवन
अब भी एक जैविक गंध
है कि नहीं?

एक दूसरी परंपरा जिसमें ऋतुएं अकसर क़हर बनकर मानव जीवन पर टूट पड़ती हैं उनकी भी है। लेकिन शिरीष की कविताओं में ऋतुओं का आवागमन प्राकृतिक आपदा के रूप में नहीं होता, वह मानवीय त्रासदी के रूप में प्रकट होता है। इसीलिए वे ऋतुओं की बात करते हुए राजनीति पर आक्षेप करने से नहीं हिचकिचाते :

दंगा करने वालों के वसंत हैं
इस देश में

जबकि मनुष्यता के वसंत होने थे।
और
कपटराज-नीति और विकट समाज के
इस समय में
आपको याद किया जा सकता है
थक कर घर जाने के लिए
या किसी और समय में जाकर
मर जाने के लिए।

यहां शिरीष प्रतिरोध की सैद्धांतिकी गढ़ते हुए दिखते हैं। यह कहना शायद ज़्यादा सही हो कि उनकी कविता में विचार तो है मगर इससे ज़्यादा कहीं उनके विचारों के अंदर कविता अवस्थित है। यह प्रच्छन तौर पर नहीं है और न नारेबाज़ी के रूप में ही। यह एक चेतनासंपन्न कवि का जागरूक हस्तक्षेप है। और हां, वे ऐसा करते हुए कविता के रस को न केवल बचाये रखते हैं, बल्कि एक नये तरह का आस्वाद गढ़ते भी हैं।

2. *तुम्हें प्यार करते हुए* : मुंह में गुड़ की तरह घुलता प्रेम-रस

हम बहुत विकट समय में पहुंच गये हैं। यह समय जो नफ़रतों और हिंसा से भरा हुआ है और जिसमें प्रेम एक वर्जित तथा बेहद ख़तरनाक़ शब्द जान पड़ता है। हर तरफ प्रेम के दुश्मन दिखलायी पड़ते हैं। माथे पर तिलक लगाये, गले में भगवा गमछा डाले घृणा से सराबोर ये लोग प्रेम को किसी तरह से बर्दाश्त करने, बख्शने के लिए तैयार नहीं हैं। दूसरे धर्मों, जातियों के युवक-युवतियों से प्रेम करने पर तो उन्हें आपत्ति है ही, सहधर्मियों-सजातियों से प्रेम संबंध बनाने पर भी वे लाठी-भाले लेकर उन पर टूट पड़ते हैं। तमाम तरह की कुंठाओं से ग्रस्त ये आपराधिक गिरोह राजनीतिक दलों के लिए एक ऐसा मानस तैयार करने के अभियान का हिस्सा हैं, जिससे वे सत्ता की फ़सल काट सकें। ब्राह्मणवादी पितृसत्तात्मक समाज को तुष्ट करने वाले इस हिंसक गंठजोड़ ने प्रेम को एक ऐसे शब्द से जोड़ दिया है जो वैसे तो दूसरे पवित्र अर्थ रखता है मगर इस्लामोफ़ोबिया से ग्रस्त समाज उसे धार्मिक संकट के तौर पर देखता है। 'लव जिहाद' नामक यह शब्द-युग्म प्रेमविरोधी भावनाओं की चरम अभिव्यक्ति बन गया है।

ज़ाहिर है कि जब प्रेम करना तो दूर, प्रेम की बात करना भी कठिन हो रहा हो तो प्रेम की कविताएं लिखना और भी मुश्किल काम है। बाहर चल रही प्रेम-विरोधी इस उथल-पुथल से अप्रभावित रहते हुए प्रेम के बारे में सोचना और उन्हें शब्दों में ढालना एक दुष्कर चुनौती से कम नहीं है। ऐसे समय में अनुभूतियां सुन्न पड़ जाती हैं और शब्द गूंगे हो जाते हैं। लेकिन शायद कई बार कुछ लोगों के साथ इसका उल्टा भी घटित होता है, प्रेम की उदात्त भावनाएं और भी ज़ोर मारने लगती हैं, जैसा कि सुपरिचित कवि पवन करण के साथ हुआ है। उनका ताज़ा कविता संग्रह *तुम्हें प्यार करते हुए* में इसे देखा और महसूस किया जा सकता है।

यह कविता संग्रह कई मायनों में विशिष्ट है। अव्वल तो यह हिंदी में प्रचिलित प्रेम कविताओं की विषयवस्तु और छंद से हटकर है। पवन की प्रेम कविताओं में स्त्री न तो कमतर है और न ही केवल भोग की वस्तु। वह बराबर की साझीदार है और किसी भी तरह से प्रेम और प्रेमी पर उसका अधिकार कम नहीं दिखता। इसके विपरीत वह अधिक अभिमानिनी है और प्रेम में ज़्यादा सक्रिय और डूबी हुई भी। यह शायद इसलिए भी संभव हुआ है कि कवि के अंदर एक स्त्री है और कवि परकाया प्रवेश के ज़रिये उसे उसके उसी रूप में प्रस्तुत करने से हिचकिचाता नहीं है। अपने पहले के कविता संग्रहों में भी वह इस कला का परिचय दे चुका है। वह प्रेमिका के अंदर प्रवेश करते हुए कल्पना करता है और प्रेम संवाद का दूसरा पक्ष रचता है।

मैं जानती हूं कि तुमने मेरे साथ

इसके पहले कितना जानलेवा इंतज़ार
किया मेरा, पर यह और भी अच्छा होता
कि मेरे और उसके सखियापे से
चिढ़ने की जगह
इसे भी मेरे बराबर प्रेम करते

ये प्रेम कविताएं उस परंपरा को एक दूसरे स्तर पर भी ख़ारिज करती हैं। *तुम्हें प्यार करते हुए,* संकलन *की* कविताओं में प्यार वायवीय या काल्पनिक ही नहीं है, वह वास्तविक है और उसमें मांसलता भी उतनी ही है जितनी स्वस्थ प्रेम में होती है और जितनी होनी चाहिए। 'सांसों की लड़खड़ाहट' ऐसी ही कविता है :

एक दूसरे के मुंह में
जब हम गुड़ की तरह घुल रहे होते
हमारी सांसें भी घुल रही होतीं एक दूसरे में

प्यार के हाथ जब हमें परात में
आटे सा माड़ रहे होते
पानी में थप थप करतीं
हमारी सांसें भी साथ साथ मड़ जातीं

कविताएं ऐसे बहुत से दृश्य रचती हैं जिनमें प्रेमी-प्रेमिका के बीच की प्रेम क्रीड़ाओं को चित्रित किया गया है। आप चाहें तो इन्हें प्रेम-लीलाएं कह सकते हैं। इनमें आपसी बातचीत की अंतरंगता अद्भुत है और वह एक नये तरह का छंद रचती चलती है। छेड़छाड़, ठिठोलियां, मान-मनौव्वल और ढेर सारी स्मृतियों का आपसी संवाद, चाहे वह वस्तुओं के साथ हो या व्यक्तियों के साथ, प्रेम के अव्यक्त रूपों को उद्घाटित करता हुआ जान पड़ता है।

इन कविताओं में एक मादक गंध महसूस की जा सकती है। प्रेम की मादकता इनमें इस क़दर पगी हुई है कि पाठक उसके असर से बचा नहीं रह सकता। लेकिन ये कहीं से अश्लील नहीं होतीं, वे मांसल प्रेम के वर्णन में एक सीमा पर जाकर रुक जाती हैं, वह भी यह बताये बिना कि यही सीमा है। हालाँकि अश्लीलता तो देखने-पढ़ने वाले के दिमाग़ में होती है, मगर अश्लीलता की संकीर्ण परिभाषा में बंधे पाठक भी बग़ैर परेशान हुए इन कविताओं का आनंद ले सकते हैं और प्रेम की मादकता को महसूस कर सकते हैं। उनकी कविता, 'काली मिर्च' को ले लीजिए :

इनसे काला जादू हो सकता है
मैंने यह तो नहीं सुना
मगर तुमने एक बार
मेरी पीठ के तिलों को
अपनी जीभ से सहलाते हुए उन्हें
काली मिर्च जैसा ज़रूर बताया था
तुम्हें याद है कि नहीं
मेरे कहे के जवाब में वह बोली
मेरे स्वाद में डूबे हुए तुमने
प्यार करते हुए मुझसे
क्या-क्या नहीं कहा
पर तुम्हारी यह काली मिर्च

ठहरकर रह गयी मेरी याद में।

इस कविता संग्रह की सबसे अच्छी बात यह है कि इसमें छोटे-छोटे जीवनानुभवों में छिपे प्रेम को सहज-सरल ढंग से शब्दों में बांधा गया है। प्रेम इसमें एक निर्मल नदी की तरह स्वाभाविक ढंग से बहता हुआ लगता है। कवि को मालूम है कि छोटी-छोटी बातों में कितना प्रेम छिपा होता है और जिसकी अकसर लोग, यहां तक कि प्रेमीजन भी महत्वहीन मानकर उपेक्षा कर देते हैं।

वास्तव में यह कविता संग्रह क़िस्से-कहानियों और फ़िल्मों में गढ़े गये प्रेम के आख्यान के बरक्स नया नैरेटिव गढ़ता है। इसमें प्रेम के ऐसे कई नये बिंब हैं, नये चित्र हैं, नये रंग हैं जो बिल्कुल अनदेखे, अनचीन्हे थे, लेकिन जिनकी पहचान करना बहुत ज़रूरी था।

3. पानीदार स्त्रियों की छवियों का विराट कोलाज

अनामिका का कविता संग्रह, *पानी को सब याद था* गांव-देहात से लेकर शहरों तक की औरतों का अद्भुत कविता-कोलाज है। यह एक ऐसा अलबम है जिसमें अनगिनत छवियां संजोयी गयी हैं। ये छवियां अतीत के संदूक से ही नहीं निकली हैं, वे वर्तमान की चक्की से भी पैदा हुई हैं और भविष्य की आकांक्षाओं से झांककर देखती हुई भी। कवयित्री जैसे अपना कैमरा लेकर हर अंधेरे-उजले कोने में जाती हैं और वहां मौजूद स्त्रियों की तस्वीरें खींचती चली जाती हैं। स्त्रियां, अलग-अलग चेहरों, क़द-काठी, सोच-समझ वाली, ठिठकी हुईं, जूझती हुईं, हारती और जीतती हुईं। कभी ऐसा लगता है कि अनामिका सभी स्त्रियों को क़रीब से जानती हैं, सबके साथ रहती हैं और कभी वे उन्हें अजनबियों की तरह भी देखती हैं, पहचान करने की कोशिश करती हैं। उनकी कवयित्री के पास एक अलग और ग़ज़ब दृष्टि है और वे उससे लगातार चमत्कृत करती हैं।

अनामिका का नया संग्रह निश्चय ही इस मायने में नया कहा जा सकता है, हालांकि इसमें निरंतरता भी है। उनकी पहले की कविताओं से इस तरह से भिन्न नहीं हैं ये कविताएं कि उन्हें आप किसी नयी कोटि में रख दें, रखने के बारे में सोचना भी ठीक नहीं होगा। लेकिन उनकी अंतर्दृष्टि उनका पुनराविष्कार करती देखी जा सकती है :

तुम्हारी गढ़ी मूर्तियां भी कभी
माटी-माटी जो हुईं -
तो भी कुछ है जो ठहर जायेगा-
जैसे आकाश ठहर जाता है,
दो शब्दों की फांक में जैसे
अर्थ का अनंत पसर जाता है।

सबसे अच्छी बात यह है कि अनामिका के पास स्त्रियों को देखने की बिल्कुल ख़ालिस अपनी नज़र है। उसमें किसी दूसरे की हल्की सी भी छाप देखने को नहीं मिलती। वे स्त्री के पक्ष में खड़ी रहती हैं, मगर स्त्री विमर्श को अपनी तरह से परिभाषित करते हुए। सबसे बड़ी बात है स्त्रियों से उनका भावनात्मक लगाव। उसी के बल पर वे एक नया भावलोक रचती हैं। चूंकि उनकी चिंता, उनका सरोकार किताबी या दिखावटी नहीं है इसलिए स्त्रियां उनकी कविताओं में जीवंत होती हैं। यही नहीं, उनकी कविताओं के किरदार पुरानी और नयी पीढ़ी दोनों से आते हैं और अकसर वे एक दूसरे से संवाद करते हुए दिखते हैं।

दरअसल, अनामिका स्त्री-मन के उन कोनों में प्रवेश करने में सफल रहती हैं जहां नारेबाज़ी वाला नारीवाद नहीं जा पाता। वे स्त्रियों के मन को पढ़ने की कला में माहिर हैं, वे जानती हैं कि इस समाज में निर्मित स्त्री के दर्द और सपने कहां छिपे हुए हैं और उन्हें कैसे बाहर निकाला जा सकता है। यह आसान बात नहीं है। इसके लिए किसी भी कवि को कविताओं से भी आगे जाना पड़ता है, उसे बहुत सारी बाधाओं को लांघना पड़ता है, स्त्रियों से

विश्वास का रिश्ता बनाना होता है। यह महसूस करके लिख देने से ज़्यादा की मांग करता है :

शूर्पणखा,
तुमसे कहूं तो क्या
तुम तो बच्ची ही थीं
मेरी बच्ची की उमर की
दुनिया बेटी, देखो,
अब तक नहीं बदली
अब भी विकट ही है
हर यात्रा की कामना की
नन्हा-सा डैना उठा,
एक नन्हा रोआं कांपा
कि छूटने लगते हैं तीर
चारों दिशाओं से

वे अपने चिर-परिचित छंद और शिल्प के साथ शब्दों को पिरोती हैं, उन्हें नये मायने देती हैं। इस क्रम में वे अपने विशाल शब्द-भंडार की तरफ़ भी बरबस हमारा ध्यान खींचती हैं। अनामिका के पास अपनी विशिष्ट भाषा है, जिसमें गांव-गंवई के शब्द वैसे ही चले आते हैं जैसे शहरों में आकर बसे लाखों मज़दूर, वे घुले-मिले हैं, एक दूसरे से बतियाते हुए से लगते हैं। वे गर्व से तने हुए भी हैं और विनम्रता से झुके हुए भी। वे अपनी पीड़ा भी व्यक्त करते हैं और साहस भी।

उनकी भाषा की ख़ास बात है यही है कि वह ग्रामीण जीवन से समृद्ध हुई है। मुहावरे और लोकोक्तियां आदि उसमें भरी पड़ी हैं, जो जहां एक ओर कविताओं को एक नयी छटा प्रदान करती हैं वहीं पाठकों से एक नये स्तर पर तादात्म्य भी स्थापित करती हैं :

याद करें बूढ़ी कहावतें-
इतना भई धीरे क्या बोलना,
आप बोलें और कमरबंद सुने
बोलें, मुंह खोलें ज़रा डटकर,
इतनी बड़ी तो नहीं है न दुनिया की कोई भी जेल
कि आदमी की आबादी समा जाये
और जो समा भी गयी तो
वहीं जेल के भीतर झन-झन-झन
बोलेंगी हथकड़ियां
ऐसे जैसे बोलती हैं कमरधनियां
मिल-जुलकर मूसल चलाते हुए।

इस संग्रह में दो और चीज़ें ध्यान खींचती हैं। एक तो विस्थापन बस्तियों में रहने वाली स्त्रियों पर कई उपखंडों में लिखी उनकी कविताएं और दूसरी, निर्भया को लिखी कविताओं की शृंखला। विस्थापन बस्ती की औरतों के विभिन्न चित्र उनके संघर्ष, आत्मविश्वास और पीड़ा सबको बयान करते हैं। मुसीबतों के बीच कैसे रास्ता चुनना है इसका विवेक भी इनमें व्यक्त होता है। मसलन,

प्रौढ़ाओं के प्रफुल्ल, श्वेत-श्याम केशों के
ठीक बीचोंबीच जहां पड़ता है सेनुर
ऐसा ही तो बीच का रास्ता,

होता है अतिथों के बीच कहीं
जहां न दिन होता है, न ही रात!
न घरमुहां राग, न कट्टर वैराग!
एक-दूसरे के जुएं चुनतीं,
बीनती जीवन के सारे खटराग-
जानती हैं औरतें बीच का रास्ता
साम-दाम दंड-भेद से गुज़रता!

निर्भया पर लिखी कविताएं तो बहुत मार्मिक हैं। वे निर्भया को अपने आसपास के पंचतत्वों में हर जगह देखती हैं। वे उसे खुद में, अपनी बेटी में और हर औरत में देखती हैं। खेतों में, माटी में, पौधों में हवाओं में, हर जगह निर्भया के होने को महसूस कराती हुई, उसके स्त्रीत्व को, उसके प्रेम और उसकी जीवटता को एक नये अंदाज़ में बयान करती हैं :

जब भी चलती थी कातिक में हवा
कनकनाती हुई
पूछती थी निर्भया
संग-संग मेरी लगी
एक ढेर कपड़े पछीटती
ऐ अम्मा, क्यों है नदी इतनी ठंडी-
क्या बर्फ़ से इसने प्यार किया था कभी?

कुल मिलाकर अनामिका का यह संग्रह पानी की तरह बहती कविताओं से बना है, इसमें पानीदार स्त्री छवियां हैं जो पानी की महत्ता को रेखांकित करती हैं।

4. बर्बरता का प्रतिरोध रचती कविताएं

यह जो काया की माया है, प्रियदर्शन का दूसरा कविता संग्रह है। अपने पहले संग्रह, *नष्ट कुछ भी नहीं होता* से उन्होंने जो उम्मीदें जगायी थीं, वे ताज़ा संग्रह में फलीभूत होती दिखायी देती हैं। चीज़ों पर उनकी पकड़ और सूक्ष्म हुई है, उनकी चिंताओं का कैनवास और विस्तृत हुआ है और विचारों के वितान में वृद्धि हुई है।

प्रियदर्शन की कविताओं में एक पत्रकार की उपस्थिति आप हर जगह देख सकते हैं। लेकिन यह ख़बरों को सतही तौर पर देखते हुए बयान करने वाले पत्रकार की उपस्थिति नहीं है। प्रियदर्शन एक कवि-पत्रकार हैं जो अपने पत्रकारीय अनुभवों को कविताओं में इस्तेमाल करते हैं। ज़ाहिर है कि वे घटनाओं की गहराई में उतरते हैं, उसके विभिन्न पक्षों को उलटते-पुलटते हैं और फिर उसे एक विशेष कोण से प्रस्तुत करते हैं। संग्रह की कविताएं निरंतर बदल रहे अपने परिवेश को ही दर्ज नहीं करतीं, बल्कि अंतर्मन में चल रहे द्वंद्व को भी बखूबी व्यक्त करती हैं। आत्म-संशय और स्वयं से प्रश्न करते रहना एक अच्छे कवि की विशेषता होती है। संग्रह की कई कविताओं में हम यह विशेषता पाते हैं :

एक पाखंडी-क्रूर समय में
प्रेम से ही आयेगा,
वह विवेक, वह संवेदन, वह साहस,
जो संस्कृति के नाम पर प्रतिष्ठित की जा रही बर्बरता का प्रतिरोध रचेगा।

प्रियदर्शन शब्दों से खेलते हुए नहीं दिखते और न ही भावावेग में बहते हैं। बहुत ही सहज ढंग से अपनी बात कहते

हैं। वे एक जागरूक कवि हैं इसलिए समाज में घट रही तमाम वृत्तियों को दर्ज करते हैं, उनके अर्थ तलाशते हैं। पत्रकार-कवियों पर स्वाभाविक तौर पर तात्कालिता हावी हो जाती है। इसीलिए समकाल उनकी कविताओं में भरा पड़ा है। लेकिन यह उनकी कमज़ोरी नहीं, शक्ति है। वे अपने समय को बहुत क़रीब से देखते और शिद्दत से महसूस कर पाते हैं और तात्कालिता को भी काल के विराट फलक पर अवस्थित कर पाते हैं। इसीलिए प्रियदर्शन सांप्रदायिक राजनीति, धर्मों के गोरखधंधों और तमाम तरह के छल-प्रपंचों को बेहिचक अपनी कविताओं का विषय ही नहीं बनाते बल्कि बेबाक़ी से उनमें अपने विचार भी ज़ाहिर करते हैं। उनमें वैचारिक स्पष्टता और दृढ़ता दोनों देखी जा सकती हैं :

वे कभी अयोध्या से और कभी गुजरात से पहुंचना चाहते हैं दिल्ली
इतिहास और इंसानियत की उड़ाते हैं खिल्ली
और डरते हैं, रास्ता न काट जाये इंसाफ़ की कोई बिल्ली
देवताओ! अगर तुम अपने भक्तों को सिखा सके थोड़ी सी मनुष्यता,
थोड़ा सा अपने ऊपर संशय करना,
तब वाक़ई अधर्म हारेगा, तुम्हारे प्रस्तावित धर्म की होगी जय।

संग्रह में कविताओं के विविध रंग देखने को मिलते हैं। कई संस्मरणात्मक कविताएं बहुत बांधने वाली हैं। वीरेन डंगवाल की मृत्यु पर लिखी गयी कविता एक ऐसी ही कविता है :

तुम्हारी कविताएं बची हुई हैं जिनमें इस अहंकार को ठोकर मारने का साहस है
और पाने-खोने के खेल से परे
जीवन की वह सहज महिमा जिसे चूहे कुतर नहीं पायेंगे।
इसी से बनता है भरोसा कि उजले दिन आयेंगे
मगर वह उजला दिन नहीं था कवि हमारे, रचयिता हमारे,
हर दुष्चक्र के पार जा चुके स्रष्टा हमारे।

इसी तरह प्रकृति से जुड़ी उनकी कविताएं हैं, जिनमें वे कहीं उस पर रीझते हैं, चमत्कृत होते हैं और कहीं फिर फ़ौरन उसके साथ अपने संबंधों को परिभाषित करते हुए खीझते भी हैं :

एक क्लिक के साथ झरना कैमरे में क़ैद हो गया
एक फ़्लैश के साथ नदी जड़ हो गयी
12 मेगापिक्सल वाले कैमरे में समा गयी
पहाड़ को पूरा पैक करना संभव नहीं था इसलिए उसके टुकड़े-टुकड़े किये गये

इस संग्रह में उनकी कई लंबी शृंखलाबद्ध कविताएं हैं, उन्हीं की संख्या अधिक है। कहा जा सकता है कि इस संग्रह की एक पहचान ये कविताएं भी हैं। 'ये भी प्रेम कविताएं', 'कुछ और मनोभाव', 'दुख', 'जानवरों से हमें माफ़ी मांगनी चाहिए', 'यह जो काया की माया है', 'सोचने के कई तरीक़े होते हैं', 'एक हिंदू की कविताएं', 'जब आततायी मारे जाते हैं', 'रोहित वेमुला के लिए' आदि का उल्लेख किया जा सकता है। 'लव जिहाद' भी एक ऐसी कविता है।

लड़कियां तरह-तरह से बचाये रखती हैं अपना प्रेम।
चिड़ियों के पंखों में बांध कर उसे उड़ा देती हैं
नदियों में किसी दीये के साथ सिरा देती हैं
किताबों में किसी और की लिखी हुई पंक्तियों के नीचे
एक लक़ीर खींचकर आश्वस्त हो जाती हैं।

प्रियदर्शन की शैली घुमावदार या जटिल नहीं है, वे बिंबों और रूपकों के चक्कर में भी बहुत नहीं पड़ते, जो कुछ

लोगों को उनकी कविताओं की कमज़ोरी भी लग सकती है, मगर सीधे संप्रेषण के लिहाज़ से इसे एक बड़ी विशेषता के तौर पर देखी जानी चाहिए। उनकी कविताएं सरल हैं, बोधगम्य हैं।

मो. 9811818858

पुस्तक संदर्भ

1. *ऋतुरैण* : शिरीष कुमार मौर्य, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2020
2. *तुम्हें प्यार करते हुए* : पवन करण, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2020
3. *पानी को सब याद था* : अनामिका, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2019
4. *यह जो काया की माया है* : प्रियदर्शन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2020

कविता की संभावना और आलोचना के संकट

प्रियदर्शन

इस समय हिंदी में जितनी कविता लिखी जा रही है, क्या किसी दूसरे समय में लिखी गयी होगी? अगर लिखी भी गयी होगी तो क्या वह इस क़दर प्रकाश में आयी होगी? संभव है, बहुत सारी कविताएं किन्हीं कॉपियों या डायरियों में पड़ी रह गयी हों और उम्र के साथ मुरझाती-सूखती ख़त्म हो गयी हों, या फिर बहुत सी कविताओं को संपादकों ने ख़ारिज कर कई संभावनाओं को ख़त्म कर दिया होगा। लेकिन यह दौर निर्बाध-निर्बंध अभिव्यक्ति का है। तकनीक ने पहले यह सुविधा दी कि आप जो कुछ भी लिखें उसे असंपादित सबके सामने ला सकें और फिर लोगों की प्रतिक्रियाओं ने यह साहस भी दे दिया कि यह काम कुछ ज़्यादा आत्मविश्वास से बार-बार दुहराया जा सके।

इस प्रक्रिया ने भी दो तरह की कविताएं पैदा की हैं- एक तो वाक़ई बहुत अच्छी- बिल्कुल जीवन के पहाड़ों से निकलते प्रपातों जैसी कविता है- परंपराप्रदत्त सयानेपन और संपादकीय सख़्ती के किसी अंकुश से परे- कहीं-कहीं संपादन की ज़रूरत का आभास कराने के बावजूद अपने संपूर्ण प्रभाव में विलक्षण, लेकिन इसके साथ-साथ बहुत बड़ी मात्रा में औसत या बहुत ख़राब कविताएं भी लिखी जा रही हैं जिनको भी उतनी ही तादाद में पाठक और प्रशंसाएं सुलभ हैं जितनी अच्छी कविताओं को। हालांकि कहा जा सकता है कि किसी भी कविता को औसत या ख़राब कहना दरअसल एक तरह का अलोकतांत्रिक काम है- क्योंकि इससे यह संदेश जाता है कि जो अच्छा लिख सकते हैं, सिर्फ़ वही लिखें, मामूली लिखने वालों को अपनी अभिव्यक्ति रखने का अधिकार नहीं है। लेकिन क्या वाक़ई? क्या उन्हें औसत या ख़राब बता कर हम उनके रचयिताओं के लिए यह अवसर नहीं पैदा कर रहे कि वे अपने अनुभव के संसार में कुछ और गहराई से उतरें और अपनी अभिव्यक्ति को कुछ और तराशें? हमारे समय के बहुत सारे उदीयमान कवि इस दुर्घटना के भी शिकार हैं कि प्रारंभिक दौर में ही उन्हें इतनी तारीफ़ मिल गयी कि अब वे आलोचना करने वालों को मूर्ख मान बैठने का दंभ पाल सकते हैं।

संकट बस इतना ही नहीं है। अब हमारे चारों तरफ़ अच्छी-बुरी-सामान्य-विशिष्ट-महान-मामूली इतनी सारी कविताएं एक साथ सुलभ हैं कि हम आस्वाद की अपनी क्षमता खो बैठे हैं। भाषा से जो हमारा गहरा नाता है- जिसमें हम एक-एक शब्द में उतरने, उसके आशय समझने के आदी रहे हैं- उसको स्थानापन्न करके एक सतही रोमानियत और सुबोधगम्यता भर हमें भाने लगी है। यह दरअसल कविता से ज़्यादा उसके आस्वाद की, मूल्यांकन की चुनौती है- मूलतः एक आलोचक की चुनौती- जो इस बात से कुछ और कड़ी हो जाती है कि इस बहुत तेज़ रफ़्तार समय में सबकी नसें इस तरह तड़की हुई हैं कि किसी अनुकूल या प्रतिकूल टिप्पणी को उसके संभव अर्थों के साथ समझने की जगह हम बिल्कुल सपाट ढंग से लेने और उस पर प्रतिक्रिया जताने के आदी हुए जा रहे हैं। इसका एक नतीजा यह भी हुआ है कि आलोचना के अब तक जो जाने-पहचाने औज़ार थे, वे आलोचक के हाथ और दिमाग़ से जैसे छिटक चुके हैं, उसे बिल्कुल निहत्था होकर इस दौर की कविताओं से मुठभेड़ करनी है (हालांकि यह अपने-आप में कोई बुरी बात नहीं है)।

ये सारे ख़याल, *नया पथ* के लिए कुछ समकालीन कविता संग्रहों पर टिप्पणी के आग्रह का मान रखने के

क्रम में पैदा हुए। इन संग्रहों में पहला अविनाश मिश्र का है, *चौंसठ सूत्र सोलह अभिमान कामसूत्र से प्रेरित*। अविनाश मिश्र उन युवा लेखकों में हैं जिनकी भाषा, जिनके अंदाज़ का मैं मुरीद रहा हूं। जिस दौर में संवेदना से सूक्ष्मताएं लगातार निर्वासित की जा रही हैं, वे अपने लेखन में जैसे उनका पुनर्वास ही नहीं, विस्तार करने पर तुले हुए हैं। वे कविता लिखें, आलोचना लिखें या किसी और तरह का गद्य- उनको पढ़ना अक्सर सुखद लगता है। निस्संदेह, एक तरह की अक्खड़ विवादप्रियता भी उनके भीतर दिखती है जिसका नुकीलापन संभवतः बहुत सारे लोगों को चुभता हो, लेकिन उनका गद्य और उनका पद्य दोनों हिंदी लेखन की शोभा और शक्ति बढ़ाते हैं।

लेकिन उनका यह संग्रह एकाधिक बार पढ़ने के बावजूद कई वजहों से मुझे कुछ फीका, कुछ भटका हुआ, मेरी अपेक्षाओं से कुछ कम संवेदनसिंचित नज़र आया। क्या अविनाश ने जानबूझ कर इसे ऐसा रहने दिया? क्या वे शीर्षक से ध्यान खींचने के खेल में अपनी कविताओं को उस शीर्षक की परिधि में बांधे रखने की मजबूरी के शिकार हो गये? हिंदी साहित्य-समाज की बहुप्रसूत कल्पनाशीलता से उपजी अल्पज्ञ स्मृति में, *कामसूत्र* एक ऐसी वर्जित किताब की तरह दर्ज है जो यौन-संबंध का सुख लेने के तरीक़े सिखाती है। अविनाश 64 सूत्रों के नाम पर 64 कविताएं और फिर 16 अभिमान के नाम पर 16 और कविताएं इस संग्रह में जोड़ते हैं। लेकिन अगर इस किताब का नाम हटा दिया जाये और इनके शीर्षक बदल दिये जायें तो क्या इन कविताओं का वास्ता *कामसूत्र* के किसी तत्व या उसकी किसी स्मृति से है?

ख़ुद किताब की भूमिका में अविनाश इसका जवाब देते हैं- ' 'चौंसठ सूत्र' शीर्षक खंड में समायी कविताओं और *कामसूत्र* का संबंध बस इतना ही है कि इनका कवि *कामसूत्र* और प्रेम में बिल्कुल एक ही समय डूबा हुआ रहा।'

इस कैफ़ियत की ही उंगली पकड़ कर चलें तो आप उम्मीद कर सकते हैं कि इस संग्रह में प्रेम और दैहिकता के अनुभव से बंधी कविताएं होंगी। बेशक, वे हैं भी, लेकिन ज़्यादातर कविताएं इस अनुभव का संप्रेषण करने की जगह उनको बस दर्ज करके रह जाती हैं। जैसे अविनाश जिस अनुभव में अपने 'डूबे होने' का दावा कर रहे हैं, वह उनकी कविता में यत्नपूर्वक - उनके भाषिक कौशल के सहारे ही - दाख़िल हो पा रहा है। हालांकि भूमिका में ही वे एकाधिक जगह यह उल्लेख करते हैं कि ये कविताएं 'लिखी नहीं गयी हैं, आयी हैं और हुई हैं।' 'मंगलाचरण' में वे लिखते हैं, 'मेरे लिए अब प्रार्थना करने / और तुम्हारे नाम के / दुहराव के बीच / कोई दुराव नहीं है / मेरे प्रार्थनाक्षर / तुम्हारे नाम के वर्णविन्यास को चूमते हैं / मेरी आकांक्षा है कि / सतत प्रार्थना में ही रहूं।'

दरअसल, यह पूरा संग्रह बहुत छोटी-छोटी कविताओं से बना है - आती-जाती सांस की तरह - लेकिन उतना सहज नहीं है। कुछ कविताओं में खेल है, कुछ में प्रश्न है, कुछ में बौद्धिक तर्क है, इन सबमें संवेदना का स्पर्श भी है, लेकिन अंततः ये कविताएं प्रेम की किसी गहरी संवेदना, दैहिकता की किसी ऊष्मा या किसी द्वंद्व के संप्रेषण में कुछ पीछे छूट जाती हैं। निस्संदेह अविनाश इनसे बेहतर लिखते रहे हैं।

अविनाश के ही लगभग हमउम्र सुधांशु फ़िरदौस का संग्रह, *अधूरे स्वांगों के दरमियान*, इस युवा कविता की संभावना और सामर्थ्य को नये सिरे से उजागर करता है। फिर से याद आता है कि इन युवा कवियों के पास बहुत समर्थ और प्रांजल भाषा है, प्रेम को लेकर अपने पूर्ववर्ती कवियों से कहीं ज़्यादा निर्द्वंद्व और अकुंठ अभिव्यक्ति है, अपने समय की कशमकश भरी समझ भी है और कविता में संभव हो सकने वाले उपकरणों की बेहतर पहचान भी। सुधांशु के पास एक चीज़ और ज़्यादा है जो उनके समकालीन दूसरे कवियों में कम दिखायी देती है - प्रकृति के उन अभिराम रूपों की उपस्थिति जो जीवन और कविता दोनों से दूर हुए जा रहे हैं। उनकी कविता जैसे शुरू से अंत तक तरह-तरह के सैरों - लैंडस्केप - से बनी है। इन कविताओं की भाषा कई जगह बिल्कुल शास्त्रीय हो उठती है जिसमें अपनी तरह की समृद्ध सुवास है। जैसे वे बहुत सारे देखे-अनदेखे-खोते हुए दृश्यों की हमारे लिए पुनर्रचना कर दे रहे हैं, उन्हें बचा रहे हैं। कहीं-कहीं तो वे बिल्कुल विलक्षण हो उठते हैं- 'मछलियों से महकती- / झींगुरों की रागिनी से

सजी पूनम के ओस-भीगे बालों को झटकती भादो की यह ज़रखेज रात / यों लगता है कि दियरा में गभाये हुए धान से देखते ही फूट कर निकल आयेगा बाल / मद्धम पड़ने लगा है इस ख़राबे में शाम की दुल्हन का अंगराग / अभी देर है- / निशीथ को शुरू करने में अभिसार'।

लेकिन फ़िरदौस प्रकृति के कवि नहीं हैं। और न ही प्रकृति इतने स्वतंत्र रूप में इन कविताओं में आती है। वह लगभग हमेशा प्रकृति को उपादान बना कर या फिर उससे आगे जाकर कुछ ऐसा कहने की कोशिश करते हैं जिसका वास्ता जीवन से हो- चाहे वह प्राचीन की स्मृति हो या समकालीन का अनुभव। उनको धीरे-धीरे पढ़ते हुए हम पाते हैं कि वे समय की वक्रताओं-विडंबनाओं को भी ठीक से पहचानते और पकड़ते हैं। बेशक, उनको पढ़ते हुए यह उदास करने वाला ख़याल भी आता है कि एक तरह का अकेलापन ही नहीं, व्यर्थताबोध भी कभी कभी इन कविताओं में चुपचाप दाख़िल हो जाता है- 'सुलझाते-सुलझाते आख़िरकार / इतने उलझ गये हैं सारे समीकरण / कि ज़िंदगी गोया मूंज की रस्सी हो गयी है / उसके जीवन में न कोई प्रेम बचा है न प्रतीक्षा / वह ख़ुद ही महसूस करने लगा है ख़ुद की व्यर्थता'। यह उदासी, यह अकेलापन इन कविताओं में बार-बार दबे पांव आता है। कहीं वे लिखते हैं, 'आज की रात तो मेरे साथ / मेरी परछाईं भी नहीं है', कहीं 'औंधे पड़े आकाश ने / सीधे मुंह लेते आदमी से कहा: / कितने अकेले हो तुम / एक फुसफुसाहट हुई / तुम भी तो! / फिर दोनों हंसने लगे।'

क्या यह बहुत निजी दुख है? कवि का निचाट एकालाप? या इसका कोई सार्वजनिक पक्ष भी है। कवि को प्रेम की बात करते-करते किसी तानाशाह की याद क्यों आ जाती है? अचानक हम पाते हैं कि अपनी निजता में बिल्कुल डबडबाया सा यह कवि अपने समकालीन यथार्थ के प्रति भी बहुत सजग और संवेदनशील है और उसके पास कई ऐसी कविताएं हैं जहां जीवन और समाज और सियासत को लेकर गहरी बेचैनी, शिकायत, सवाल सबकुछ है, कहीं-कहीं संघर्ष करने की इच्छा भी। शायद निजता में सार्वजनिकता का जो अतिक्रमण हमारे समय में हुआ है, उसने यह स्थिति रहने ही नहीं दी है कि कोई कवि प्रेम की बात करते-करते अपने परिवेश को भूल सके। एक गड्डमड्ड यथार्थ के बीच हम पल-पल बदलती दुनिया को और उसके साथ अपने रिश्ते को पहचानने में हलकान हुए जाते हैं।

निशांत का तीसरा कविता संग्रह, *जीवन हो तुम* मूलतः प्रेम कविताओं का संग्रह है। लगभग संवाद की तरह लिखी गयी इन कविताओं में वाचक बदलते रहते हैं, लेकिन प्रेम की कोमलता, उदात्तता, तीव्रता और उसका सब्र, उसके द्वंद्व भी- लगभग एक-सी कोमल संवेदनशीलता के साथ अभिव्यक्त हुए हैं। हालांकि प्रेम को किसी नये पुराने दौर से कितना जोड़ कर देखा जाये, यह बहसतलब है, लेकिन वाट्सऐप और फ़ेसबुक के आभासी संसार के बीच बहता और कई अंतरंग कथाएं कहता यह प्रेम कई मायनों मे इस आधुनिक समय का है। यहां प्रेयसी प्रिय का संबल है, वह स्कूटी से आती-जाती है, लेकिन नायक के एक आवाज़ देने पर फिर भी चली आती है। प्रेम में हमेशा की तरह बहुत कुछ अनभिव्यक्त है जिसे कविता में भी अनभिव्यक्त की तरह ही दर्ज किया गया है। यह संग्रह कई छोटी-बड़ी कविताओं से मिलकर बना है जिन्हें पढ़ते हुए बरबस यह ख़याल भी आता है कि इस भागते-दौड़ते समय में भी प्रेम संभव होता है और प्रेम कविता संभव होती है। यह खयाल भी आता है कि इस दौर में बहुत सारी कविता ऐसी लिखी जा रही है जिसे आसानी से प्रेम कविताओं के ख़ाने में डाला जा सकता है। यह सब जोड़ने के बाद यह लिखने की इच्छा ज़रूर होती है कि निशांत की ये कविताएं अच्छी और संवेदनशील होने के बावजूद वह जादू नहीं जगातीं जो कई प्रेम कविताएं हमारे भीतर पैदा करती रही हैं।

हिंदी में हाल के वर्षों में पचास के पार जाकर भी युवा बने रहने की जो प्रवृत्ति विकसित हुई है, उसे भूल जायें तो अनिल करमेले वरिष्ठ लेखक हैं और उनकी कविताओं से हिंदी का संसार सुपरिचित है। इस साल सेतु प्रकाशन से आया उनका संग्रह, *बाक़ी बचे कुछ लोग* अपने समय, समाज और अपनी कविता के प्रति सजग एक परिपक्व कवि के रूप में उनकी पहचान को कुछ और पुख़्ता करता है। बीतते और बदलते समय के बीच निजी और

सार्वजनिक जीवन की विडंबनाओं पर उनकी नज़र है जिसे वे उनकी कविता में बहुत सहजता के साथ दर्ज करते हैं। 'जीवन में समेटी हुई चालाकियों से / एक बेहद सुखी इंसान' बन गये अपने क़रीबी मित्र का ज़िक्र करते हुए वे लगभग अचूक ढंग से इस सुख का खोखलापन पकड़ते हैं, 'उसके पास एक संभ्रांत नैतिकता थी / जिसके भीतर लड़कियों को पाने की ख़्वाहिशें थीं / लेकिन उनका सार्वजनिक इज़हार मना था / और मैं अपने इस बयान से कभी नहीं डरा / कि मुझे ख़ूबसूरत लड़कियां पसंद हैं / वह पाठ्य-पुस्तकों और जानकारियों से भरा हुआ था / उन्हीं के उधार लिये शब्दों का कवच पहन कर / निकलता था शहर में / उसकी सज्जनता और क़ायदे के चर्चे आम थे / मेरे लिए महफ़िल थी गप्पबाज़ों की / जहां आवारगियां लिखती थीं अपना रोज़नामचा।'

दरअसल, अनिल करमेले की कविता मूलतः उस मध्यवर्गीय-क़स्बानुमा शहरों की कविता है जहां घर बचे हुए थे, हालांकि उनकी हताशाएं बड़ी हो रही थीं, लड़के बेरोज़गार थे, प्रेम वर्जित मगर प्राप्य फल था, लड़कियां सहमी-शर्मायी सी निकलती थीं और बहुत सारी मजबूरियों के बावजूद जीवन सादा-सरल और जीने योग्य था। हालांकि इसको वे हमेशा किसी रोमानी ढंग से याद नहीं करते- इसकी लाचारियां, इसकी बेचारगी, इसकी बेरुख़ी, इसके अभाव और इन सबसे पैदा होने वाले विद्रूप भी उनकी कविता में अलक्षित नहीं रह जाते। लेकिन दरअसल जो गुज़र जाता है, जब वह स्मृति बन जाता है तो उसकी चुभन ग़ायब हो जाती है, बल्कि धीरे-धीरे वह अनमोल लगने लगता है। बहरहाल, वह जीवन- और उस जीवन की बहुत सारी निशानियां- अब एक बीते हुए दौर की कहानियां हैं, यह जाना-पहचाना ख़याल इस संग्रह में कई जगह, कई रूपों में दिखता है। टेलीग्राम की व्यवस्था ख़त्म होने पर लिखते हुए वे याद करते हैं कि जीवन में कितनी सारी चीज़ें- जो बहुत ठोस और लगभग अपरिहार्य सी लगती थीं- कैसे धीरे-धीरे गायब होती चली गयीं।

लेकिन अनिल करमेले की कविता उस माहौल का अतिक्रमण भी करती है, अपना एक अलग संसार रचती है, जैसे छोटे शहरों में भी उन दिनों तरह-तरह के सांस्कृतिक-वैचारिक समूह हुआ करते थे और अपना अलग संसार बना-बसा लेते थे। इस संसार में उनकी कलागत संवेदना है, उनकी प्रखर राजनीतिक दृष्टि है, धर्म और सत्ता के दुष्चक्रों पर सीधी नज़र भी है। 'देवताओं को सोने दो' कविता की शुरुआत तो अद्भुत है- 'जब बहुत ज़रूरत थी मनुष्यों को देवताओं की / वे निद्रा में थे अपनी आरामगाहों में / नुमाइंदे अपने साम्राज्य के विस्तार के लिए / वोटिंग मशीनों तक गायों को खींच लाये थे / वे बता रहे थे / हमारी सोने की चिड़िया रह चुके इस देश में / अब बहुत अच्छा समय आ गया है / अब कोई दलित, कोई ग़रीब नहीं बचा / स्त्रियां अभी भी शर्मसार थीं / बच्चे अभी भी फुटपाथों पर, प्लेटफ़ॉर्म पर, होटलों में काम करते थे / भ्रूण परीक्षणों में लगे हुए थे धंधेबाज़ / बेरोज़गारों को गाय बचाने की ज़िम्मेदारी दे दी गयी थी / अल्पसंख्यक मारे जा रहे थे / ग़रीबों और मजलूमों की होली जला कर / अमीर दिवाली मना रहे थे।'

हालांकि कभी-कभी ऐसा भी लगता है कि जिस वैचारिक प्रशिक्षण ने अनिल करमेले को यह तीक्ष्ण समझ दी, उसी ने वह रोमानी आशावाद भी दिया जो कभी-कभी इन कविताओं के कुछ हिस्सों को 'क्लीशे' में बदलता है- 'हमें दुनिया बचानी होगी' या 'हमे बढ़ाना होगा आपसी प्रेम' जैसी पंक्तियां चाहे जितनी भी सच हों, लेकिन कुछ सपाट और बार-बार दुहरायी जान पड़ती हैं। यह दुर्घटना कवि की दूसरी कविताओं में भी लक्ष्य की जा सकती है, हालांकि इसके बावजूद उनको पढ़ना हमेशा सुखद लगता है क्योंकि उनके पास जीवन की अंदरूनी कशमकश के बीच बनने वाली बेचैनियों को समझने वाली दृष्टि और पकड़ने वाली भाषा है।

तो अविनाश मिश्र, सुधांशु फिरदौस, निशांत और अनिल करमेले के ये वे चार संग्रह हैं जो मुझे यह टिप्पणी लिखने के लिए मुहैया कराये गये। क्या इन संग्रहों को पढ़ते हुए इस दौर की कविता को लेकर कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं?

पहला निष्कर्ष तो यही है कि यह कविता राजनीतिक-वैचारिक आग्रहों से बहुत बंधी नहीं है। यानी सत्तर-

अस्सी के दशकों में जिस तरह कविता पर जनपक्षीय होने का राजनीतिक दबाव था, वह शायद इस कविता पर नहीं है। इसमें वे सामाजिक-सामूहिक प्रतिबद्धताएं नहीं हैं जो एक समय कविता के लिए लगभग अपरिहार्य मानी जाती थीं। निम्नमध्यवर्गीय से मध्यवर्गीय होती हिंदी पट्टी के दुख और अभाव जिस राजनीतिक संघर्ष और उससे हासिल बराबरी की कविता का आधार बनाते थे, उसे जैसे आज की कविता कुछ पुरानेपन की चीज़ मानती है। बराबरी का स्वप्न यहां भी है, लेकिन उसमें निजता की छायाएं ज़्यादा हैं। यह मनुष्य की गरिमा का सम्मान करने वाली कविता है, लेकिन किसी आंदोलन के उद्घोष से ज़्यादा वह प्रतिरोध का मानवीय स्वर रचने पर यक़ीन करती है। लेकिन यह भी सच है कि इस दौर की ज़्यादतर कविताएं पूंजी, बाज़ार और सूचना क्रांति के कंधों पर सवार बहुत अश्लील और सतही क़िस्म के मनोरंजन उद्योग के बीच की उन सामाजिक विडंबनाओं को पकड़ने में नाकाम रही हैं जो इक्कीसवीं सदी के जिस्म पर कई नासूरों की तरह दिखायी पड़ती हैं। जिन कुछ कवियों में फिर भी यह विडंबना पकड़ में आती है, उनमें आर चेतन क्रांति, संजय कुंदन, विहाग वैभव के नाम तत्काल याद आते हैं।

दूसरी बात यह कि इन वर्षों में यह कविता ज़्यादा नागर हुई है। देश और समाज में भी गांव का अनुपात घटा है, कविता में भी। गांव अगर है भी तो उसमें एक आधुनिक चेतना की उपस्थिति है।

तीसरी बात- इस दौर की कविता पुराने समय की तरह प्रेम के उल्लेख से सकुचाती नहीं है। प्रेम अगर सांस लेने की तरह सहज न भी हो तो जीवन में एक स्वीकार्य तथ्य है और उसमें कामना का तत्व भी शामिल है। बल्कि इस दौर में शायद बहुत अच्छी प्रेम कविताएं लिखी गयी हैं जो अक्सर प्रेम-कविता की किसी परिभाषा का अतिक्रमण करती हुई एक बड़ी मानवीय, उदात्त, राजनीतिक और कभी-कभी आध्यात्मिक कविता में भी बदल जाती है। गीत चतुर्वेदी, अंबर आर पांडेय ऐसी बड़ी कविता रचने वाले हमारे समय के विशिष्ट कवि हैं। इस क्रम में कुमार अनुपम या शायक आलोक जैसे कवियों को भी याद किया जा सकता है जो निजी अनुभव के संसार को कभी-कभी उसकी अद्भुत ऐंद्रीयता में रचते हैं और कभी-कभी किन्हीं दूसरे उदात्त आशयों में। बेशक, कई बार अंबर पांडेय की शब्द बहुलता काव्यास्वाद से बाधा भी बन जाती है। उनके अलावा ऐसा थोड़ा सा जादू वीरू सोनकर के पास दिखता है। कुछ पुराने पड़ते कवियों को इसमें शामिल करें तो आशुतोष दुबे और चंद्रभूषण को भी उनकी सूक्ष्म दृष्टि के लिए अलक्षित करना उनके साथ नहीं, इस टिप्पणी के साथ अन्याय करना है।

चौथी बात- और जो शायद ज़्यादा महत्वपूर्ण बात है- यह कविता स्त्री अस्मिता के प्रति कहीं ज़्यादा सजग और सावधान कविता है। इत्तिफ़ाक़ से यह वह समय है जब स्त्री पहले से कहीं ज़्यादा स्वतंत्र है, वह घर की दहलीज ज़्यादा आसानी से फलांग रही है, परंपरा की ज़ंजीर बिना हिचक के तोड़ रही है और बहुत सारे मूल्यों और आदर्शों पर इस तरह सवाल उठा रही है कि घरों की दीवारें थरथराती दिखायी पड़ रही हैं। मगर यही वह समय भी है जब स्त्रियां सबसे ज़्यादा पिट रही हैं। उनकी ख़रीद-फ़रोख़्त हो रही है, रिश्तों में उनके साथ धोखा हो रहा है, उनका यौन उत्पीड़न हो रहा है। यह अनायास नहीं है कि इस दौर की सबसे सच्ची और ईमानदार, सबसे उल्लसित और सबसे उदास कविता भी महिलाओं ने लिखी है। बल्कि इस दौर की कविता की प्रतिनिधि और सबसे विविधतापूर्ण स्वर स्त्रियां ही रचती हैं। इनमें एक तरफ़ मोनिका कुमार जैसी कवयित्री है जो बहुत सघन वैचारिकता से अपनी कविताएं बुन लेती है, तो दूसरी तरफ़ बाबुषा कोहली है जो जैसे धरती-आकाश से अपने बिंब चुनती हुई कई जादुई कविताएं लिख डालती है। तीसरी तरफ़ शुभमश्री है- सबको अंगूठा दिखाने, सबकुछ तोड़फोड़ देने पर आमादा, कहीं-कहीं बहुत सटीक और कभी-कभी बहुत सपाट भी, लेकिन अक्सर बनी-बनायी सरणियों को बहुत तीखेपन से ठोकर मारने वाली। बहुत अच्छी और प्रखर कवयित्रियों की यह सूची यहीं ख़त्म नहीं होती। शैलजा पाठक, अनुराधा सिंह, लीना मल्होत्रा राव, देवयानी भारद्वाज, रश्मि भारद्वाज, सुजाता, प्रतिभा कटियार, पूनम अरोड़ा, रुचि भल्ला, विपिन चौधरी, विमलेश शर्मा, श्रुति कुशवाहा, निवेदिता शकील, कलावंती सिंह सुमन, सुदर्शन शर्मा, सीमा संगसार, जोशना बनर्जी आडवाणी जैसी कई कवयित्रियां हैं जो लगातार काव्य-अनुभव का क्षितिज विस्तृत कर रही

हैं। निस्संदेह यह सूची आधी रहने को अभिशप्त है- कई नाम छूटने अवश्यंभावी हैं। बल्कि यह भी जोड़ना चाहिए कि इस स्त्री अनुभव को कई पुरुष स्वरों ने भी समृद्ध किया है। पवन करण के कविता संग्रह इस लिहाज से उल्लेखनीय हैं।

इन सबके अलावा हिंदी कविता में जो बहुत प्रखर आदिवासी और दलित स्वर हैं, उनको अलग से रेखांकित किये जाने की ज़रूरत है। निर्मला पुतुल, जसिंता केरकेट्टा, अनुज लुगुन, मुसाफ़िर बैठा जैसे कवि इस चर्चा में छोड़ दिये जायें तो चर्चा कुछ अधूरी रह जाती है।

हालांकि फिर दुहराने की ज़रूरत है कि यह सारी काव्यात्मकता इतने शोर-शराबे के बीच घटित हो रही है कि इसके ठीक से मूल्यांकन के लिए ज़रूरी अवकाश- या प्रशांति- किसी आलोचक के लिए सहज-संभाव्य नहीं है। दूसरी बात यह कि इसे हिंदी साहित्य की कविता और परंपरा के बीच रखकर किस तरह देखा जा सकता है? यानी क़रीब अस्सी बरस पहले, *तार सप्तक* के साथ जो 'नयी राहों के अन्वेषी' आये थे, उनकी बनायी या उनसे अलग लीक कहां बढ़ रही है? अगर बीते पचास बरस का ही हिसाब लगायें तो साठ के दशक के मोहभंग और सत्तर के दशक में नक्सली विद्रोह के साथ उभरी हिंदी कविता कितना बदली है और उनके प्रतिनिधि स्वरों की हम कैसे शिनाख़्त कर सकते हैं? अज्ञेय, कुंवर नारायण, केदानाथ सिंह, केदारनाथ अग्रवाल, शमशेर-मुक्तिबोध, नागार्जुन, त्रिलोचन, रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, भवानी प्रसाद मिश्र, धूमिल, लीलाधर जगूड़ी, विष्णु खरे, मंगलेश डबराल, आलोक धन्वा, असद ज़ैदी जैसे कवियों से होती हुई देवी प्रसाद मिश्र, कुमार अंबुज और एक दौर के संजय चतुर्वेदी तक पहुंची कविता उसके बाद किस ओर बढ़ रही है? कहीं ऐसा तो नहीं कि हम किसी नयी हिंदी की खुशफ़हमी में पुराने काव्य अनुभव को ही दुहरा रहे हैं? क्या वे उपमान पुराने नहीं पड़ रहे जिनके बीच आज की हिंदी कविता बन रही है? अगर यह नयी और नये दौर की कविता है तो उसकी पहचान और उसके मूल्यांकन के नये निकष क्या हैं? उनमें कितना हमारा समय दिखता है, कितनी नयी संवेदना या उसका क्षरण दिखायी पड़ते हैं? इस टिप्पणी को इन सवालों के बीच छोड़ना ही फिलहाल समीचीन लग रहा है।

मो. 9811901398

पुस्तक संदर्भ

1. ***चौंसठ सूत्र सोलह अभिमान कामसूत्र से प्रेरित*: अविनाश मिश्र, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2019**
2. ***अधूरे स्वांगों के दरमियान*: सुधांशु फ़िरदौस, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2020**
3. ***बाक़ी बचे कुछ लोग*: अनिल करमेले, सेतु प्रकाशन, नोएडा, 2020**
4. ***जीवन हो तुम*: निशांत, सेतु प्रकाशन, नोएडा, 2020**

कविता की विश्वसनीय आवाज़ें

बसंत त्रिपाठी

समय, समाज और उसकी परिधि में घट रही या घट चुकी घटनाओं का कविता में आने या कविता में लाने का तौर-तरीक़ा सभी कवियों का एक जैसा नहीं होता। हो भी नहीं सकता। यह तो कवि की रुचि, विचारधारा और उसके रचनात्मक-संस्कार पर निर्भर करता है, जिसमें समय-समय पर बदलाव भी आते रहते हैं। कवि का रचनात्मक-संस्कार भी कोई रूढ़ या बंद तत्व नहीं है। इसीलिए उसकी कविताएं भी बदलती रहती हैं। उसके तत्व और विन्यास के तरीक़े में परिवर्तन होते रहते हैं। यह परिवर्तन ही उसे नये विषय, नये रूप और नये शिल्प-विधान की ओर ले जाता है। उसे पुराने रूप और शिल्प में नयी दृष्टि और ऊर्जा से धंसने के लिए प्रेरित भी करता है। आर चेतनक्रांति, अरुण देव, महेश वर्मा और गीत चतुर्वेदी की कविताओं को पढ़ते हुए इसका अनुभव बार-बार होता है।

1. गीत चतुर्वेदी का कविता संग्रह *ख़ुशियों के गुप्तचर*

गीत चतुर्वेदी का यह तीसरा कविता-संग्रह है। अपने पूर्ववर्ती दोनों संग्रहों में उन्होंने जो कहन-शैली अर्जित की थी, इसमें वे उससे तनिक अलग दिखायी पड़ते हैं। वैसे हमेशा किसी किताब को उसी रचनाकार की पुरानी किताबों के साथ मिलाकर देखने की आदत, अच्छी आदत नहीं कही जा सकती। लेकिन दिक्क़त यह है कि इसके बिना किसी कवि को पसंद करने का सुदृढ़ आधार भी नहीं बन पाता। इस संग्रह और इसके पहले के संग्रह, *न्यूनतम मैं* की कई काव्य-पंक्तियां गीत ने सोशल मीडिया पर साझा की हैं। गीत की इन कविताओं पर कई लोगों की राय लगभग एक जैसी है कि वे लगातार कविताओं से सूक्तियों की ओर जा रहे हैं। सूक्तियों की प्रकृति कुछ ऐसी होती है जैसे जीवन को निचोड़कर किसी सार्वभौम सत्य को प्रस्तुत कर दिया गया है। सूक्तियों की प्रकृति वक्तव्य से ज़रा अलग होती है। कविता में कवि का वक्तव्य जीवन-स्थितियों के क्रम में उपस्थित होता है। यदि जीवन-स्थितियां सीधे न भी हों तो उसके संकेत ज़रूर होते हैं। लेकिन सूक्तियां अकसर नीतिशास्त्री या दार्शनिक के अंदाज़ में कही जाती हैं। प्रस्तुतकर्ता उन्हें सार्वकालिक और सार्वदेशिक सत्य की तरह प्रस्तुत करता है। यद्यपि सूक्तियां भी जीवन की वास्तविकताओं के क्रम में ही अर्जित और विकसित होती हैं।

गीत चतुर्वेदी ने इस संग्रह में कई कविताएं सूक्तियों के शिल्प में रची हैं। लेकिन इन्हें सार्वकालिक और सार्वदेशिक मानना भूल होगी। उदाहरण के लिए, पहली कविता 'चार वचन' की पहली ही पंक्ति को लें – 'खिलायी गयी रोटी व दिये गये चुंबन कभी गिने नहीं जाते'। चुंबन को लेकर इस कथन में लोकप्रिय फ़िल्म, *रोबोट* के एक दृश्य की याद आना स्वाभाविक है। रोटी के बारे में कहा गया वाक्य भी मेज़बान या घर में रोटी परोसने वाले के लिहाज से तो सही है, लेकिन किसी ढाबे या रेस्त्रां के बेयरे के लिए यह ख़तरनाक हो सकता है। इसलिए ऊपर कहा गया है कि ये सूक्तियां नहीं हैं, बल्कि सूक्ति-शैली में लिखी हुई कविताएं हैं जो अपनी सहज और लगभग सपाट शैली में पाठक को अपनी गिरफ़्त में ले लेती हैं। धूमिल कविता के बीच-बीच में ऐसे वाक्य टांकते थे। गीत ऐसे वाक्यों से ही कविता बुनते हैं। उनके ऐसे वाक्य अपने पाठक को उनके जीवन-संसार में उतरने की जनतांत्रिक छूट

देते हैं।

गीत चतुर्वेदी बारहा कही गयी बातों को नये ढंग से कहने की चेतना के भी कवि हैं। कल्पना और चिंतन के बिना ऐसा हो पाना संभव नहीं है। पहली ही कविता का फिर से उदाहरण :

तुम बहेलियों के बुतों में फूल मत चढ़ाया करो
इससे चिड़ियों के पंखों में दर्द बढ़ता है

यदि भाव या विचार के स्तर पर देखें तो कोई नयी बात नहीं है। अत्याचारियों के प्रति श्रद्धा का भाव न रखने की बात कही गयी है क्योंकि ऐसा करने से पीड़ित जन को दुःख होता है। लेकिन बात जिस ढंग से कही गयी है वह अनोखी है। हमारे समय का समस्त राजनीतिक परिदृश्य इन दोनों पंक्तियों में सहसा उभरकर सामने आ जाता है।

गीत चतुर्वेदी में कुछ नया करने की तड़प है। कुछ नये ढंग से कहने की छटपटाहट है। लेकिन इस पर वे अपनी शालीनता का आवरण डाले रहते हैं। इस आवरण को उन्होंने विश्व कविता डूबकर पढ़ने के क्रम में पाया है। इसलिए उनकी कविता का स्वर यूरोपीय संभ्रांतता के निकट खड़ा दिखायी पड़ता है] लेकिन भाषायी ढांचा हिंदी का अपना है। ठेठ भारतीय। इस संग्रह को केवल सपाट लेकिन अपने पंजे में दबोच लेने वाले वाक्यों के लिए ही नहीं, उन नयी उपमाओं के लिए भी ज़रूर पढ़ना चाहिए, जिस पर कवि लगातार काम कर रहा है। 'रूठी हुई' कविता में वे कहते हैं :

धागों से ज़ख्म देती, खंजर से सिलती है।
वह मुझसे ऐसे बात करती है,
जैसे गलत कब्र पर फूल रखती है।

पहले खंड में ऐसी सूक्तियों के शिल्प में लिखी बहुधा कविताएं हैं, लेकिन मध्य खंड की कविताओं का मिज़ाज दूसरा है। संतों की-सी सहजता यहां भी है, लेकिन कविता का समूचा वैभव कविता के किसी एक खंड में नहीं, उसकी समूची संरचना के माध्यम से प्रकट होता है। इस खंड की अधिकांश कविताओं का मिज़ाज उनके दोनों पूर्ववर्ती संग्रहों से मिलता है। ये रचाव के सुख और समृद्धि से भरी हुई कविताएं हैं। यहां दुःख है भी तो इतने कलात्मक और दार्शनिक तरीक़े से, मानो वह अभीष्ट हो। गीत ने अपने जीवन के पन्नों को इन कविताओं में सीधे उतार दिया है। जो बात इन कविताओं के माध्यम से उभरती है वह यह कि कवि होना कोई विशेष दायित्व है, कि उसमें संवेदना और ज्ञान का विशेष तत्व होता है। वह लौकिक दृश्य को अलौकिक दृष्टि से देखता है। इस खंड में कुछ अपेक्षाकृत लंबी कविताएं कवि-व्यक्तित्व के प्रति अतिरिक्त आश्चर्य से भर देती है। गीत निश्चित तौर पर चिंतनशील कवि हैं। उनमें क्षण विशेष के अर्जित अनुभवों को तुरंत कविता में पलट देने की अपेक्षा धीरे-धीरे कल्पना के माध्यम से विकसित करने की इच्छा साफ़ दिखायी पड़ती है। इसलिए यदि क्रूरता या यातना भी है तो वह बहुत ही संयत तरीक़े से उपस्थित होती है। वे क्रूरताओं से इस हद तक संत क़िस्म की नफ़रत करते हैं कि उसकी आंच भी अपनी कविता में आने नहीं देते। 'उस समय' कविता की इन पंक्तियों को ज़रा देखें :

उस समय
मैंने अचरज किया कि हम कैसे मनुष्य हैं :
जिससे नफ़रत करते हैं, उसे मार देते हैं
जिससे प्यार, उसे कर देते हैं डंठल से अलग।
पत्थर की मूरत पर फूल चढ़ाते हैं और
फूल जैसे लोगों को पत्थर से मारते हैं।

ग़ौर कीजिए कि कवि आश्चर्य कर रहा है, नफ़रत या क्रोध नहीं। 'हृदय एक खोया हुआ महाद्वीप है' में भी लिखते हैं : 'हर आदमी मकड़ी है/ अपनी पहुंच की परिधि में जाल बुनने में मसरूफ़'। यहां भी दुःख है, यातना या छटपटाहट नहीं। मन के उमड़ते भावों पर भाषा का कड़ा पहरा है। अपनी एक कविता में वे अपना परिचय कुछ यों देते हैं :

'अकेले में खुद से बड़बड़ाता और समूह में सबसे चुप इनसान'। उनका पहरा जलते हुए दृश्यों के वर्णन में भी नहीं उठता। वे अपनी बेचैनियों की हिफ़ाज़त करते हैं, 'अंततः ख़ुद कवि को करनी होती है/ अपनी बेचैनियों की हिफ़ाज़त' और उसे बहकने नहीं देते। वे मृत्यु के दुःखद क्षणों में भी जीवन की ओर देखने वाले कवि हैं। 'पुल गिरने से मरे आदमी के घर में' भी वे देखते हैं :

मातम से भरे उस कमरे में
दो चीज़ें अब भी मुस्कुरा रही थीं :
मरने वाले की तस्वीर।
रोने वाली की गोद में दो माह का बच्चा।

इस संग्रह में मुझे एक ही ऐसी कविता 'उपहास के बाद' मिली जिसमें गीत ने अपने मद्धिम और संयत स्वभाव को खोया है, जिसमें उनकी झुंझलाहट पर कोई पहरा नहीं है। वह बेलाग तरीक़े से प्रकट हुआ है।

संग्रह के तीसरे और अंतिम खंड में भी पहले और दूसरे की तरह 27 कविताएं हैं। संरचना में ये निहायत छोटी-छोटी कविताएं गहरे बोध से जन्मी हैं। चिंतन के सतत क्रम में अर्जित बोध। गीत चतुर्वेदी के इस संग्रह को पढ़ते हुए कविता पर विश्वास और गहरा होता है। उन्होंने हिंदी कविता को नयी पहचान दी है। इसकी तसदीक़ संग्रह के अंत में की गयी 'प्रमुख शस्तियों' से भी की जा सकती है। सबसे अच्छी लगी संग्रह के बिल्कुल अंत में पाठकों के नोट्स के चार ख़ाली पन्ने इसी शीर्षक से छोड़ने की युक्ति। प्रकाशक और कवि दोनों ने पाठक को सम्मान दिया, यह हमेशा याद रखने वाली बात है।

2. महेश वर्मा का कविता संग्रह *धूल की जगह*

महेश वर्मा कवि और चित्रकार हैं। लंबे समय से लिखते और चित्र बनाते रहे हैं। इन दोनों ही कामों को करते हुए नवाचार और वैश्विक उपलब्धियों पर नज़र भी रखते हैं और अभिभूत भी होते हैं। रज़ा फ़ाउंडेशन के सहयोग से उनका पहला कविता संग्रह, *धूल की जगह* शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। महेश अपनी कविताओं से पाठक को मंत्रमुग्ध कर देने की क्षमता रखते हैं। उनकी कविता मुख्यतः जादुई वाक्यों की कला है। और कल्पना के जादुई विवरणों की भी। यद्यपि अतींद्रिय कुछ भी नहीं है। उनकी कविता में उपस्थित जीवन में निम्नमध्यवर्गीय जीवन के विषाद और उल्लास हैं, लेकिन उन्हें कविता में ले आने का तरीक़ा बिल्कुल अलहदा है। अपने इस तरीक़े के कारण वे तनिक अमूर्त भी प्रतीत होते हैं। यद्यपि अमूर्तता विवरणों में नहीं, बल्कि उसकी अन्विति में है।

महेश वर्मा में भी गीत चतुर्वेदी की ही तरह दुःख या उल्लास को उद्दीप्त और बेलौस तरीक़े से रखने की बजाय मद्धिम और संयत तरीक़े से रखने की काव्य-चेतना है। यह इधर के कई कवियों की अर्जित और विकसित काव्य-मुद्रा है। इन कविताओं को पढ़ते हुए वह भाव अक्सर संप्रेषित नहीं होता, जिसमें कविता विशेष का जन्म हुआ है, बल्कि संप्रेषण उसकी मुद्रा का होता है जिन्हें बहुत सोच-समझकर, सहज और स्वाभाविकता का रूप देकर गढ़ा गया है। लेकिन इसके साथ यह भी है कि यह कला बहुत आकर्षित करती है और कवि के प्रति उसका पाठक श्रद्धा और चमत्कार के भाव से भर उठता है। उदाहरण के लिए, उनकी एक कविता, 'आदिवासी औरत रोती है' को देख सकते हैं। इस कविता के केंद्र में भी मृत्यु है, लेकिन वह इतनी आकर्षक है कि मृत्यु की सारी भयावहता लुप्त हो जाती है, बचा रह जाता है भयमुक्त मृत्यु का विस्तार। इसका अर्थ यह बिलकुल नहीं है कि महेश विचार-शून्य कवि हैं। वे राजनीतिक रूप से सचेत और जागरूक व्यक्ति हैं। राजनीति के अंतर्विरोधों और विडंबनाओं पर उनकी गहरी पकड़ है। महेश को निजी तौर पर जानने वाले इसे जानते भी हैं। कभी-कभी कविता में भी वह प्रकट होता भी है, जैसे उक्त कविता के अंत में वे कहते हैं :

हम बहरहाल उन लोगों के साथ हैं

जिनकी नींद ख़राब होती है – ऐसी आवाज़ों से।

संवेदन-शून्य नागर और कथित संभ्रांत सभ्यता पर यह वैचारिक आघात है, लेकिन यह सबकुछ 'अंडरटोन' से बंधा हुआ है। इधर समकालीन कविता के एक धड़े ने 'अंडरटोन' को रचने में गहरी दिलचस्पी दिखायी है। बिखरे विन्यास, उत्तेजनाहीन भाषा, प्रत्यक्ष राजनीतिक घटनाक्रमों से विलगाव और कविता के यूरोपीय स्वर से अपनी भाषा को समृद्ध करने में उसने महारथ हासिल की है। क्या इसे हिंदी समाज का अपने समकालीन कवियों के प्रति उपेक्षा के फलस्वरूप लिया गया निर्णय कह सकते हैं? इसका ज़वाब तो वे कवि ही दे पायेंगे। एक बिल्कुल भिन्न संदर्भ में महेश वर्मा ने अपनी एक कविता, 'इस समय' में कहा है : 'सुर ऊंचा होते ही फटने लगेगी आवाज़'।

गुजरे समय में, विशेषकर बीसवीं शताब्दी के काव्य-चिंतन में, विशेष का सामान्यीकरण साहित्यिक बहसों का केंद्रीय चिंतन हुआ करता था। लगता है उसे अब त्यागने की तैयारी दिखायी पड़ रही है। इसके स्थान पर विशेष का और विशेषीकरण कलात्मक चिंतन के इस पक्ष के केंद्र में आ गया है। इस पर नये सिरे से विचार होना चाहिए। क्या महेश इस ओर से बिल्कुल उदासीन हैं? ऐसा नहीं है। उनकी कविता 'हरा रंग' की इन पंक्तियों के देखने से इसका आभास भी मिलता है :

जब मेरी कविता जाने के लिए उठी तब मैंने उसके लबादे पर ध्यान दिया
उस पर अलंकारपूर्ण ढंग से कढ़ाई की गयी थी
उसमें कीड़ों ने बारीक छेद कर दिये थे
वह जैसे सफ़ेद काग़ज़ के मैदान में चलकर खो गयी

घटनाओं और दृश्यों का पुनराविष्कार करने की अद्भुत क्षमता महेश वर्मा के पास है। इसलिए रोज़मर्रा के अनुभव भी उनकी कविता में आकर बिल्कुल नये और अनोखे हो जाते हैं। संग्रह की शीर्षक कविता में इस रोज़ के अनुभव को पकड़ने की उनकी सूक्ष्म निरीक्षण दृष्टि के जादू से भला कौन बच सकता है :

किसी चीज़ को रखने की जगह बनाते ही धूल
की जगह भी बन जाती, शयन कक्ष का पलंग
लगते ही उसके नीचे सोने लगी थी मृत्यु की
बिल्ली

ऐसे छोटे-छोटे अनुभव-वृत्त को रखने के बाद वे कहते हैं कि 'कोई गीत था तो यहीं था'। यह जीवन के प्रति गहरे विश्वास से पैदा हुआ है।

महेश वर्मा के इस संग्रह के बीच में 21 गद्य कविताएं है। इनमें से कुछ कविताएं – 'जनदर्शन', 'शेर दागना', 'मछलियां', 'नीला', 'पुराना', 'गुस्सा', 'अनुवाद' - निश्चित तौर पर इस संग्रह की उपलब्धि कही जायेंगी। 'पिता' कविता के गुस्सैल पिता, जो अब अशक्त हो गये थे, को लेकर ये पंक्तियां हमें अज़ीब ढंग से द्रवित कर देती हैं – 'कभी कभी गुस्साने के उनके चेहरे की उपमा अब दे पा रहा हूं कि जैसे तलवार चलने में एक कौंध का बनना और हवा में सोख लिया जाना'। इसी तरह की कविता 'पुराना' भी है। इसमें एक कवि के रचनात्मक संघर्ष, ख़ासकर कुछ नया करने में पुराने से बचने की क़वायद और पुराने के आ जाने से उत्पन्न द्वंद्व को बेहतरीन तरीक़े से उन्होंने पकड़ा है। इस कविता को पढ़े बिना इस द्वंद्व-भाव को नहीं समझा जा सकता।

गद्य कविता के बाद की कुछ कविताएं भी इस संग्रह को विशेष बनाती हैं। कवि की उदासी और उष्णता दोनों के ही दर्शन इन कविताओं में होते हैं। यहां वाक्यों की चमक से अपने पाठकों को चकित कर देने की कला अपेक्षाकृत कम है, बल्कि कविता का समूचा वैभव शब्द, पंक्ति, और पूरी संरचना के दौरान और उसके बाद भी मिलता है, मिलता रहता है। 'शब्दशः' कविता में वे अपनी कविता की प्रक्रिया का ज़िक्र भी करते हैं। अनुभूत सत्य को अपने चिंतन से लगातार मांजते रहने के कारण महेश की ये कविताएं अत्यंत निखर उठी हैं। मुझे लगता है कि

विश्व कविता की चमक से चौंधियाये पाठकों को आकर्षित करने के लिए पूर्वभाग, यानी गद्य कविता से पहले की कविताएं, यदि उनका पीआरओ हैं, तो ये अंतिम कविताएं उनकी क्षमता का पूर्ण प्रदर्शन हैं जिनमें अपने पाठक को भाव-विभोर और भाव-विह्वल कर देने की कला है। 'काष्ठशिल्प' इस दृष्टि से उनकी बेहतरीन कविता है। इसके अलावा भी पूरे संग्रह में, 'पिता बारिश में आयेंगे', 'कुर्सी', 'शू तिंग', 'लोहा और समुद्र', 'नसीहत', 'स्वीकार', 'अंत की ओर से', 'जाना' जैसी कुछ उल्लेखनीय कविताओं के लिए भी इस संग्रह को ज़रूर पढ़ना चाहिए। कई कविताएं पढ़ते हुए पूर्वज कवि की याद आना भी स्वाभाविक है। महेश ने तो 'पूर्वज कवि' शीर्षक से एक दिलचस्प कविता लिखी भी है।

महेश वर्मा की इन कविताओं को कलावाद और प्रगतिशीलता की पुरानी बहसों से समझना मुश्किल है। वैसे इन दोनों के बीच जो दीवारें थीं, वे लगातार ढही हैं। मैं नहीं जानता कि यह अच्छा हुआ या बुरा। क्या वह यांत्रिक बहस थी? क्या अबके जीवन ने उसके स्थगन को जायज़ क़रार दिया है? पता नहीं वह सचमुच की दीवार थी या वैचारिक रक्तपात के अहं से प्रेरित थी? तो क्या त्रिलोचन के उस प्रसिद्ध सॉनेट का अब कोई अर्थ नहीं रह गया कि 'हिंदी की कविता, उनकी कविता है जिनकी सांसों को आराम नहीं था, और जिन्होंने सारा जीवन लगा दिया कल्मष को धोने में समाज के'। महेश वर्मा और गीत चतुर्वेदी की इन कविताओं के पढ़ने की राह में त्रिलोचन और नागार्जुन के उठाये हुए सवाल बार-बार खड़े हो जाते हैं। हालांकि मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि कविता का बहुलतावाद किसी एक रुचि से निर्देशित कभी नहीं हुआ और न होगा। लेकिन बहस ज़रूरी है।

3. अरुण देव का कविता संग्रह *उत्तर पैगंबर*

अरुण देव हमारे समय के समर्थ कवि तो हैं ही, सतत रचनाशील और ज़रा कटकर रहने वाले कवि हैं। *उत्तर पैगंबर* उनका तीसरा कविता संग्रह है। इस संग्रह में शामिल कविताओं का कोई एक मिज़ाज नहीं है। अरुण देव अपने कवि को पूरी तरह खुला छोड़ देते हैं। उसे अपनी मर्ज़ी से विषयों के पास जाने की छूट देते हैं। फिर विषय में अंतर्निहित मिज़ाज के अनुरूप अपना वस्तु-संसार बुनते हैं। वे मनुष्य को उसकी संपूर्णता में अपनी कविता में लाने की सतत कोशिश करते हैं। नागरिक चिंता, प्रकृति, समुदाय, स्त्री, प्रेम, सभ्यता, राजनीति और सोशल मीडिया के कई जाने-अनजाने पक्ष उनकी कविताओं में देखे जा सकते हैं। विषय के अनुरूप उनकी भाषा भी तरल, सपाट या वक्तव्यनुमा दिखायी पड़ती है।

अरुण देव की ये कविताएं उस संवेदनशील मनुष्य की कविताएं हैं जो देखने के अधिकार और कर्तव्य के विस्तार को अपने कवि-कर्म का केंद्र-बिंदु मानता है। उनके देखने की क्षमता केवल प्रत्यक्ष घटनाओं तक सीमित नहीं है। अतीत की रूढ़ व्याख्याओं और भविष्य की संभावित दुनिया को वे कई-कई कोणों से देखते और परखते हैं। जायसी और घनानंद पर लिखी कविताएं इसका प्रमाण हैं। घनानंद पर लिखी कविता, 'सुजान' तो हिंदी साहित्य की इतिहास-दृष्टि से सवाल करती हुई और इतिहास की पुनर्व्याख्या की मांग करती हुई महत्वपूर्ण कविता है। कविता के अंत में जब वे कहते हैं –

> आह! हमारी हिंदी के पास 300 साल पुराने उस प्रेम के लिए
> न सम्मान है, न शब्द

तो यह आक्षेप प्रेम, स्त्री, सामंतवादी अभिरुचि और पवित्रतावाद पर जैसे एक साथ आघात करता है। अरुण देव जब इतिहास की पुनर्व्याख्या की मांग करते हैं तो उनकी मांग पुनर्व्याख्या की सांप्रदायिक मांग से कितनी भिन्न है इसे पूरे संग्रह में देखा जा सकता है।

संग्रह की पहली ही कविता 'रफ़ी के लिए एक शाम' इस संग्रह की बेहतरीन कविताओं में से एक है। एक कार्यक्रम के संक्षिप्त विवरण पर केंद्रित इस कविता में स्मृतियों में बसी दुनिया को जिस संवेदनशील ढंग से

उठाया है, वह इस कविता की खूबसूरती है। इसमें श्रोताओं को केंद्र में रखा गया है। संगीत पर केंद्रित कविताओं में अधिकतर सुर और कवि के ग्रहण-भाव के पारस्परिक संबंध और उसकी प्रक्रिया होती है। लेकिन अपने से इतर श्रोता के ग्रहण-भाव और उसके भीतर निर्मित संसार को पकड़ना एक नया ही कोण है। इसलिए मैंने कहा कि अरुण देव इस संग्रह में मूलतः एक संवेदनशील और वैचारिकी से समृद्ध दर्शक-कवि के रूप में सामने आते हैं। उनके देखने में सोचना और सोचते हुए देखना एक साथ चलता रहा है। एक छोटी-सी कविता, 'पेपर वेट' में इसे देखा जा सकता है :

उसका वज़न
काग़ज़ों को इधर-उधर बिखरने से रोकता है

भार से वह
काग़ज़ को कुचलता नहीं कभी भी

ताक़त की यह भी एक नैतिकता है।

अरुण देव की इन कविताओं में मनुष्य की गरिमा के दर्शन होते हैं। विशेषकर इस संग्रह की प्रेम कविताएं बार-बार पढ़ने के लिए आमंत्रित करती हैं। ये इतनी सहज और तरल हैं जैसे पानी। विछोह की मार्मिकता में भी प्रेम की गहराई और अधिक रेखांकित होती है। कोई अतिरिक्त मुद्रा नहीं, कोई भावावेश नहीं, कोई अत्युक्ति नहीं। सबकुछ सीधा, साफ़, सरल और पवित्र। साथ और विछोह, दोनों को समेटी हुई कविता, 'अलग अलग' पढ़ते हुए इसका एहसास होता। 'काम की बात' केवल दो पंक्तियों की कविता है, लेकिन संलग्नता की कितनी गहरी परतों से उभरी है : 'आज तुमसे बात हुई/ आज बस यही एक बात हुई।' प्रेम पर कविता लिखना किसी भी कवि के लिए चुनौतीपूर्ण होता है। इसमें भावुक या उच्छृंखल होने या फूहड़ होने के तमाम ख़तरे होते हैं। अलावा इसके, प्रेम चूंकि बहुत निजी भाव होता और उतना ही भाव-विह्वल कर देने वाला भी, इसलिए कविता लिखते हुए उसके आवेग से बच पाना अपेक्षाकृत मुश्किल होता है। इस नज़र से देखें तो अरुण देव इन कविताओं में सामर्थ्यवान कवि दिखायी पड़े हैं।

प्रेम कविता लिखते हुए अरुण देव जितने तरल और संलग्न भाव से भरे हैं, राजनीतिक कविताएं लिखते हुए उतने ही तार्किक और दृढ़। संग्रह के अंत में 'पुरस्कार का खेल', 'देशद्रोही', 'बहुमत' शीर्षक से तीन कविताएं और विशेषकर अंतिम कविता 'मैं बीमार हूं' ध्यान देने योग्य कविताएं हैं। 'मैं बीमार हूं' कविता में लिंचिंग, सत्ता की तानाशाही, क्रूरता और उसके बरक्स मध्यवर्गीय उदासीनता और आत्मकेंद्रिकता को अरुण देव ने रोज़ की घटनाओं के क्रम में उठाया है। दिल दहला देने वाली घटनाएं लगतार बढ़ रही हैं और उसी अनुपात में नागरिक चुप्पी भी। यह किसी भी कवि के लिए मुश्किल पैदा करने वाली स्थिति है।

इस संग्रह को समकालीन कविता के प्रातिनिधिक स्वरों के संकलन के रूप में भी पढ़ा जाना चाहिए। विविधता, परिवेश से जुड़ाव और हस्तक्षेप इसे महत्वपूर्ण बनाती है। संयत, मद्धिम, उत्तेजना, बुदबुदाहट और चिंतन के कई-कई स्वर इन कविताओं में देखे जा सकते हैं।

4. आर चेतनक्रांति का कविता संग्रह *वीरता पर विचलित*

कथित उदारीकरण से जन्मी मनोवृत्तियों को पकड़ने की दृष्टि से आर चेतनक्रांति की कविताएं लाजवाब हैं। *वीरता पर विचलित* उनका दूसरा संग्रह है। इसे पहले संग्रह का विस्तार ही कहना चाहिए। चेतनक्रांति हमारे समय के ऐसे कवि हैं जिनका देश और काल नियत है। पिछली शताब्दी के नब्बे के दशक से लेकर आज तक का समय। और देश, राजधानी दिल्ली, जिसमें दूरदराज के गांव-क़स्बे से खिंचे चले आते लोग। लेकिन फिर भी इन कविताओं का

विस्तार सार्वकालिक और सार्वदेशिक है। इन कविताओं को हमारे समय की बेचैनी और तनाव की प्रतिनिधि कविताएं कहना चाहिए। कविताएं कैसे समाज, राजनीति और मन-मस्तिष्क के कोनों और दरारों को उघाड़ती हैं, यदि इसका जायज़ा लेना हो तो इस संग्रह की कविताएं ज़रूर पढ़नी चाहिए। समय के छद्म, पाखंड और भावुकता के भीतर छुपी वृत्तियों पर चेतनक्रांति जिस तरह से हमला करते हैं वह अद्भुत है। मैं पूरे यक़ीन और ज़िम्मेदारी से कह रहा हूं कि वे हमारे समय के उन विरले कवियों में हैं जिनकी कविताएं पढ़ते हुए पिछले तीस साल की बदलती दुनिया को समझने और उसमें खुद की स्थिति पर विचार करने की दृष्टि विकसित होती है।

चेतनक्रांति भारतीय कविता के भव्य प्रासाद में धंसते भी हैं और वहां से अपनी रचनात्मक-दृष्टि विकसित भी करते हैं। लेकिन कुछ अतींद्रिय या मुग्ध होकर 'वाह' कहलाने लायक़ रचने की काव्यात्मक-इच्छा उनके भीतर बिलकुल नहीं है। रघुवीर सहाय अक्सर याद आते हैं – 'सन्नाटा छा जाये मैं जब कविता सुना कर उठूं, वाह वाह वाले निराश हो घर जायें।' चेतनक्रांति में भी ज़बर्दस्त खिलंदड़ापन है। और भाषा भी बेहद साफ़ और निर्णित। संग्रह का शीर्षक ही अपना मंतव्य स्पष्ट कर देता है। वे हमारे समय की वीरता से विचलित हैं, क्योंकि वीरता आक्रमण करने और संहार करने का नाम है, जबकि जिसे कायर कहा जाता है वह दरअसल जीवन का समर्थक है। यह पावर डिस्कोर्स का भिन्न कोण है। इसीलिए वे देशभक्त को संबोधित करते हुए 'देशभक्त हे' शीर्षक कविता में लिखते हैं :

सपाट सोच, इकहरा दिमाग, दिल पत्थर।
सैकड़ों साल से ठहरी हुई काई ऊपर।
बेरहम सोच की ख़ुदकश निगहबानी से फ़रार।
तुम जो फिरते हो लिये सर पे क़दीमी तलवार।
तुमको मालूम भी है वक़्त कहां जाता है।
और इस वक़्त से इनसान का रिश्ता क्या है।

पावर डिस्कोर्स चेतनक्रांति की कविता का केंद्रीय स्वर है। इस शक्ति-संरचना के निर्माण के कारणीभूत तत्वों - मर्दवाद, जाति, धन, धर्म और उपभोक्ता-वस्तुओं पर उनकी नज़र गहरी है। इस शक्ति-संरचना के अर्जन के आकर्षण में दूर-दराज के गांव और क़स्बों से महानगरों में खिंचे चले आते लोगों के स्वप्नों और उनके जीवन-यथार्थ की वे अनदेखी नहीं करते। चूंकि स्थितियां उनके सामने खुरदुरी, नंगी और अपने वास्तविक आकार में हैं, इसलिए उसे रखने की भाषा भी खुरदुरी और लगभग अभिधात्मक है। अभिधात्मक होते हुए लंबी सांस खींचकर बरती हुई भाषा। 'वरना', 'कविता के भले के लिए', 'काव्य-यात्रा' जैसी कविताओं में उन्होंने अपनी कविता संबंधी मान्यताओं को रखा है। 'कविता के भले के लिए' में वे लिखते हैं :

आओ अब ये करें
कि सुरक्षित ऊब से निकली
बुद्धि-तरंगों को
रोकें
और कविता को साहित्य-क-र-मि-यों के चंगुल से निकालें।

चेतनक्रांति न केवल 'सुरक्षित ऊब' से कविता को निकालने का आह्वान करते हैं बल्कि अपनी कविता को निकालते भी हैं। मर्दवाद और स्त्रीवाद के नये संस्करणों पर केंद्रित जो कविताएं उन्होंने लिखी हैं, वे हमारे समय सेक्सुअलिटी को समझने का एक ज़रूरी अध्याय हैं। चार खंडों में विभाजित इस संग्रह के तीसरे खंड में नयी स्त्री को परिभाषित करने के क्रम में लिखी कविताएं हैं। ये स्त्रियां खाप पंचायतों, बेधने वाली दृष्टियों, बलात्कार की आकांक्षा पाले घूम

रहे हर उम्र के मर्दों, धर्माचार्यों, नैतिकता के नाम पर स्त्री को दीवारों के भीतर बंद करने वाली इच्छाओं के सामने अपनी देह-भाषा, अपने स्वप्न और इरादों के साथ तमाम जुल्मों को झेलती हुई लेकिन प्रतिकार करती हुई साकार खड़ी स्त्रियां हैं। वे इन्हीं स्त्रियों की ओर से कहते हैं :

अपने हल, अपने खुरपे, अपने फावड़े, अपनी लाइसेंसी बंदूकें,
बांहों की मछलियां, जांघों का जांगर, मूंछें,
अपने बेसिर के लोथ शिश्न-योद्धा लड़कों को लेकर
तू जा यहां से
निकल, समेट अपना पसारा

('अब मन की मेहनत कर ताऊ')

ऐसी फटकार, लताड़ और मर्दवाद का पानी उतार उसे शर्मिंदा भाव से भर देने वाली गज़ब की धारदार कविताएं उन्होंने लिखी हैं। इस फटकार भाव में स्त्री का आत्म-सम्मान और अपनी देह के प्रति सम्मान का भाव भी प्रकट हुआ है। 'यहां जींस बिकती है' इस दृष्टि से उल्लेखनीय कविता है। सीएए के विरोध में युवा स्त्रियों ने जिस क़दर प्रतिरोध को अंजाम दिया, वह इस कविता के महत्व को प्रमाणित करता है। इसी में वे लिखते हैं – 'जहां भी कोई बेडौल ख़तरा कुलबुलाता है/ बचाने को एक जींस आ ही जाती है।' हालांकि उनकी यह कविता उक्त प्रतिरोध के बहुत पहले लिखी गयी है। मर्दवाद को वे कैसे नंगा और अपमानित करते हैं इसे देखने के लिए 'इनके ऊपर हंसो' कविता ज़रूर पढ़नी चाहिए। इसमें उन्होंने ऑनर किलिंग के नाम पर अपनी लड़कियों की हत्या कर जेल में बंद गर्वीले पिताओं पर उसी तरह हंसने का प्रस्ताव रखा है जैसे बच्चे सर्कस में भालू का खेल देखकर हंसते हैं।

चेतनक्रांति समय की प्रखर आलोचना यदि अपनी कविताओं में करते हैं तो इस समय के आने के कारणों पर भी नज़र रखते हैं। इसलिए उनकी आलोचना एकांगी नहीं लगती। 'सीलमपुर की लड़कियां' उनकी प्रसिद्ध कविता है जो पहले संग्रह में है। इस संग्रह में सीलमपुर के लड़कों पर भी इसी शीर्षक से एक कविता है जिसमें उन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों को समझने की कोशिश की गयी है जिसने बाद के समय को गढ़ा। धर्म और राजनीति के संबंधों को समझने के लिए वे नब्बे के दशक के पहले के ठहराव और उससे जन्मे खालीपन, मीडिया और कारपोरेट पूंजी के निर्देशन में उतरे बाज़ार के गठजोड़ की बारीक़ शिनाख्त करते हैं। लेकिन यदि चेतनक्रांति की कविताओं की भाषा पर बात नहीं हुई तो कविताओं पर बात अधूरी ही रह जायेगी। भाषा से खेलने और श्लील और मखमली और अनकहे को साधती मौन-धीर-गंभीर भाषा के प्रति उनका आक्रोश न केवल सिद्धांत रूप में आया है बल्कि यह उनकी कविता का वैभव भी है। इस पर ज़्यादा कुछ न कहते हुए केवल दो छोटे उद्धरण :

हर सड़क का नाम स्वदेशी ? जी साहिब कर दिया
हर तरफ हुक्काम स्वदेशी ? जी मालिक कर दिया
औरतें साड़ी में निकलें ? ओत्तेरी, जी भेज दीं
साथ में सिंदूर की डिबियाएं भीं? जी, भेज दीं
मुझसे अपने स्वार्थ छिपाते नहीं बनते
अपने लालच-लोभ मैं धाड़ से कह देता हूं
जिन्हें सुनकर सलीक़े / अवाक रह जाते हैं

(भय-प्रवाह)

जाने क्यों

पर यह मुझे ज़्यादा घातक लगता है
कि दाबे बैठे हैं और धीरे धीरे छोड़ रहे हैं

(सीधी सड़क-टेढ़ी सड़क)

संग्रह के अंतिम खंड में प्रेम से संबंधित कविताएं हैं। 'प्रेम से संबंधित' इसलिए कहा कि इसमें प्रेम तो है लेकिन वह प्रचलित प्रेम कविताओं से बिलकुल अलग है, क्योंकि इसमें भी भाव और परिवेश का सतत संघर्ष जारी रहता है। इस संग्रह में केवल एक कविता, 'बच्ची और बूढ़ा पेड़' फ़ैंटेसी-परक है। प्यार में भी पावर डिस्कोर्स की शिनाख़्त करने की आकांक्षा चेतनक्रांति को सतत जागरूक कवि सिद्ध करने के लिए काफ़ी है। चेतनक्रांति की ये कविताएं अपने पाठक को मुग्ध नहीं करतीं, उन्हें आलोचन-संपन्न और विवेक-संपन्न बनाती हैं। इसके लिए वे सभ्यता के अंधेरे कोनों का सामना करते हैं। सभ्यता रूपी फोड़े के ऊपर की पपड़ी को उघाड़ देते हैं। अब इसमें खून और मवाद निकले तो इसे कवि का नहीं सभ्यता का दोष मानना चाहिए।

मो 9850313062

पुस्तक संदर्भ

1. *ख़ुशियों के गुप्तचर* : गीत चतुर्वेदी , रुख़ पब्लिकेशंस प्रा. लि., दिल्ली, 2019
2. *धूल की जगह* : महेश वर्मा, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नयी दिल्ली, 2018
3. *उत्तर पैगंबर* : अरुण देव, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नयी दिल्ली, 2020
4. *वीरता पर विचलित* : आर चेतनक्रांति, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नयी दिल्ली, 2017

श्रेष्ठता के अमानवीय रूपों का सामना करती कविता

बली सिंह

इस दौर में भूमंडलीकरण रचना और रचनाकारों की चिंता के केंद्र में बना हुआ है। सांस्कृतिक धरातल पर जैसे-जैसे वह प्राथमिकता पाता गया, वैसे-वैसे रचना में भी उसने प्राथमिकता हासिल कर ली – रचना के सभी रूपों में, या कहें कि कला के तमाम रूपों में। इसे मोटे तौर पर विश्वस्तर पर चली बाज़ार की मुहिम कह सकते हैं जिसे कुछ चिंतकों ने अंतर्राष्ट्रीय उदारवादी लोकतांत्रिक प्रक्रिया भी कहा है। यह प्रक्रिया वास्तव में जितनी समाहारी है उससे कहीं अधिक बहिष्कारी है। इसने बहुत सारे तबक़ों को हाशिये पर धकेल दिया है, किसान, मज़दूर, छोटे व्यापारी, लघु उद्यमी, निम्न मध्यवर्ग इत्यादि से युक्त एक व्यापक हाशिया निर्मित हुआ है। इस बीच समाज में खाई भी बढ़ी है और हाशिया भी। इसके प्रतिरोध स्वरूप रचनाकारों का ध्यान सांस्कृतिक क्षेत्र में व्याप्त नये-पुराने श्रेष्ठता के प्रचलित प्रतिमानों-प्रतिष्ठानों के दमनकारी रूपों की ओर गया और उन्होंने उत्पीड़ित, उपेक्षित, दमित अस्मिता रूपों की पहचान को तरजीह दी, जिसमें नये-पुराने दोनों ही शामिल हैं। इधर की कविता में हमें इन्हीं उक्त रूपों की, दमनकारी और दमित रूपों की 'बाइनरी' उपस्थिति देखने को मिलती है। इसे हम यथार्थ का विशिष्ट रूप भी कह सकते हैं जो नव-यथार्थ है। जैसे अन्य क्षेत्रों में विशिष्टीकरण बढ़ा है उसी तरह कविता के क्षेत्र में भी सामान्य यथार्थ की जगह विशिष्ट यथार्थ का दख़ल बढ़ा है जो इस दौर की कविता की ख़ासियत है। इधर आये कुछ काव्य-संग्रहों को लेकर इस पर ठोस रूप में विचार किया जा सकता है।

कवि शंभु यादव का एक नया काव्यसंग्रह आया है – *साध रहा है जीवन निधि*। शंभु की प्राथमिकता साधारण जन है, - उसमें मज़दूर है, किसान है, लोक के रूप हैं, जिसमें गांव भी शामिल है। इन सब का विरोध भूमंडलीकरण की चल रही प्रक्रिया के विविध रूपों से है। उसके विनाशकारी चरित्र से है। जो श्रेष्ठता के नये अमानवीय रूप हैं, ग़रीब आदमी उसका दुष्परिणाम झेल रहा है। कहीं मिल बंद होने से मज़दूर फ़ालतू हो गया है – 'रोज़ दोपहर तेज धूप में लू मार खा/ खड़ा रहता है बंद पड़ी मिल के सामने/ मार खाया मज़दूर है, फ़ज़ूल है' (*साध रहा है जीवननिधि,* पृष्ठ-92) तो कहीं 'ख़स्ताहाल किसान और/ ख़स्ताहाली ख़ुदकुशी' है (वही, पृष्ठ-12) और, कहीं लोगों की सुबह ही मनहूसियत से भरी है। शंभु की एक कविता 'मेरी गली की एक सुबह' में जब 'मैं' सुबह अपने कमरे से बाहर निकलता है तो 'लेटे बीमार पिता' दिखते हैं, फिर बालकनी में 'पड़ोसी, जिसकी मां की मृत्यु हुई है परसों', और 'बाहर गली में कूड़े भरी थैलियां' दिखती हैं। गली में 'पेड़ पौधे और चिड़िया-कबूतरों' का तो नामोनिशान ही नहीं है – 'अजीब निराली है यह सुबह' और दावा किया जा रहा है कि 'मौसम बसंत का है' (वही, पृष्ठ-22) उक्त प्रक्रिया के चलते एक तरफ़ तो यह सब घटित हो रहा है और दूसरी तरफ़ 'मल्टी नेशनल वैभव/ महानगरीय तामझाम' (वही, पृष्ठ-17), और 'ग्लैमर' से भरी दुनिया छायी हुई है, जिसमें 'मोबाईल टावरों की / आकाशीय टीम-टाम' है।(पृष्ठ-17), 'इंद्रजालिक होर्डिंग' हैं (पृष्ठ-28), 'टीवी के रुपहले परदे पर खुलती' देवलोक खिड़की है, 'नाना रूप धर वैभवशाली फ्लैट्स' हैं, 'स्त्री-देह' है, लुभावने विज्ञापन हैं, अप्सरा देह-छवि और अलौकिक देवालय' हैं।(वही, पृष्ठ-84) कुल मिलाकर एक 'इंद्रलोक' (जादुई संसार) ही रच डाला है। इंद्रिय सुखों

की प्रबलता लिये हुए। शंभु ने खाने में 'मैकडोनाल्ड बर्गर' और पीने में 'फ्रेंच रेड वाईन' का ज़िक्र अपनी कविताओं में किया है। यानी भोग-उपभोग पर बल है और उपभोक्ता संस्कृति का बोलबाला है, इस जादुई संसार में। इस जादुई संसार का क्रिटीक है शंभु यादव का काव्यसंग्रह, *साध रहा है जीवननिधि*।

इस 'इंद्रलोक' ने लोगों को भ्रमित कर रखा है। 'आमजन के सपनों में मनोहारी दस्तक' दे रहा है। (वही, पृष्ठ-84) मज़दूरों को लोगों के मानस पटल से बेदख़ल कर रहा है यह, - 'लेकिन इस वंचयिता को नहीं पता है/ मेरे दिमाग़ के अंदर , जहां/ उसका होना घटित हो रहा है/ उसे किसी अन्य प्रबल-परत ने आ घेरा है' (वही, पृष्ठ-78) नतीजतन मज़दूरों के दुःख उसके दिमाग़ की स्क्रीन से ग़ायब हो रहे हैं, -'लिखी जानी जो मज़दूर-व्यथा कथा/ फिर से दिमाग़ के स्क्रीन पर लाने में/ फ़िलहाल, नाकामयाब मैं' (वही, पृष्ठ-73) यानी आज के मनुष्य का मज़दूरों तक स्थानांतरण होने ही नहीं दिया जा रहा है। यही स्थिति किसानों के साथ भी घटित हो रही है। लोग उसके बारे में गढ़े गये खुशहाली के मिथ में फंसे हैं। एक आम धारणा बना दी गयी है कि ' मेरे देश की धरती का किसान / खुशहाल आबाद है, / चौपाल में बैठ/ फुरसत से हुक्का गुड़गुड़ाता है/ खेलता है चौपड़'(वही, पृष्ठ-12) जबकि सच्चाई इसके उलट है। उसकी हालत ख़स्ता है और वह ख़ुदकुशी कर रहा है। किसानों के संबंध में बनाये गये इस मिथ को तोड़ने का काम शंभु की कविता करती है। उक्त मायाजाल में फंसे व्यक्ति की दुर्गति भी शंभु यादव की कविता में है। 'कपालक्रिया' उनकी ऐसी ही कविता है, जिसमें एक 'नया आदमी आसमान मुख़ातिब' मोबाईल टावर के 'अंतिम सिरे पर पहुंच कर 'आनंदित' था, बौराया, भूला अपनी चेतना'(वही, पृष्ठ-14) बदहवासी में उससे ऊपर वाला किनारा छूट जाता है और वह 'लौह स्तंभों के बीच से अटकता-पटकता/ धरती आ गिरा धड़ाम, खूनम-खून, चित्त'(वही, पृष्ठ-11) यह इस विकास की विसंगति है, जिसके शिकार बहुत लोग हो रहे हैं। उक्त 'इंद्रलोक' में देशी-विदेशी व्यापारी बहुत सक्रिय नज़र आते हैं। इनकी वजह से न केवल मज़दूर बेदख़ल हुए हैं वरन् प्रकृति समेत लोक के रूप भी बेदख़ली का शिकार हो, दृश्य-पटल से ग़ायब होते जा रहे हैं। 'वहां बाग़ रहता था' नामक कविता इसी ओर इशारा करती है। जिस बाग़ में बचपन का आनंद कवि ने लिया था, दीवार फांद कर घुस जाना और तरह-तरह की चीज़ों का 'कचरी बेलें, खरबूजे और तरबूजे' का 'मीठा मुलायम स्वाद' और 'सर्द धूप में बेरों का आनंद लेना, वह बाग़ अब उजड़ चुका है। 'उजाड़ वाला बाग़ कहे जाने वाली/ उस धरती के, पेड़ कट चुके हैं/ मोल कर भेज दिये गये हैं शहर को'(वही, पृष्ठ-44) अब 'देशी-विदेशी अंग्रेज़ देखे गये हैं वहां/ जहां बाग़ रहता था'(पृष्ठ-44)

इन्हीं के अनुसंगी 'तिलकधारी माला-भंडार पहने' कर्मकांडी और रूढ़िवादी महान आत्माएं हैं, जो लोगों को भ्रमित कर रही हैं। कवि शंभु यादव ने 'गीता एकमात्र रास्ता है' और 'उसने नया कुछ कहा क्या' कविताओं में इसी भ्रम को चिन्हित किया है। नये और पुराने दोनों तरह के भ्रमों से ग्रस्त व्यक्ति, श्रेष्ठता के इन प्रतिमानों से त्रस्त व्यक्ति, 'महानगरीय पीड़ा' भुगतता हुआ आज दिल्ली का हाशिया है। यथार्थ के अनेक ख़ास रूपों को हमारे सामने रखते हुए शंभु यादव ने उक्त मायावी संसार की असंगति को उजागर किया है।

शंभु यादव की तरह ही कवि जवाहर लाल जलज की कविताओं में भी भूमंडलीकरण की चुनौती, ग़रीब आदमी, मज़दूर-किसान और ग्रामीण लोक चिंता के केंद्र में है। उनका हाल-फ़िलहाल आया काव्य-संग्रह, *रहूंगा उन्हीं शब्दों के साथ* इस बात का गवाह है। जलज जी ने नये श्रेष्ठता रूपों के बढ़ते दबदबे, उसकी बढ़ती एकरूपता और केंद्रीयता का विरोध अपनी कविताओं में किया है। एक कविता 'कृतघ्न महासागर' में वे बताते हैं कि जो नदी समुद्र के पास आयी है उसका वह वजूद ही मिटा देता है, - 'मिटा देते हो तुम/ उसका नामों-निशान तक/ हमेशा-हमेशा के लिए/...कितना अच्छा होता कि/ बना रहता उसका भी अस्तित्व'(*रहूंगा उन्हीं शब्दों के साथ*, पृष्ठ-27) इसी तरह 'दुनिया यह सूरज का विज्ञापन' कविता में सूरज का एक अलग ही प्रतीकार्थ है, 'सूरज उग आता है अचानक/ किसी महापुरुष की तरह' और खो जाती है 'संघर्षरत तारों की मनमोहक दुनिया/ और दहक रहा होता है-/ एक तमतमाता हुआ इतिहास पुरुष सूरज/ तारे कहीं नहीं होते/ उनके इतिहास की किताबों में' (वही, पृष्ठ-30) सूरज

यहां सर्वसत्तावाद का प्रतीक है। जिसके चलते तारों की दुनिया ही कहीं खो जाती है। बहुलता और विकेंद्रीयता ख़त्म हो जाती है। एक केंद्रीय चमक दमक न जाने कितनों की पहचान को ख़त्म कर उन्हें दृश्य पटल से ही ग़ायब कर रही है। उत्पीड़ित करते हुए हाशिये पर तो धकेल ही रही है। कवि की इच्छा है कि उनकी भी पहचान बनी रहे और समुद्र जैसे महा केंद्र के सामने उसका अस्तिव भी बचा रहे। भूमंडलीकरण का रूप भी कुछ ऐसा ही है। कवि जलज ने उसे भूत कहा है। उनकी एक कविता है 'भूमंडलीकरण का भूत'। यह भूत कुछ ज़्यादा ही ख़तरनाक है, भूत सीधे भी होते हैं (ऐसी कहानियां लिखी भी गयी हैं) पर 'यह ऐसा भूत है/ जो पसंद करता है सवार होना/ सिर्फ़ मज़दूर, किसान, मजबूर इंसान/ और असह्य आम जनता पर ही'(वही, पृष्ठ-49) 'भूत' शब्द में पुराने साम्राज्यवाद का भी संकेत छिपा है, क्योंकि इसका भी वही लक्ष्य है जो पहले का था। यानी 'विस्तारवादी अभियान'(वही, पृष्ठ-49) इस अभियान में जो संलग्न हैं उन्हें कवि ने 'कुबेर के वंशज' कहा है – 'नहीं सोचते कुबेर के वंशज/ कि जो मज़दूर हैं/ दीन हीन किसान हैं/ वे भी हैं इंसान' (वही, पृष्ठ-29) वे इनको पशु बनाने पर तुले हुए हैं। कवि के मुताबिक़ हमारे देश का ग़रीब आदमी ऐसा ही है जैसे बैल होते हैं – 'देखा है कभी ध्यान से उन बैलों को/ जो लादे हुए कंधों पर/ ज़िम्मेदारियों का जुआ'(वही, पृष्ठ-31) यह ग़रीब आदमी का विशिष्टीकरण है जो हमारे इस दौर ने कर दिया है। ये यथार्थ का ख़ास रूप है। बैल का घनिष्ठ संबंध किसानों से सदैव रहा है, और कवि जलज की कविताओं में किसानों की चिंता प्रमुखता लिये हुए है। इसी संग्रह में उन्होंने किसानों पर गीत भी लिखा है और छंदमुक्त कविता भी। लेकिन दोनों ही तरह की कविताओं में विचारों की प्रमुखता है। 'पिसा जा रहा है किसान' गीत में चिंता व्यक्त हुई है कि 'देखो, अब कंगाल किसान सचमुच ही है विकट तबाह/ ग्रस्त अभावों में रहता है हर धनहीन किसान यहां'(वही पृष्ठ-113) और, 'किसान' नामक कविता में उसके श्रम का 'मनुष्यता' के लिए महत्त्व रेखांकित करते हुए प्रश्न किया गया है कि 'क्यों नहीं आंका जाता है?/ उसके श्रमसाध्य अवदान का सही मूल्य'(पृष्ठ-53) ऐसी कविताओं में विचारों के सीधे 'कहन' के ज़रिये एक सामान्य यथार्थ की उपस्थिति पायी जाती है। कलात्मकता की कमी ज़रूर खटकती है, पर व्यापक सरोकार की नहीं। उनके सरोकार की जड़ें 'हलाल होते पेड़' तक जाती हैं – 'आदमी है कि /बना हुआ है जीवधारियों में महान/ चतुर, कुशल, बुद्धिमान/ कर रहा है हलाल/ एक एक पेड़'(पृष्ठ-55)

महानता या श्रेष्ठता के ये रूप विस्तारवादी रवैया अख़्तियार करते हुए प्राकृतिक रूपों को ही नष्ट नहीं कर रहे हैं, वरन् लोक को भी तबाह कर रहे हैं – ' लोक अब तबाह है/ वक़्त खुद गवाह है'(वही, पृष्ठ-72) इस अमानवीय कृत्य के बरक्स कवि को कविता पर, उसकी क्षमता पर पूरा यक़ीन है। 'मैं कविता हूं' में कवि स्वयं कविता के मुख से कहलवाता है कि 'नहीं मार पाता है मुझे क्रूर महाकाल/ मैं रहती हूं जीवित हर काल, हर हाल/ बचाने के लिए जूझती मनुष्यता के प्राण'(वही, पृष्ठ-57) कविता वास्तव में वह सृजनात्मक शक्ति है जो सर्वकालिक और प्राणदायिनी है। कविता–केंद्रित बहुत सारी काव्य-रचना कवि जलज ने की है, वे कविता की अस्मिता की पहचान कराने वाले कवि भी हैं।

कविता को लक्ष्य कर हरेराम समीप ने भी कई कविताएं लिखी हैं। उनके हाल-फ़िलहाल आये काव्य-संग्रह का नाम ही है, *शब्द के सामने*। शब्द कविता या रचना की लघुतम इकाई भले ही हो, पर वह अनिवार्य और मूल इकाई है। कई कवियों ने शब्द को कविता ही कहा है, जिसमें त्रिलोचन शास्त्री का भी नाम लिया जाता है। उनका तो एक कविता-संकलन ही है, *शब्द*। समीप जी के लिए भी वह कविता और उससे आगे बढ़कर अभिव्यक्ति का पर्याय है। वे भी शब्द की शक्ति से परिचित हैं – 'शब्द ने बचायी थी/ यह सुंदर मानव सभ्यता/... शब्द ने बनाया है सदैव/ निर्बल को सबल/ निर्जीव में फूंके हैं प्राण।'(वही, पृष्ठ-11) पर इन दिनों तो स्थिति ऐसी हो गयी है कि उसके अस्तित्व पर ही संकट आन पड़ा है –'आज भटक रहे हैं शब्द/ भय व असुरक्षा के बीहड़ में'(पृष्ठ-16) इससे तो फिर भी वे कभी न कभी निकल आयेंगे, पर सबसे बड़ा संकट तो यह है कि वे ग़लत हाथों में पड़ गये हैं। वे न सिर्फ़ 'बाज़ार में बिक रहे हैं' वरन् ' बाबाजी के कमंडल में रखे हैं शब्द' और जिन्हें 'ईश्वरीय प्रसाद' की तरह बांटा जा रहा

है।(वही, पृष्ठ-17) यानी वे व्यापार और रूढ़िवाद के शिकार हो रहे हैं।

हरेराम समीप ने हमारे जीवन में बढ़ते बाज़ार के दख़ल और उसके दुष्प्रभावों को अपनी कविताओं में प्रमुखता से जगह दी है। उनकी प्राथमिकता भी साधारण जन जीवन ही है जो मज़दूरों, किसानों और गांव से बना है। कवि के अनुसार इसमें भुखमरी का वास है – 'भूख/ चारे की तरह खा रही है ज़िंदगियां/चपर चपर'(वही, पृष्ठ-37) बच्चों से लेकर बड़े तक इसकी गिरफ़्त में हैं। कहीं 'भूख से बेबस' बच्चा चौक पर तरह तरह का सामान बेचने पर मजबूर है(पृष्ठ-25), तो कहीं उसे 'बेचा गया/भूख के बदले / महानगर से' और उलटे ' रोटी उसको चबा रही है'(वही, पृष्ठ-27)। यही हालत किसान की भी है। 'भूख की रस्सी/ कसते कसते' उसके गले पर 'ठहर ही गयी है(वही, पृष्ठ-24) और, मज़दूर की रोज़ी-रोटी का कोई ठिकाना ही नहीं है। उसे तो मुक्त बाज़ार के हवाले कर दिया गया है। जगह जगह उग आये हैं 'लेबर चौक', जहां पहुंचने के लिए जल्दबाज़ी में लग जाता है सुबह सुबह मज़दूर – 'करे पहुंचने की जल्दी वह/लेबर चौक पर बिक जाने को / सबसे पहले'(वही, पृष्ठ-30) इतना ही नहीं, बाज़ार की ऐसी सत्ता तो कभी नहीं दिखी हमारे यहां। धंधेबाज़ की नज़र गांव पर पड़ी 'तो नये माल की तरह / उसने खूब गांव को बेचा/ बड़े-बड़े बाज़ारों में / अंतर्राष्ट्रीय मंडियों में'(वही, पृष्ठ-36) वास्तव में बाज़ारी-सत्ता की बेचैन अभिव्यक्ति है हरेराम समीप की कविता, क्योंकि 'ग्लोबल स्प्रिंग मैजिक' पर उसी का कब्ज़ा है। (वही, पृष्ठ-79)

बाज़ार यहां अकेले ही इतना शक्तिशाली नहीं हो गया है। उसके अनुसंगी राजनेताओं का इसमें बड़ा हाथ है। एक ख़ास तरह की रानजनीतिक शक्ति इसके पक्ष में लगी है। इस 'लगन' पर कवि राकेश रेणु ने काफ़ी कविताएं लिखी हैं जो उनके काव्यसंग्रह, *इसी से बचा जीवन* में नज़र आती हैं। राजनीतिक कविताएं राकेश रेणु की काव्य-रचना का ख़ास पहलू हैं। वे 'राजनेता : एक' और 'राजनेता : दो' में बताते हैं कि 'महज़ एक आढ़तिये की सेंध' बन राजनेता ' लगातार रौंदते हैं हमारी उम्मीदों के खेत'(*इसी से बचा जीवन*, पृष्ठ-47-48) वे 'स्मार्ट' हो गये हैं – 'नेता कब के हो गये स्मार्ट'। वे इतने स्मार्ट हो गये हैं कि जब वास्तविक दुनिया में कुछ दे नहीं पाते तो हमें आभासी दुनिया में ले जाते हैं और 'आभासी विकास /आभासी रोज़गार' का भ्रम बनाये रखते हैं।(वही, पृष्ठ-40) इस आभासी दुनिया का एक सच 'उत्तर सत्य' भी है। राकेश जी ने 'उत्तर सत्य: एक' और 'उत्तर सत्य: दो' नामक कविताएं लिखी हैं। कवि के अनुसार आज हमें ऐसे मानस लोक में पहुंचा दिया गया है जहां 'सच एक मरीचिका है' जो वास्तव में सच है वह तो असत्य लगता है और असत्य ही सत्य है – 'रामनाम सत्य है/ मौत का तरीक़ा सच है/ मारना खदेड़ना – बतंगड़/ वह सच नहीं'(वही, पृष्ठ-41) यहां तक कि 'आत्महत्या करने वाले का बयान' तक सच नहीं है।(वही, पृष्ठ-42) यह एक ऐसी राजनीति है जो हमें बहकाने के लिए सुदूर अतीत-गौरव का पाठ पढ़ाती है। एक ऐसी श्रेष्ठता के आभासित काल में पहुंचा देती है जहां से निकलना बहुत मुश्किल है। सुदूर अतीत की श्रेष्ठता के अनेक मिथ हमारे बीच में प्रचलित हैं। कवि राकेश रेणु ने अपनी कविता 'उत्तर सत्य: दो' में उनके अनेक रूपों को चिह्नित किया है। जैसे, 'हम शांतिप्रिय हैं', 'विविधता में एकता वाले', 'दलित, स्त्रियां, वंचित,, सब बराबर यहां, असहमति का आदर परंपरा हमारी', इत्यादि। 'हज़ारों साल पहले/ हमने दिये दुरूह शल्य कौशल/ आणविक शक्ति रही हमारे पास/ हमने ही बनाये विमान, राकेट, मिसाइलें/ पहले-पहल/ किया सदैव सर्वश्रेष्ठ / श्रेष्ठता हमारी रही प्रश्नातीत'(वही, पृष्ठ-43-44) इतने सारे आख्यानों-किवदंतियों को इस अंदाज़ में कवि ने रखा है कि आज के ठोस हालात से टकराकर उनका उलट पाठ होने लगता है। यानी जिसे सच बनाकर पेश किया जा रहा है, व्यवहार में कहीं दिखता ही नहीं। यही 'उत्तर सत्य' है। इस उत्तर सत्य के झांसे में फंसने वालों की कमी नहीं है हमारे देश में। अतीतोन्मुखता बढ़ी है और ज़ाहिर है, धार्मिकता भी। कवि के अनुसार 'उस युग में कुछ न होगा धर्म के सिवा/ केवल एक रंग उगेगा'(वही, पृष्ठ-45) और यह भी स्थिति है कि कुछ लोग ऐसे हैं जो इस इस रंग में नहीं रंगेंगे, और मर जाना पसंद करेंगे। यानी जिनका ज़हन जनवादी है उसी की बलि चढ़ा दी जायेगी – 'वे जो रंग न पायेंगे/ उस एक पवित्र रंग में/ वे काफ़िर देशद्रोही/ ओढ़ा दिया जायेगा उन पर एक रंग'(वही, पृष्ठ-46)

'उत्तर सत्य' का एक अर्थ यह अतीतोन्मुखता भी है और एकरूपता भी। कई लोगों ने तो इसे नवयथार्थ का पर्याय ही बता दिया है। पर यह उसका एक रूप ही है पर्याय नहीं। नवयथार्थ के रूप तो अतीत से लेकर वर्तमान और भविष्य तक फैले हैं। यह ज़रूर है कि उसके अतीत से जुड़े रूप बहुत मायने रखते हैं। जहां अतीत की श्रेष्ठता के रूप उभरे हैं, उसी के साथ-साथ उसके विरोधी रूप, उसके उत्पीड़ित रूप भी उभर कर सामने आये हैं – स्त्री, दलित इत्यादि।

स्त्री को लेकर राकेश रेणु ने कई कविताएं लिखी हैं जिनमें उनकी विविध स्थितियों के वर्णन चित्रण के ज़रिये इस समूह की बहुस्तरीयता को अभिव्यक्ति मिली है। 'स्त्री: एक', दो, तीन, चार, पांच, छह उनकी कविताएं हैं। इसके अलावा अप्सरा एक, दो तीन भी स्त्रियों की पीड़ा और उनकी मुक्ति की बात कहती हैं। कवि को स्त्री धरती सी लगती है। प्रश्नवाचक शैली में वे बताते हैं कि स्त्री से ही सबने सृजन की कला सीखी है – 'क्या पृथ्वी, जल/ अकास, बतास ने सीखा/ सिरजना स्त्री से'(पृष्ठ-15) स्त्री को ही वे प्रेम का पर्याय बताते हैं, और उसकी तकलीफ़ को समझने के लिए स्वयं स्त्री होना चाहते हैं, ताकि पुरुष द्वारा किये गये उसके प्रति अत्याचार और पुरुष की स्त्री-विरोधी मानसिकता को सही से महसूस कर सकें। वे बताते हैं कि 'मैं स्त्री होना चाहता हूं/ अपने पुरुषों के किये का संताप झेलना है मुझे/ अपनी स्त्रियों का दुःख/ हमारी संस्कृति की सड़न कौन झेलेगा?/ जो तुम नहीं, मैं नहीं/ मैं स्त्री होना चाहता हूं'(वही, पृष्ठ-21) इसी में अप्सराओं का दुःख भी शामिल है जो इंद्रलोक वाली हैं। अप्सराओं को इस नज़रिये से हमारी पूरी साहित्यिक परंपरा में नहीं देखा गया है। वे अक्सर भोग्या के रूप में ही चित्रित की गयी हैं या ऋषि-मुनियों के ध्यान भंग करने के साधन रूप में आयी हैं। कवि ने इस श्रेष्ठ लोक से अप्सराओं की मुक्ति का सपना देखा है – 'वह तोड़ती बेड़ियां/ अपने अक्षत यौवन से/ अनादि काल से मज़बूत/ पितृसत्ता व्यवस्था की बेड़ियां/ वह मुक्त होती है'(वही, पृष्ठ-78)

राकेश रेणु की कविताओं में एक ख़ास तरह की सामूहिकता पायी जाती है। उनकी अंतर्वस्तु में भी, सादृश्य-विधान में भी और उनके कहने के ढंग में भी। यानी अनेक समूह-रूपों पर उन्होंने लिखा है और साथ ही उनके भीतर की बहुस्तरीयता को भी उद्घाटित किया है। इन में प्रकृति रूपों से लेकर विभिन्न मानव समूह और प्रेम के रूप तक शामिल हैं। प्रकृति को लेकर उन्होंने 'लहरें' एक, दो, तीन से लेकर छह तक कविताएं लिखी हैं, जिनमें बादल, वर्षा इत्यादि बहु रूपों को चित्रित किया है। उनके यहां प्रकृति के रूप अक्सर प्रेरणास्पद शक्ति रूपों में आये हैं। और जहां तक प्रेम का सवाल है, वह एक सकारात्मक मूल्य के रूप में कवि के यहां प्रकट हुआ है। प्रकृति की तरह ही प्रेम एक, दो, तीन, चार कविताओं में आया है। जहां प्रेम का शीर्षक नहीं है वहां भी वह आया है, जैसे 'स्त्रियों से बचा रहा प्रेम पृथ्वी पर/ प्रेममय जो है/ स्त्रियों ने रचा'(वही, पृष्ठ-16) इस घृणा के दौर में प्रेम अपने आप में ही एक सकारात्मक मूल्य है। प्रेम कुछ नहीं संबंध-भावना ही है, और संबंधों में जो अपनापन निहित है वह जीवनदायिनी होता है, 'बचा रहे अपनापन/ बचा रहेगा जीवन/ अपनी पूरी गरमाहट के साथ'(वही, पृष्ठ-35) इस तरह कवि राकेश रेणु की कविताओं में महज़ वर्तमान की विसंगतियां ही नहीं हैं वरन अतीत की विसंगतियों के साथ भविष्योन्मुखता भी है, जहां वे देखते हैं कि 'आदमी से आदमी/ मिलकर गा रहा है'(वही, पृष्ठ-105)

इस तरह के दृश्य कम ही दीखते हैं। इधर की कविताओं में ज़्यादातर दुःख और कष्ट ही नज़र आता है। इधर की कविताओं में कुछ वैचारिकता भी बढ़ी है। कई जगह तो उसका सीधा कथन ही है। नये विचार आये हैं, जानकारी विस्तृत हुई है, लेकिन जिनता वैचारिक उद्वेलन है उतनी संवेदना नहीं जगती। हां, एक संभावना तो जगती है कि निकट भविष्य में ये विचार हमारे भावों में ढलेंगे। वैसे भी इस समाज ने बहुतों के भावों और इंद्रियबोधों को ख़त्म ही कर दिया है, इसकी भरपाई विचारों से की जा रही है। कविता में विचार और विचार प्रणाली की भूमिका अहम् रही है और आज भी है। नये विचारों की वजह से ही इधर की कविता में यथार्थ के नये और विविध रूप आये

हैं। उनकी अभिव्यक्ति का 'पैटर्न' भी कुछ अलग-सा है। आख्यानपरकता लिये हुए चीज़ों को 'बाइनरी' में उपस्थित करती हैं। इससे यथार्थ का विशिष्ट रूप अभिव्यक्ति पाता है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि इधर की सब कविताओं में विशिष्ट ('पर्टीकुलर') यथार्थ ही आया है। सामान्य यथार्थ भी पाया जाता है जो थोड़ा-बहुत प्रभावित ज़रूर करता है। ऐसी कविताओं में कलात्मक संसाधनों का, रूपक, दृश्य, संकेत, व्यंग्य, प्रश्नवाचिकता आदि का अधिक उपयोग करते हुए कविता के स्वरुप की रक्षा की गयी है।

मो. 9818877429

पुस्तक संदर्भ

1. *साध रहा जीवन निधि* : शंभु यादव, लोकोदय प्रकाशन, लखनऊ, 2018
2. *रहूंगा उन्हीं शब्दों के साथ* : जवाहर लाल जलज, लोकोदय प्रकाशन, लखनऊ, 2017
3. *शब्द के सामने* : हरेराम समीप, किताबगंज प्रकाशन, गंगापुर सिटी, 2019
4. *इसी से बचा जीवन* : राकेश रेणु, लोकमित्र, शाहदरा, दिल्ली, 2019

‘अब्दुल की आत्मा के सवाल’ और दलित कविता का वर्तमान

टेकचंद

कविता
घेराव में
किसी बौखलाये हुए
आदमी का संक्षिप्त
एकालाप है
कविता
भाषा में आदमी होने की तमीज़ है
कविता
शब्दों की अदालत में
अपराधियों के कटघरे में खड़े
एक निर्दोष आदमी का
हलफ़नामा है। (धूमिल)

कविता सबसे पहले यह प्रश्न उठाती है/
जब आदमी की पहचान मिट रही है।’ (विजेंद्र)

उक्त दोनों काव्यांश समकालीन हिंदी कवि और कविता के तेवर को स्पष्ट करते हैं। साथ ही, विरुद्ध समय में कवि और कविता की प्रतिबद्धता भी तय करते हैं। जब कवि पूछता है, ‘पार्टनर तुम्हारी पॉलिटिक्स क्या है?’ तो खुले तौर पर लेखक की राजनीतिक पक्षधरता का सवाल उठाता है। वास्तव में कवि की राजनीतिक समझ ही उसकी सामाजिक चेतना का निर्धारण करती है। दलित कवि भी आज अपनी पक्षधरता, अपनी पहचान को वाणी दे रहे हैं, यहां कुछ दलित कवियों के संग्रहों के माध्यम से दलित रचनाशीलता का आकलन करना इस लेख का मक़सद है।

1. **अजय यतीश का संग्रह *स्पार्टकस, तुम्हारी मेहनत बेकार नहीं गयी***

इस लेख का शीर्षक युवा दलित कवि अजय यतीश की कविता ‘सदी की अविकसित भीड़’ की एक पंक्ति से लिया गया है। अजय यतीश की कविता के शीर्षक से ही स्पष्ट हो जाता है कि अराजक होकर साज़िशन हत्या करती भीड़ कहां से निर्देश, प्रेरणा व ऊर्जा हासिल करती है। दलित कविता से यह अपेक्षा की जानी चाहिए कि परदु:खकातर हो। यह देखा जाना चाहिए कि सदियों से शोषित होता दलित समाज क्या वर्चस्व तथा सांप्रदायिक हिंसा का दंश झेलते अन्य समानधर्मा वर्गों से कोई वास्ता रखता है? भीड़ से सवाल दलितों की आत्मा तो कर ही रही है, साथ ही ‘सवाल तो अब्दुल की आत्मा/ का भी है,’ साथ ही सवाल तो ‘ट्रांसजेंडर’ का भी है कि ‘आख़िर क़सूर क्या था

मेरा?' दलित कविता किन-किन के सवालों को उठाती है, इसी से उसकी प्रतिबद्धता और सरोकार भी तय होते हैं। कितने शोषितों, पीड़ितों को दलित कविता साथ व आवाज़ देती है, यह उसकी कसौटी है। ये सवाल व स्थितियां वर्तमान सत्ता के बरअक्स ठोस रूप में मौजूद हैं। पिछले कुछ वर्षों में सत्ता व प्रशासन ने हाशिये पर के वर्गों को और भी हाशिये पर धकेल दिया है। दलित कवियों ने इन स्थितियों का बखूबी संज्ञान लिया है।

अजय यतीश की कविता में विडंबनापूर्ण स्थितियों के प्रति उद्वेग, उद्वेलन तथा आक्रोश है। पर्यावरण, रोज़गार, शिक्षा इनकी चिंता के विषय हैं। झारखंड जनजातीय क्षेत्रों में, सहज नैसर्गिक जीवन में पूंजीवादी घुसपैठ का गंभीर सवाल है जो इस काव्य-संग्रह की कविताओं में दिखायी पड़ता है। वहां के जीवन को नष्ट कर देने पर कवि गुस्से में है। कंपनियों, ठेकेदारों के प्रति क्षुब्ध हो कवि कहता है- 'धूल का बवंडर/ समाहित हो रहा है सांसों में/ लोग अभिशप्त हैं, त्रस्त है कोयलांचल/ दिन में ही रात है।' यहां पारकिंसन, दमा, कुपोषण जैसी तरह-तरह की बीमारियां फैल गयी हैं। स्त्रियां बांझपन का दंश झेल रही हैं। लोगों को जारवा बना देने की साज़िशें चल रही हैं। अशिक्षा इसका एक बड़ा कारण है। कवि में गहरा आक्रोश है कि गटर के लिए मशीन नहीं है, वह ज्ञान के तमाम स्तरों को नकार देता है। दूसरी तरफ़, दामोदर नदी के उदास होने से भी कवि दुखी है। जैसे केदारनाथ अग्रवाल के यहां केन नदी उदास है, वैसे ही अजय यतीश की कविता में दामोदर नदी और नष्ट होती संस्कृति के प्रति उदासी का भाव है। अजय यतीश कई अस्मिताओं को मिलाकर एक मंच पर लाते हैं : स्त्री- 'काश/मैं जन्म लेती/ गाय के गर्भ से/ बछिया के रूप में' (61); ट्रांसजेंडर- 'आख़िर क़सूर क्या था मेरा/ जो हमें कर दिया गया अपने ही/ घर से बेदख़ल (63); 'कहीं किन्नर का दर्द है' (92) जहां समाज की प्रताड़ना से पहले परिवार से तिरस्कार शुरू हो जाता है। शीर्षक कविता 'स्पार्टकस' संघर्षों को साझा वैश्विक संदर्भ देती है (68)। संघर्षों का ऐसा इतिहास जो पूरी दुनिया के शोषितों को ऊर्जा देता है, स्पार्टकस के बहाने अजय यतीश की कविताओं में दिखायी पड़ता है। माउंटेन मैन दशरथ मांझी (68) विषयक कविता पत्नी प्रेम और श्रम की गरिमा को एक साथ प्रस्तुत करती है। 'मुनादी' (72) कविता में जादुई विकास के मॉडल की पोल खुलती है 'स्मार्टफ़ोन' 'लैपटॉप' के बरअक्स एम्बुलेंस के अभाव में शव को कांधों पर ढोते आम जन के दारुण बिंब से। साथ ही 'कॉमरेड की ज़िंदगी', 'मज़हब', 'ज़रूरी किताब संविधान', खदानों के जीवन, रोज़ होते हादसों, भूख-भीख, मिट्टी की खुशबू में मिली बारूद की गंध, जैसे सवाल बार-बार आते हैं। 'बम्ब ब्लास्ट' के साथ छदम राष्ट्रवाद की पड़ताल की गयी है। साथ ही उन्मादी भीड़ पर ख़ासा व्यंग्य किया गया है। कहीं 'सदी की अविकसित भीड़' (71) 'आश्रम की ओर लौटने लगी/ तप के लिए/ शांति की तलाश में/ कुंडलिनी जागरण के प्रयास में' जैसे बिंब हैं तो कहीं पायल तड़वी और रोहित वेमुला की जातिगत सांस्थानिक हत्याओं के उदास चित्र हैं- 'इस झोल पड़े समाज के/ ताने बाने से उदास हूं' (10)। शब्द चित्रों से अजय यतीश आक्रोश भरी उपस्थिति दर्ज करवाते हैं।

2. **अरविंद भारती का संग्रह *वे लुटेरे हैं***

अरविंद भारती का यह तीसरा कविता संग्रह है। यहां गहरा आक्रोश है जो काफ़ी ओवर टोन हो गया है। इसका बड़ा कारण समाज का दोमुहांपन है- पूरी दुनिया में किसी के साथ अन्याय पर दुख जताने वाला मीडिया और सवर्ण समाज दलितों-आदिवासियों के क़त्ल पर शातिराना चुप्पी साध लेता है (9)। कवि अर्जुन को ललकारता है- 'सुनो अर्जुन' (11) फिर उनकी पोल खोलता है कि वे लुटेरे हैं (13)।

धर्म को आधार बनाकर सवर्णों ने देश व समाज के सभी संसाधनों पर क़ब्ज़ा कर लिया— 'धर्मयुद्ध' (15) में कवि इस पर व्यंग्य करता है , फिर हथियार उठाने की बात करता है। 'मुर्दे' (17) शीर्षक कविता में पाश और उदय प्रकाश की तर्ज़ पर अरविंद भारती कहते हैं—'मुर्दे कभी नहीं उठाते हथियार/ मुर्दे/ कभी नहीं लिखते इतिहास' और इसे यहां तक ले आते हैं कि यदि आप अन्याय को देखकर अनदेखा, अनसुना कर देते हैं तो

'निश्चिंत रहें/ आपमें और एक मुर्दे में कोई फ़र्क़ नहीं' (17)।

एक तरफ़ पशु और दलित की तुलना पर रोष है तो दूसरी तरफ़ हिंदुत्व पर भी सवाल हैं—'उन्होंने कहा/ गर्व से बोलो/ हम हिंदू हैं/ पीठ के ज़ख़्म/ अचानक हरे हो गये' (20)। यहां हिंदू कहते ही विषमता और शोषण का बोध हो जाता है, फिर गर्व कैसा? इसी प्रकार 'भारत माता की जय' का नारा भी। मात्र नारा लगा देना ही प्रमाण है देशभक्ति का। जो नहीं लगायेगा वह 'देशद्रोही' घोषित कर दिया जा रहा है।

दलित कवि मात्र 'हिंदुत्व' तथा 'ब्राह्मणवाद' की ही आलोचना नहीं करता, वह 'इस्लामी आतंकवाद' का भी संज्ञान लेता है- 'अत्याधुनिक हथियार/ धर्म के कारतूस/ ज़न्नत के ख़्वाब/ होंठों पर अल्लाह/ सीने में नफ़रत/ इंसानियत के क़ातिल' (38)। कवि तार्किक ढंग से ईश्वर को नकारता है (48)। वह धर्म और ईश्वर के गठजोड़ को भी उजागर करता है। कवि तीखे आक्रोश में है। शिक्षा परिवर्तन ला सकती है—'शिक्षा का महत्त्व बतायें/ समझायें कि ये कोई भेंड़ें नहीं/ जो ले जाये कोई हांक के' (42)। धूमिल ने भेड़ों के खूब प्रतीक दिये हैं। दलित कवि जानता है कि शिक्षा भेड़ होने से बचा लेती है। इसीलिए जब दलित व स्त्री शिक्षित होते हैं तो सवर्ण वर्चस्ववादियों को अपना आधार खिसकता दिखायी पड़ता है। इसी दलित उत्पीड़न के कारण '... प्रतिभाशाली दलित शोधार्थी रोहित वेमुला/ मानसिक उत्पीड़न से परेशान/ चूम लेता है फांसी का फंदा' (62)। यह क्रम दिनोंदिन बढ़ता जाता है—गुरुग्राम, मिर्चपुर, डांगावास, सहारनपुर, और अभी हाथरस तो सुलग ही रहा है। दलित कवि उत्पीड़न के तमाम रूपों का संज्ञान लेता है और अपने रोष को धार देता है। संभवतः इसी कारण अरविंद भारती, असंगघोष काफ़ी लाउड भी हो जाते हैं। मगर इस आक्रोश और लाउडनैस से राहत व ऊर्जा देती हैं प्रेम कविताएं जो अरविंद भारती के यहां खूब हैं—'जब तुम उतर रही थीं/ पानी में/ ऐसा लगा चांद उतर रहा/ पानी में' (83)। जीवन-संघर्ष में प्रेम याद के तौर पर ही साथ रह पाता है—'हर ख़ाली पन्ने में/ आंखें गड़ाये/ हम पलटते हैं अपना इतिहास/ और जीते हैं भूतकाल... आंखों की कोर से/ चुपके से निकलकर/ कब एक बूंद/ डायरी में बना देती है/ एक गोल निशान' (86)। यों दलित कविता में प्रेम भी आता है जो कविता का प्रारंभिक लक्ष्य था, परंतु संघर्षों ने उसे सोख लिया था।

3. कुसुम वियोगी का संग्रह *लालबत्ती*

कुसुम वियोगी परिपक्व लेखक व चिंतक हैं। प्राय: कम बोल कर, कम लिखकर ही आंदोलन को आगे बढ़ाते हैं। उनकी कविताएं भी इसका प्रमाण हैं। उनके इस संग्रह की कविताओं में बदलते मौसम, बदलती हवाओं की शिनाख़्त कर रहे हैं। साथ ही, 'दलित अस्मिता' पर हो रहे हमलों का विरोध करने के लिए 'औज़ार' की संकल्पना रखते हैं—'सब्र का/ बांध टूट चला है/ तीर, तमंचे, बंदूक/ नहीं तो क्या?/ रास्ते के पत्थरों को/ औज़ार बनाना सीखो/ आख़िर/ दलित अस्मिता पर/ हमला/ कब तक/ होता रहेगा' (5)। यह कविता यों तो 2019 की है, परंतु इसे उस समय पढ़ा जा रहा है जब देश 'हाथरस कांड' से सुलग रहा है और एक बड़ा वर्ग बेटियों को हथियारबंद करने की पैरवी कर रहा है।

कुसुम वियोगी का कवि पंक्ति में खड़ा कर केवल ब्राह्मणवाद की ही आलोचना नहीं करता, वह निकम्मे दलित समाज को भी गरिया रहा है—'बुढ़ियाती/ नौजवान पीढियां/ दारू के/ दो घूंट लगा/ खरगोश से/ कुदकते हैं/ यहां-वहां/ देशी शराब की/ थैलियां बटोरती/ उनकी/ अपनी ही बेटियां/ बनाने को/ बीजना/ या फिर बिछोनियां/ उम्र ढलती/ मां के/ पेट में पल रहे/ आगंतुक शिशु को' (29)। इतनी निर्मम आत्मालोचना कोई आंदोलनधर्मी लेखक ही कर सकता है। फिर तमाम उपादान निशाने पर ले लिये जाते हैं। चाहे वह ईश्वर हो, दलेस हो, चरमराता गणतंत्र हो या वामपंथ ही क्यों न हो। यहां तक कि रोहित वेमुला को भी खरी-खोटी सुनायी है कि 'लड़ता, भिड़ता, झगड़ता/ संवैधानिक दायरे में' (58)। लड़कर मारकर मरने की वकालत करते हुए कवि का आक्रोश असंतुलित होकर गालियों की तरफ़ मुड़ जाता है। अब वरिष्ठता का तक़ाज़ा है कि संतुलन की अपेक्षा भी की जा सकती है। कहन के

स्तर पर इतना गुस्सा कि 'दलित-अस्मिता' की रक्षा करते अन्य अस्मिताओं के प्रति संवेदनशील नहीं रह जाते हैं—'न्याय के नाम पर/ हिजड़े-सा नपुंसक/ बन जाता हो/ मेरे लिए क़ानून' (69)। 'अकविता' के दौर का सर्वनिषेधवाद और उसका कुछ उच्छिष्ट भी कहीं कहीं आ जाता है। 'ब्रूटल रेप' पर लिखते हुए कविता इतनी लाउड हो जाती है कि अर्थ का धरातल छूटता लगता है—'बुझाने को अपनी/ काम पिपासा/ घुसेड़ते हो गुप्तांगों में/ लोहे की राड...' (87) तथा 'करते हो/ तन, स्तन से चिपके/ वसन तार-तार' (88)। कविता, आंदोलन की ओर लौटकर, फिर गति पकड़ती है। भाजपा के सत्ता पर क़ाबिज़ होने की तार्किक विवेचना करते हुए लिखते हैं—'मानता हूं/ समय लगता है/ इसमें/ पीढ़ियां-दर-पीढ़ियां भी/ खप सकती हैं/ जैसे/ खपी हैं/ हेडगेवार से मोहन भागवत तक/ हिंदुत्ववादी सांस्कृतिक बदलाव की/ तब/ जाकर कहीं सत्ता हाथ लगी/ कितना/ धीरज कितना त्याग/ कितनी दूरदृष्टि है/ वर्चस्ववादियों के पास/ कभी/ चिंतन/ मंथन किया है मूढ़ो?' (106)। कविता के इस चिंतन का मिलान जब विगत वर्षो की प्राप्त रिपोर्टों से करते हैं तो पाते हैं कि वर्तमान सत्ताधारियों ने कितना सारा काम किया है। लगातार शाखाएं बढ़ायी हैं, ज़िला, प्रांत से लेकर गली मोहल्ला के स्तर पर बने विभिन्न संगठनों ने काम किये हैं, जनमत को तरह-तरह से अपनी ओर मोड़ा है। जबकि अन्य दल व नेता-कार्यकर्ता केवल चुनाव-काल ही में 'प्रकट' होते हैं। नतीजा यह कि अपराधी सत्ता में हैं। कवि यहां चेतना के प्रसार को ज़रूरी मानता है—'मैं और मेरे समकालीन/ तुम्हें/ पुकारते थे/ बुलाते थे/ मोर्चा, जुलूस आंदोलनों में/ करने को शिरकत/ तब तुम/ गली-मौहल्लों के/ नुक्कड़ों पर बैठ/ ताश खेलते थे/ याद है ना वो दिन/ सारा दिन उड़ाते थे/ सिगरेट-बीड़ी के धुएं में' (117)। इसका नतीजा यह हुआ कि हम और हमारे पैरोकार सत्ता व सरकार से बाहर हो गये—'तुम, जैसे असंख्य, नासमझों को/ आरक्षण मिला/ कब गया/ पता न चला/ उदारीकरण के दौर में/ अब क्यों/ चिंता में/ डूब जाते हो/ निजीकरण के युग में' (119)। एक बहुत बड़ी अशिक्षित बेरोज़गार पीढ़ी को धर्मयुद्ध में झोंक दिया गया। चेतना का अभाव रहा कि शासक वर्ग खुलकर अपने एजेंडे को लागू ('गाय-मंदिर') करने लगा—'अब/ भावी पीढ़ियों को/ स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय/ अस्पताल नहीं/ देश के विकास को/ गाय मंदिर ज़रूरी हैं' (124)। तो दलित कविता पूरी राजनीतिक समझ को समझती समझाती है।

4. **सूर्यप्रकाश जीनगर का संग्रह *रेत से हेत***

सूर्यप्रकाश जीनगर के प्रस्तुत संग्रह की कविताएं राजस्थानी जन-जीवन का सोंधापन लिये हुए हैं। श्रमिक वर्ग व जीवन से जुड़े जीनगर धर्म पर श्रम का विचार स्थापित करते हैं—'खेत से फ़सल/ कटकर आती है/ खलिहान में/ फिर/ बेचता है किसान/ मंडी या बाज़ार में/ इसे कौन ख़रीदेगा/ हिंदू या मुस्लमां..?/ सोचता नहीं वह/ बीज बोते समय...' (22)। जीनगर की कविताएं लिखत में छोटी, मगर कहने में बड़ी हैं। यहां रेगिस्तान खिल उठा है—'अनथक श्रम का उड़ेला हुआ रस/ आती है इनमें/ थार की सोरम/ हाथों में लेकर/ सूंघता हूं/ पूरा खेत/ खिल उठता है/ सांसों में' (26)। राजस्थान के रेगिस्तानी खेतों में भी उगती फ़सल उम्मीद जगाती है—'मेरे रेगिस्तान में/ इन दिनों/ महक रही हैं/ सरसों की बस्तियां/ पढ़ा रही हैं वो/ उम्मीद का पाठ' (27), और कहीं पर 'रोहिड़ा का पेड़/ जैसे बरसों इंतज़ार के बाद/ आत्मीय मित्र-मिलन हो गया/ बसंत में खिले/ रोहिड़ा के नारंगी फूल/ धरती पर गिरे फूलों को/ माथे से लगाया/ हाथों से सहलाया/ वाह! मेरे मरुस्थल की शोभा' (108)। यह सब बहुत लुभावना है, मगर साथ ही छीजते जन जीवन और बढ़ते प्रदूषण के प्रति भी कवि चिंतित है—'आजकल/ धीमे पड़ रहे हैं/ वे हिये के स्वर/ फीकी पड़ रही है/ वो खेतों की खुशबू/ सोशल मीडिया की तेज़ आंधी में' (28)। बदलाव प्रत्येक क्षेत्र में हो रहा है। जीनगर के यहां भी विकास के नाम पर विनाश बो दिया गया है—'मेरे आंचल को/ विकास की भेंट चढ़ाकर/ तब्दील कर दिया/ कंकरीट के जंगल में/ जहां खड़े हैं/ प्रदूषण के बड़े-बड़े केंद्र/ मेरे जीवन का राग/ उनमें कहीं दफ़न हो रहा है/ देखो तुम/ ये अकाल पीड़ित/ मरुधरा' (31)। राजस्थानी सहज, नैसर्गिक जीवन के क्षरण हो जाने का दुख

कवि को गहराई से है। साथ ही, कारीगर दलित जातियों के मज़दूर बनने की विवशता को भी स्वर दिया है—'महंगाई की चाबुक मार के आगे/ जगू ने छोड़ दिया/ जूती बनाने का धंधा/ पुश्तैनी काम की पहचान/ चली आ रही थी/ बरसों से...' (87)। अब कारीगर जगू मज़दूर हो गया तो श्रम के वे गीत भी छूट गये जो 'हरजस' सी अनुभूति प्रदान करते थे—'घर की गाड़ी को/ चला रहा है जगू/ माकन चिनाई के/ काम में लगकर/ सांझ ढले/ घर लौटता है जगू/ सुनायी नहीं देती अब/ गीतों की मधुर ध्वनियां' (88)। यानी श्रम की गरिमा भरी एक संस्कृति लगातार लुप्त हो रही है, जहां उत्पादक अपने उत्पाद से सृजनात्मक आर्थिक तृप्ति पाता था। अब श्रम के अवमूल्यन का समय आ रहा है।

जीनगर का कवि सब्ज़ी बेचते फेरीवाले के साथ है, रोज़मर्रा की चीज़ें बेचते 'राजूमाली' के साथ है। अपने श्रम व सृजनात्मक स्वभाव से जीवन को बेहतर बनाने वाले प्रत्येक आमजन के प्रति कवि नतमस्तक है। 'आभासी दुनिया' (104) की वाट्सअप 'यूनिवर्सिटी' से दीक्षित 'तथाकथित क्रांतिवीरों' द्वारा जाति संप्रदाय की नफ़रत फैलाने पर भी कवि रोष में है।

5. **असंगघोष का संग्रह *अब मैं सांस ले रहा हूं***

शोषणतंत्र को यदि न समझें तो यातना उतनी नहीं होती। भाग्य, विधि मानकर व्यक्ति सहता जाता है, किंतु शिक्षित होकर व्यवस्था का रेशा-रेशा दिख जाता है। असंगघोष शिक्षित पीढ़ी के कवि हैं। चेतना का प्रभाव यह है कि समझ और विचारों के प्रकटीकरण में तीखा आक्रोश है। कवि शोषक को फूंक देना चाहता है—'एक दिन/ अपनी इसी ऊष्मा को संचित कर/ फूकूंगा तुझे मैं ही/ अपने भीतर की धधकती हुई आग में' (13)। कारण यह है कि कवि को हर वक़्त विगत यातनाएं कचोटती रहती हैं—'हमारे दुख/ बेहद काले थे/ बेचिराग़ घरों के अंधेरों में/ कभी किसी बाहरी को दिखायी नहीं दिये' (14)। लेकिन कवि इन शोषकों की बख़ूबी शिनाख़्त करता है। यह शोषक भेड़िया के रूपक में आता है। धूमिल से लेकर सर्वेश्वर तक के यहां 'भेड़िया' का रूपक आया है। परंपरा में भेड़िये की उपस्थिति है, मगर दलित कवि उसकी पहचान करता है—'लेकिन आया होगा/ वह दबे पांव मुंह-अंधेरे/ झांझ-मंझिरा-ढोलक पीटते/ प्रभात फेरी लगाते लोगों की भीड़ में/ छिपते छिपाते हुए/ भाइयो/ सावधान रहना' (21)। कवि अंबेडकरवादी चेतना के प्रकाश में भेड़िये की समुचित पहचान दर्ज करा रहा है। इसी कारण कवि का लक्षित दलित वर्ग स्पष्ट कह देता है कि 'नहीं होगी हमसे बेगार' (25)। इसी तेवर के साथ 'राष्ट्रवाद' और 'जातिवाद' (26) को भी नहीं बख्शा जाता। 'अंधराष्ट्रवाद' तथा उन्माद में 'भारत माता की जय' (29) कहने वालों की ख़बर भी कवि ने ली है। जवाब न देकर वह हिंसा पर उतर आता है। कवि स्वयं को हिंदू ही बनाये रखता है ताकि खूब गालियां दे सके हिंदुत्व को, और गालियां देता भी है। वरिष्ठ कवि भी उस भाषा पर यों उतर रहे हैं जो उनको मिली है। यहां अपेक्षा की जाती है कि आक्रोश, क्रोध, घृणा, जो भी भाव उनके व्यवस्था के प्रति हैं, उनके लिए अपनी भाषा का निर्माण करना चाहिए। घृणा का भाव इतना गहरा न हो कि प्रेम ही नदारद हो जाये और कहना पड़े, 'लिख नहीं सकता प्रेम कविताएं' (40); 'मेरा आक्रोश मेरा विद्रोह/ मेरा क्रोध ही मेरे लिए प्रेम है/ इससे इतर नहीं लिख सकता/ मैं प्रेम कविताएं' (41)। कुछ स्थानों पर कविता जन सामान्य के व्यंग्य पर आ जाती है। क़स्बों, शहरों, योजनाओं के नाम बदलने पर कवि क़रारी चोट करता है—'गुरु ग्राम/ घंटा ग्राम/ ...पूरे-के-पूरे/ तैंतीस करोड़ ग्राम/ पास में कुछ है नहीं काम/ तो फिर बदलते रहो/ नाम' (44)। बाद की कविताओं में कवि उद्घोषणाएं ज़्यादा कर रहा है—'मैं शैली में रक्तबीज' (47), 'मेरे पास/ बंजर ज़मीन में, मैं घन से तोड़ता हूं'(49), 'थामनी है तलवार' (50), 'जवाब हम देंगे' (52), 'मेरे हाथ में/ सूअरमार बम है' (54), 'लगाम पर मेरा नियंत्रण है' (55), 'मिथकों को नकारता हूं'(61); परंतु लेखक फिर शिक्षा और संघर्ष की ओर आकर संयत हो जाता है। 'क्या नहीं है जातिवाद' शीर्षक लंबी कविता में वह गांव के स्कूलों में होने वाले जातिगत भेदभाव पर रोष प्रकट करता है और फिर शिक्षा का आह्वान कर देता है-

'उठो साथियो/ शिक्षित बनो/ संगठित हो/ संघर्ष करो' (64)। यह आह्वान एकबारगी आश्वस्त-सा करता है, परंतु निश्चिंत नहीं करता। हमें समाज में से परिवर्तनकामी चरित्र भी निकालकर लाने होंगे। सवर्णों को खूब गरियाकर भी अपना क्या भला हो सकता है?

ये वक्तव्य, कथन, उद्घोषणाएं, चेतावनी, दलित समाज के लिए कितनी रचनात्मक हो सकती हैं, यह चिंतन का विषय है। 'पाय लागी हुजूर' (107) में दाई की पीड़ा है, उससे हम एकाकार हो पाते हैं। यहां आकर एक संवेदनशील हृदय बनने लगता है—'उसे न काम का सम्मान मिला है/ ना उसके श्रम का उचित मूल्य/ उसके जचगी कराये बच्चे/ कुछ ही माह बाद/ मूता सूत्र पहन लेते हैं/ तो कुछ उसे दुत्कार निकल जाते हैं/ उसे बंदगी में झुक कहना ही पड़ता है/ हूल जोहार/ घणी खम्मा अन्नदाता/ पाय लागी हुजूर/ पाय लागी महाराज/ ऐसे पांवों को/ कोई तोड़ क्यों नहीं देता' (108)। करुणा की ऐसी सृष्टि क्या दलित कविता का उद्देश्य हो सकती है?

6. सुदेश कुमार तनवर का संग्रह, *माटी के वारिस*

शीर्षक के अनुसार यहां गांव, माटी छूट जाने का दर्द शब्द पा गया है और गांव छुड़वा देने वाले तत्त्वों की पहचान भी है—'वे कौन हैं/ जो करते रहे/ मेरी बहू बेटी की/ इज़्ज़त को तार-तार?' (37)। दलित कवि भाषायी प्रपंच को पहचान गया है—'आख़िर/ आग्रह क्यों है तुम्हारा/ आदिवासी की जगह वनवासी पर/ दलित-पिछड़ों की जगह वंचित पर/ समानता की जगह/ समरसता पर?' (41)। शब्दों का चयन वास्तव में सत्ता करती है, संघर्ष को कुंद करने के लिए। यहां तक कि उनकी समृद्धि का राज़ भी दूसरों को कुंद करता है—'वे कहते/ भगवान की महिमा/ मैं कहता/ सदियों की साज़िश' (50)। कवि जातिवाद के विभिन्न रूपों की शिनाख़्त करता है—'क्यों/ सपनों में भी/ सोच नहीं पाये तुम आज तक/ तुम्हारी बेटी का ब्याह हो/ मेरे घर?/ क्यों नहीं बन पायी/ मेरी बहन की इज्ज़त/ तुम्हारे गांव घर की/ इज्ज़त?' (67)। कवि अन्याय पर तो उंगली रख ही रहा है किंतु लोगों की चुप्पी पर हैरान भी है—'मैं हैरान हूं/ किसी औरत ने/ क्यूं जलायी नहीं *मनुस्मृति*/ पहनायीं जिसने उन्हें/ गुलामी की बेड़ियां' (87)। यह एक महत्त्वपूर्ण कविता है, जिसमें राम, कृष्ण, इंद्र, तुलसी, दुर्योधन, भीष्म आदि सभी मिथकीय चरित्रों को कटघरे में खड़ा किया गया है और पूछा गया है कि स्त्रियों ने विरोध क्यों नहीं किया? कवि ने बुद्ध को विष्णु का अवतार कहने वालों पर व्यंग्य किया है, साथ ही देश के प्रति उनके ईमानदार न होने की घोषणा भी कर दी है—'सेवा तुम्हारे हिस्से में नहीं थी/ जिसे तुम अपने हिस्से का समझते रहे/ उसे भी ईमानदारी से निभाया नहीं/ अगर निभाया होता तो देश की/ गोपनीयता विदेशियों को ना बेचते' (97)।

कवि सवाल करता है—'बताओ न' (99), जिनका जवाब महानुभावों के पास नहीं है। 'अपनी महान संस्कृति का बखान करने वालो/ उन 'जेहादियों' के पक्ष में/ सारे क़ानूनों को ताक़ पर रख/ पूरा का पूरा जातीय हुजूम/ क्यों खड़ा हो गया ढाल बनकर?' (99)। एकदम अभी जब हाथरस में आरोपियों के पक्ष में जातीय पंचायतें एकजुट होकर भयंकर उद्घोषणाएं कर रही हैं, शासन-प्रशासन खुलकर पंचायतों और आरोपियों को संरक्षण दे रहा है, तब इन पंक्तियों में व्यक्त कवि का दृष्टिकोण अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो जाता है। कवि स्पष्ट कह रहा है—'बलात्कारियों को/ तुम महिमामंडित करते हो/ जुआरियों को/ धर्मराज कहते हो/ ढोंगियों को पूजते हो' (104)। समाज, राजनीति सब का अवलोकन कर कवि पुनः पुनः गांव लौटता है—'मैं/ गांव बाहर घूरे पर/ बार-बार फूटता/ अंकुर' (121)।

कुल जमा इकत्तीस कविताओं का यह संग्रह 124 पृष्ठ का है जिनमें 33 पृष्ठों की भूमिका है। प्रत्येक कविता किसी दलित चिंतक को समर्पित है और दो ढाई पृष्ठ में हर कविता का स्पष्टीकरण तथा गद्यात्मक वक्तव्य है। यदि सुदेश तनवर अलग से लेख लिखें तो एक साथ दो विधाओं को समृद्ध कर सकते हैं, यों भी दलित लेखन में निबंध और आलोचना का अभाव है।

7. **अमित धर्म सिंह का संग्रह *हमारे गांव में हमारा क्या है?***

अमित की कविता, भाषा, शीर्षक तथा क्षेत्र ओमप्रकाश वाल्मीकि वाला है। दलित साहित्य ओमप्रकाश वाल्मीकि के प्रभाव में है और रहना भी चाहिए। यहां वहां प्रभाव स्पष्ट दिखायी पड़ता है। अमित की कविताओं में श्रम संस्कृति के दर्शन होते हैं। दलित बच्चे होश संभालते ही खबात मेहनत से जुड़ जाते हैं। इसके बावजूद यदि भर पेट खाना न मिले तो खेतों से साग-सब्ज़ी ले लेना बुरा नहीं लगता। आज कोरोना काल में जब पैदल लहूलुहान घर लौटता एक मज़दूर किसी की साइकिल ले गया और एक चिट्ठी छोड़ गया है, तब उसे ग़लत कहने का साहस तो हमारी पीढ़ी के पास नहीं है। और गांव देहात के दलित बालकों पर तो सदियों से ही लॉकडाउन लगा हुआ है। अमित ने जिस बचपन के चित्र उकेरे हैं, वह दलित जीवन साहित्य का आधार रहा है। रोटी की सनातन समस्या को दलित बालक यों भोगते हैं—'आज तो हद हो गयी/ एक गांडा तोड़ने पर घटानिया ने/ सोनबीरी बुढ़िया पर बजाते-बजाते/ गांडा ही तोड़ दिया/ ..हम माँ को निगाह से टटोलते/ कहीं माँ लंगड़ा तो नहीं रही/ सब कुछ ठीक पाने पर/ माँ के साथ बराबर की लड़ाई बजती....मां चुप रहती/ हम रोटी न बनाने पर भी/ मां को भली-बुरी कहते/ और चिल्ला-चिल्लाकर पूछते/ रोट्टी न बनाने की वज़ह/ मगर क्या मज़ाल/ कि मां ने कभी वजह बतायी हो' (19)। यह एक बड़ा सवाल है जिसका जवाब मां तो क्या, दुनिया के सबसे बड़े लोकतंत्र की संसद भी नहीं दे पाती और इस सवाल से बचने के लिए सांप्रदायिकता का राज्य प्रायोजित वितंडा रच दिया जाता है।

दलित बालक लगातार अभाव झेलता है, रोटी का अभाव, स्कूल की फ़ीस और वर्दी का संकट। स्कूल की प्रार्थना में परमात्मा की वंदना है परंतु इन दलित-दरिद्र बालकों का परमात्मा न जाने कहां डूब मरा है। दलित बच्चों द्वारा घास काटने से लेकर तरह-तरह की मज़दूरी, यहां तक कि चुंबक लटकाकर चलने व लोहा लंगर बीनने के करुण दृश्य हैं, बस्ता व घास की गठरी में श्रम व ज्ञान का भार ढोने की प्रक्रिया है। जो तथाकथित बुद्धिमान आरक्षण का विरोध करते हैं, क्या उनके बच्चे ऐसा नरक बचपन जीते हैं? और यह सब उदारीकरण की छाती पर, वैश्वीकरण के आगमन पर घट रहा है! सर्दी, गर्मी, बरसात हर मौसम उनके लिए यातना है। ग़रीबी का महासागर ठाठें मार रहा है जिसके हृदय विदारक दृश्य दलित कवि जीता है और रचता है—'असल में पापा की समस्या/ मालिक का देर से आना या/ रसोई में बनने वाली सब्ज़ियां नहीं/ आट्टा थी/ सौ रुपये की दिहाड़ी में/ साठ रुपये धड़ी आट्टा/ बाकी में तेल-तमाखू/ चाय-चिन्नी हारी-बीमारी/ फीस-किताबें कपड़े-लत्ते आदि' (57)। अभावग्रस्त ये बच्चे पूरा-पूरा दिन मिलों, फैक्ट्रीयों में लोहा लंगर, रद्दी कबाड़ बीनते ज़िंदगी को बीनते हांडते—अमित उस पीढ़ी के कवि हैं।

साथ ही खेल, मनोरंजन, रामलीला, मेले, साइकिल के खेल, कांवड़, उत्सव जैसे तमाम उपक्रम भी चलते रहते और भूखे-दरिद्र, कुपोषित, अपाहिज, दलित बालकों का देश विश्वगुरु बनकर फूलकर कुप्पा हुआ जाता। 1990 का पूरा दशक यहां वी.सी.आर. फ़िल्मी गीत संगीत और उसके क़स्बाई प्रभाव के साथ नमूदार हुआ है। इतने बारीक़, प्रमाणिक व प्रभावशाली विवरण है कि आंचलिकता का परिवेश आकार लेता दिखायी देता है। श्रम का सौंदर्य और अर्थ की रचना-प्रक्रिया के दोनों पक्ष यहां बखूबी पेश हुए हैं।

अंत में, सवाल अब्दुल की आत्मा का! दलित कविता अपने साथ तमाम अस्मिताओं को लेकर चलती है। किसान, श्रमिक, स्त्री, किन्नर, मुस्लिम सभी को। साथ ही, इनकी स्थितियों के लिए ज़िम्मेदार समाज, संसद, नौकरशाही तथा सवर्ण हिंदुत्ववादी, पूंजीवादियों से सवाल करने का साहस भी दलित कविता कर रही है। आज जबकि असहमति देशद्रोह बना दिया गया है, हक़-अधिकार की वकालत करने वालों को आतंकवादी बनाकर जेलों में ठूंसा जा रहा है; न्यायप्रणाली भी ग़लत को ग़लत कहने में कांप रही है, दंड देना तो दूर की बात है, ऐसे में दलित कवि एक प्रतिरोधी चेतना का सृजन तो कर ही रहे हैं। ये ज़्यादातर एक्टिविस्ट व अकादमिक कवि हैं जो दलित जीवन की बेहद विषम परिस्थितियों से छनकर आये हैं, जो अपने साथ-साथ औरों के सवालों को भी उठाते हैं,

औरों की मुक्ति को भी अपना लक्ष्य मानकर संघर्ष करते हैं। यह इन कविताओं से प्रमाणित होता है। यों दलित कविता एक साझा मंच तैयार करती नज़र आ रही है, जो आश्वस्तिपरक है।

मो. 9650407519

पुस्तक संदर्भ

1. ***स्पार्टकस, तुम्हारी मेहनत बेकार नहीं गयी*** **: अजय यतीश, बोधि प्रकाशन, जयपुर, 2019**
2. ***वे लुटेरे हैं*** **: अरविंद भारती, रश्मि प्रकाशन, लखनऊ, 2019**
3. ***लालबत्ती*** **(आंदोलन की दलित कविताएं) : डॉ. कुसुम वियोगी, अक्षर पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, 2019**
4. ***रेत से हेत*** **: सूर्यप्रकाश जीनगर ,अंतिका प्रकाशन प्रा. लि., ग़ाज़ियाबाद. 2019**
5 ***अब मैं सांस ले रहा हूं*** **: असंगघोष, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2018**
6. ***माटी के वारिस-*** **सुदेश कुमार तनवर, रश्मि प्रकाशन, लखनऊ, 2020**
7. ***हमारे गांव में हमारा क्या है?*** **: अमित धर्म सिंह, बोधि प्रकाशन, जयपुर, 2019**

रिश्तों की धूप और जीवन की भाषा

हृदय कुमार

समय और समाज की संवेदनशीलता कविता में संरक्षित रहती है। अपने समय और समाज को समझने के लिए कविता बेहतर माध्यम है। हर पीढ़ी का कवि अपने ढंग से अपने समय और समाज को समझता है, उससे जूझता है और उसे बदलने की कोशिश करता है। सूचना तकनीक ने हमारे समय और समाज को बदल दिया है। विकास और विनाश जैसे पर्याय हो गये हैं। बाज़ार प्रायोजित सूचना-क्रांति ने मनुष्य की मननशीलता को निष्क्रिय कर दिया है। भू-मंडीकरण के दौर में कविता या कविकर्म पर बात करना कठिन होता जा रहा है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कहा था कि सभ्यता के विकास के साथ कविकर्म कठिन होता जायेगा और कविता की प्रासंगिकता बढ़ती जायेगी। सोशल मीडिया की वजह से आज कवि और कविता की बहुतायत हो गयी है। लेकिन हमारे लिए यह किसी सुखद बदलाव का संकेत नहीं है। सोशल मीडिया की आभासी दुनिया ने हमारी वास्तविक दुनिया को नकारा बना दिया है। सम्भवतः कार्ल मार्क्स ने पूंजीवाद की ऐसी ही किसी अवस्था की कल्पना की थी जिसमें उन्होंने सभी ठोस संबंधों के वाष्प हो जाने की बात की थी। हम देख रहे हैं कि समाजिक मूल्यों-मान्यताओं में लगातार गिरावट आ रही है। नैतिकता के प्रतिमान बदल रहे हैं। ऐसे में कविता करना वस्तुतः अपने को ढूंढ़ना है। मुक्तिबोध के शब्दों में, 'खोई हुई अभिव्यक्ति' है कविता। कवि विनय विश्वास ने 'मिलना' कविता में लिखा है :

मैं
अपने को ढूंढ़ रहा था
कि मिलीं तुम
अपने को ढूंढ़तीं।

विनय विश्वास का कविता-संग्रह *धूप तिजोरी में नहीं रहती* ऐसी ही एक तलाश है, जो कवि के शब्दों में आदमी के नाम पर 'आदमियत की वारदात' को उद्घाटित करती है। कवि ने अपनी कविता में 'धूप' शब्द को एक नया अर्थ दिया है। हम जानते हैं कि कवि ही शब्दों में नये अर्थ भरने का काम कर सकता है। 'हंस रही है तो हंस रही है' कविता का यह अंश देखिए :

लड़की हंस रही है तो हंस रही है सिर्फ़
उसे क्या पता कि इस तरह हंसते हुए
वह धूप हुई जा रही है
दुनिया-भर के घूंघटों और बुरक़ों के अंधेरे में
खुलकर खिलती धूप!

कवि ने अपने काव्य-संग्रह में मानवीय रिश्तों की बनावट और बुनावट में हो रहे परिवर्तन को रेखांकित किया है। मित्रता और दोस्ती जैसे सहज मानवीय रिश्ते, कैसे अवसरवादिता की चपेट में हैं, इसका अंकन कवि ने अपनी कविताओं में प्रमुखता से किया है। हमें मानवीय रिश्तों के प्रति संवेदनहीनता अपने चरम पर दिखती है। कविता 'तेरी टूटन है मेरा जश्न' में कवि ने मित्रता-आत्मीयता में होनेवाले भावनात्मक बदलाव को इन शब्दों में लक्षित किया है :

मेरे भय से तू डरता था
तेरी जेब के चारों पैसे समेट मैं फ़ार्म भरता था

मैं रिजैक्ट हुआ तो तेरे हाथों से
धैर्य के सिक्के छूटे थे
तेरी नौकरी लगी तो मेरे मन में
कैसे लड्डू फूटे थे
...
आपस में ज़ख्मों का दर्द-शहद पिया करते थे
मैनेज नहीं करते थे हम रिश्तों को
जिया करते थे
अब तू रोता है तो मुझे शक होता है
तू हंसता है तो मुझे साज़िश की बू आती है
पता भी नहीं लगता और तेरी टूटन
मेरा जश्न बन जाती है

पाठक रिश्तों के मैनेज होने की बात जब कविता में पढ़ता है तो अपने में होने वाले इस बदलाव को महसूस करने लगता है। जब इस बदलाव के कारण की पड़ताल करता है तो वह पाता है कि उसका 'मैं' का तत्त्व अचानक महत्वपूर्ण हो गया है। कवि विनय विश्वास ने मनुष्य के स्वार्थी हो जाने की इस ख़तरनाक प्रवृत्ति को अपनी कविताओं का कथ्य बनाया है। कविताओं के शीर्षक से ही इस प्रवृत्ति का पता चल जाता है। जैसे 'मैं मैं मैं', 'मैं आदमी नहीं', 'दुनिया ... मेरी दुनिया' आदि। 'मैं आदमी नहीं' कविता का यह अंश देखिए :

होशियारी से अपने को इस तरह जोड़ता हूं
कि पार पहुंचते ही सबसे पहले
पुल तोड़ता हूं

एक अन्य काव्यांश, कविता 'दुनिया... मेरी दुनिया' से देखिए :

हवा उतनी ही जितनी मेरी सांसों में रहे
रौशनी वही
जो मुझ पर पड़े
अंधेरा उतना ही जितना
परछाईं बने मेरी
मेरे कानों में जो गूंज सके
उसके अलावा कहां है संगीत
जो नाम नहीं लेती मेरा
वह आवाज़ गूंगापन नहीं तो और क्या है

लगता है दुनिया में जैसे खुदगर्ज़ी का जलवा है। व्यक्ति अपने अहं को लेकर कितना आक्रामक हो गया है, ये कविताएं इसकी बानगी भर है। हर बात में 'मैं' को प्राथमिकता चाहिए। 'सफलता का इश्तिहार मैं' से लेकर 'तरक्क़ी का छोटा-सा मर्सिया' तक कवि की निगाह में है :

रोटी-पानी-कपड़े-मकान की समस्या तो हल हो गयी:
अब शोटी-वानी-शपड़े-वकान में उलझा हूं
सच पूछो तो तरक्क़ी इसी को कहते हैं

इस काव्य-संग्रह की एक विशेषता के रूप में स्त्री संबंधी कविताओं को परखा जा सकता है। नयी स्त्री कवि की चेतना में अकिंत है। हंसती हुई लड़की, काम पर सुबह-सुबह जाती हुई लड़की, पुरुषों से पिटती स्त्री, पुरुषों को चुनौती देती स्त्री, अपने प्रेमी से जलाकर या गिराकर न मारने की गुहार करती स्त्री का प्रेमिका-रूप आदि विविध

छवियों-बिंबों के माध्यम से कवि विनय विश्वास ने मानो स्त्री-गाथा ही रच दी है। 'सुनो मर्दो' कविता की पंक्तियां देखें :

मैं हंसी तो तुमने मेरे लिए रोने के इंतज़ाम कर दिये
रोयी तो कहने लगे- हंसी वरदान है
रुकी तो बोले- चलो
चली तो कहने लगे- रुकना सीखो
चुप रही तो बोले- बोलो
बोली तो कहने लगे- चुप रहो
कपड़े पहने तो बोले- उतारो
उतारे तो कहने लगे- बेशर्म
फिर भी तुम्हें शिकायत है कि मैं
तुम्हारी बात नहीं सुनती!

आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी विनय विश्वास की कविताओं के संदर्भ में लिखते हैं, 'घोर अंधेरे में थोड़ी-सी भी रौशनी भावी जीवन की अपार संभावना का मानो आश्वासन देती हो। घोर निराशा और उसमें यत्रतत्र बिखरे हुए मानवीय संबंधों के आलोक एक-दूसरे के प्रभाव को तीव्र कर देते हैं। इन सबको अपनी कविता में लिए हुए विनय विश्वास शायद इसलिए प्रधानतः प्रेम के कवि हैं। कारण यह कि दूरतर और असंभव होती जाती आत्मीयता के संकट काल में प्रेम आत्मीयता प्रदान करता है। वह जीवन को अभूतपूर्व सार्थकता और ताज़गी देकर उसे जीने लायक़ बना देता है।' इस कविता-संग्रह की प्रेम कविताओं में, 'शायद उसको प्रेम हुआ था', 'आख़िर ऐसा क्या है तुममें', 'छुअन', 'कसके आयी याद', 'आगमन' आदि उल्लेखनीय हैं। प्रेमिका के 'आगमन' का प्रभाव कितना खूबसूरत है कि मिट्टी भी महकने लगती है। कवि का बिंबविधान देखिए :

थकान की दुनिया में
महक उठी मिट्टी
सन्नाटे में चहचहाने लगी ख़ुशी
पत्तों में हरियाली की तरह
रोम-रोम में भर गयी: हवा की लहरें
ग़ायब हो गया सहसा
लूओं का चलना और सड़कों का पिघलना
जैसे उदासियों-भरे मौसम में
बरगद की छांव गुनगुनायी हो
...अच्छा...ये तुम आयी हो!

आज़ादी और उससे जुड़े मूल्यों को हमने भुला दिया है। सांप्रदायिकता की राजनीति ने हमारे सामाजिक सौहार्द के ताने-बाने को विच्छिन्न कर दिया है। कोई भी संवेदनशील मनुष्य भारतीय समाज की इस परिणति से दुखी हो सकता है। देश के लिए शहीद होने वालों ने शायद ही ऐसा सोचा होगा। अपने पुरखों की सामाजिक सौहार्द की विरासत को नहीं बचा पाने पर कवि अपना क्षोभ व्यक्त करता है। 'हम तेरे वारिस हैं बापू' कविता में कवि बापू से कहता है कि 'तुमने पत्थरों में देशभक्ति जगा दी थी/हमने देशभक्ति को पथरा दिया'। 'ये आज़ादी वो आज़ादी' कविता में आज़ादी के मायने बदल जाने को लक्षित किया जा सकता है। यह बदलाव कितना भयानक है, आप इसे समझें :

आज़ादी है चाहे जब कूट दो या कुट जाओ
लूट लो या लुट जाओ, डरा दो या डर लो।

नैतिकता जीते जाओ, ख़ाली पेट को बजाओ,
या उल्लू बनाओ जेब में करोड़ों भर लो।
इंसान को बना दो हिंदू या मुसलमान
या बना डालो सामान इस्तेमाल कर लो।
विपदा से मरो या सुविधा से, आज़ादी
है कि भूख से मरो या ज़्यादा खाके मर लो।

'उदासियों भरे मौसम में बरगद की छांव' के कवि हैं विनय विश्वास, तो अपनी कविताओं में प्रतिबद्ध दृष्टिकोण रखनेवाले एक महत्त्वपूर्ण कवि हैं भरत प्रसाद। *पुकारता हूं कबीर* उनकी चुनी हुई कविताई है। कवि भरत प्रसाद ने इस काव्य-संग्रह में कबीर जैसे अनेक कवियों, महापुरुषों का उल्लेख किया है। उन्होंने इन कविताओं के माध्यम से भारतीय मनीषा की प्रासंगिकता को रेखांकित करने का उपक्रम किया है। काव्य-संग्रह *पुकारता हूं कबीर* में शहीद-ए-आज़म भगत सिंह, रवींद्रनाथ, नागार्जुन, प्रेमचंद पर कविताएं हैं। इस संग्रह की कविता पढ़ते हुए हमें मुक्तिबोध की बार-बार याद आती है। कह सकते हैं कि मुक्तिबोध की कविता 'अंधेरे में' का भावनात्मक विस्तार इन कविताओं में मिलता है। कथ्य ही नहीं, भाषा और शैली में भी मुक्तिबोध की छाप दिखती है। 'उठाना चाहता हूं एक मुट्ठी धूल' कविता का यह अंश देख सकते हैं :

मेरे आसपास, क़दम-क़दम पर
अनमोल पाठशालाएं खुली हुई हैं
कहीं खेत, कहीं बरगद तो कहीं चट्टान
अध्यापक की तरह सदियों से
हमें पाठ पढ़ा रहे हैं
धिक्कार है मुझे
माया के चक्कर में उलझे हुए कान
शोर के अलावा और कुछ सुनते ही नहीं।

फिर मुक्तिबोध की कविता 'मुझे क़दम-क़दम पर' का यह अंश देखिए :

मुझे क़दम-क़दम पर
चौराहे मिलते हैं
बाहें फैलाये!
एक पैर रखता हूं
कि सौ राहें फूटती,
मैं उन सब पर से गुज़रना चाहता हूं,
बहुत अच्छे लगते हैं
उनके तजुर्बे और अपने सपने...

मुक्तिबोध ही नहीं, निराला की कविता और उनकी प्रगतिशीलता को कवि ने अपनी कविताओं में अभिव्यक्त किया है। निराला की कविता 'भिक्षुक' अपने नये संस्करण, 'वह चेहरा' के रूप में इस काव्य-संग्रह में स्थान पाता है। काव्यांश द्रष्टव्य है :

उसकी उम्र छ:-सात साल है ज़रूर
मगर वह बच्चा नहीं है
कूड़ा-करकट की सफ़ाई-दफ़ाई के प्रति
वह आश्चर्य की हद तक फुर्तीला है...

...
हूबहू अपनी ही तरह टूटा झाड़ू लेकर
वह प्लेटफ़ार्म पर कठपुतली की तरह नाचता फिरता है

कवि की सौंदर्य-चेतना के परिसर में तथाकथित हाशिये पर फेंक दिया गया समाज, परित्यक्त रेड लाइट एरिया, कूड़ाखोर, मैं सूअर हूं, ईंटवाली भी है। व्यवस्था का शिकार यह समाज, मनुष्यत्व की गरिमा से महरूम है। कवि ने अपनी संवेदना और आत्मीयता से ऐसे व्यक्ति और समाज को पाठक की निगाह में महत्त्वपूर्ण बना दिया है।

भरत प्रसाद की कविताओं पर कोई निर्णय देने से पहले हमें पश्चिम के कवि-आलोचक एलियट की काव्य संबंधी मान्यताओं को एक बार याद करने की ज़रूरत महसूस हो रही है। 'परंपरा और वैयक्तिक प्रज्ञा' निबंध में एलियट कहते हैं कि कवियों को कविता की परंपरा का ज्ञान होना चाहिए। उनके अनुसार 'परंपरा का मूल्यांकन' साहित्य की सृजनात्मकता के लिए आवश्यक है। समीक्ष्य काव्य-संग्रह का नामकरण 'पुकारता हूँ कबीर' में हिंदी-काव्य परंपरा का काव्यात्मक मूल्यांकन है।

कवि ने भूमिका में लिखा है : 'यह कविता प्राय: प्रतिक्रिया, प्रतिरोध, मोर्चा या पक्षधरता का रचनात्मक अंदाज़ है, किंतु इस दुर्लभ अंदाज़ का असल रहस्य अनुभूति की अतल गहराइयों में उद्वेलित अलौकिक, अद्वितीय, ज्वलंत भाव हैं। कोई कह सकता है कि भावों का समयबद्ध या समयातीत तानाबाना ही कविता है...।' कवि कविता की विशिष्टता के प्रति सचेत है, वह लिखता है कि 'कविता की पहली शर्त है- मौलिकता, नयापन, ताज़गी। यह मौलिकता प्राय: गूढ़ार्थ की होती है, भंगिमा की होती है और कभी-कभी केवल काव्य-शिल्प की। यदि यह मौलिकता तीनों रूपों (अर्थ, अंदाज़, और शिल्प) में सध उठे तो अचानक ही प्रदीर्घ आयु की कविता का जन्म हो जाता है।'

कविता या कविकर्म वस्तुतः शब्द, अर्थ और मर्म की अंत:क्रिया है। शब्दों में नये अर्थ भरना कविकर्म है, लेकिन बाज़ार पर आश्रित सामाजिक व्यवस्था ने हमारी संवेदना को भोथरा कर दिया है। 'प्रतीक बन कर कौन मरता है' कविता का यह अंश देखिए :

कहां रह गये हैं शब्दों के अर्थ
बड़े-से-बड़े अर्थ, अब अर्थ कहां रहे
सिर से पांव तक भिगो दे जो शब्द
ऐसे शब्दों के मर्म अब कहां खो गये हैं
नज़रों में 'नज़र' अब नज़र नहीं आती
ग़ायब है चेहरों में से चेहरा
चुप्पी का अर्थ किसी को सुनायी कहां देता है
झुके हुए हाथ न उठते हैं, न उठाते हैं।

कवि जन सामान्य की पीड़ा को वाणी देता है। सत्ता के दमन के हर रूप से वह हमें पहचान कराता है। चाहे वह शब्द की सत्ता ही क्यों न हो? व्यवस्था के गर्भ में हिंसा पलती है। कवि 'इत्यादि' कविता में शब्द की सत्ता और हिंसा को उजागर करता है। कवि का शब्द-विधान हमें हिंसा के सूक्ष्म रूप की पहचान कराता है :

उपेक्षा की मार से छटपटाते
सैकड़ों शब्दों में से एक है (इत्यादि)
किसी के मुंह से सुनते ही
हिंसा की आहट सुनायी देने लगती है
हिटलरशाही की बू उड़ने लगती है
लगता है जैसे क्षण-भर में

असंख्य लोगों का क़त्ल कर दिया गया हो
...
इस शब्द की छाया पड़ते ही
आदमी दुनिया से ग़ायब हो जाता है
भुला दिया जाता है उसका जीवन-संग्राम
तोड़ सको तो तोड़ दो इस शब्द का तिलस्म

इस काव्य-संग्रह में कवि ने अपने समय और समाज को लेकर गहरी चिंता और कशमकश को वाणी दी है। कवि के अनुसार यह वक़्त समाज में व्याप्त विसंगति और विद्रूपता से मुठभेड़ करने का है। 'सिर उठाओ, बंधु' कविता में कवि कहता है : 'सामने नाचते अंधकार से / नज़रें चुरा लेने का वक़्त नहीं है यह'। मध्यवर्गीय स्वार्थपरता और कायरता को कवि धिक्कारता है ताकि हममें जीवन और समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व का बोध हो सके। अपने को सुरक्षित रखने की अवसरवादी मानसिकता और कच्छप प्रवृति का उद्घाटन 'मुझे बचाओ कविता' में हुआ है :

जीवन भर अनेक मौक़ों पर
लड़ने से, अड़ने से बचा बचाकर
हमने अन्तरात्मा की अतल गहराई में
असुरक्षा का बीज बो दिया
हाय रे जानलेवा स्वार्थ

धर्म की सत्ता और उसकी वास्तविकता हमसे पारंपरिक मान्यताओं-विश्वासों की जांच की मांग करती है। बलि की प्रथा का समर्थन कोई भी सभ्य समाज नहीं कर सकता है। सदियों से धर्म के नाम पर हो रहे अत्याचार कवि को अस्वीकार हैं। अपनी कविता, 'कामाख्या मंदिर के कबूतर' में वे कहते हैं :

हर साल की तरह इस साल भी
तांत्रिकों के हाथों बलि चढ़ गये बच्चे
यह सदियों की परंपरा है
मां कामाख्या देवी को पक्षियों के बच्चों का
तरोताज़ा खून ही पसंद है
...
हत्या की सत्ता यहां सदियों से क़ायम है
हिंसा की खेती लहलहा रही है वर्षों से
काल रात दिन तांडव नृत्य करता है
चलते-फिरते मुर्दे यहां खून पीकर जीते हैं
पढ़ी-लिखी भेंड़े यहां जीवन भर सड़ती हैं।

रघुवीर सहाय ने कवि-कर्म को राजनीति-कर्म माना था। देश में सांप्रदायिक राजनीति और लोकतांत्रिक-मूल्यों के पतन को कवि ने अपनी कविता का विषय बनाया है। गौरी लंकेश की हत्या की गयी थी, क्योंकि कुछ फ़िरकापरस्तों को उनकी गतिविधि आहत करती थी। गौरी लंकेश की शहादत को समर्पित कविता का शीर्षक है- 'मौत का नया पता'। उसकी कुछ पंक्तियां आपकी नज़र हैं :

मौत अब तुम्हारी सांसों पर दावा करती
तम्हारी धड़कनों को छीनती हुई आयेगी
यह मौत तुम्हारे हर सही क़दम के ख़िलाफ़
निर्णायक फ़ैसले की तरह आयेगी।

मैं सीखता हूं बच्चों से जीवन की भाषा काव्य-संग्रह के कवि हैं : आलोक कुमार मिश्रा। यह काव्य-संग्रह 'स्कूल की यात्रा' की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है। कविता में वृत्तांत या आख्यान के संप्रेषण और भावों के संप्रेषण में अंतर होता है। यह अंतर कथा और कविता की भाषा में दिखता है। काव्यानुभूति के संप्रेषण में हर बार कुछ कहा जाये, यह ज़रूरी नहीं। कभी तो कवि केवल एक भाव, दृश्य, छवि आपके सामने रखकर चुप हो जाता है। हम पाठक-श्रोता अपने हिसाब से उसे देखने-समझने के लिए स्वतंत्र होते हैं। इस संदर्भ में कवि आलोक की 'पूर्ण, सुंदर, लाजवाब' शीर्षक कविता देखिए :

कक्षा में
जब हो जाता हूं पानी
बच्चे बन जाते हैं मछली
और तैर जाते हैं मुझमें
इस छोर से उस छोर तक
जब मैं बन जाता हूं हवा
वो घुल जाते हैं मुझमें
बनकर खुशबू और
फैल जाते हैं हर तरफ़
...
इस तरह
रहकर हमेशा साथ
करते हैं वो मुझे
पूर्ण
सुंदर और
लाजवाब

इस कविता में कक्षा के परिवेश को व्यक्त किया गया है। कक्षा में अध्ययन-अध्यापन की प्रक्रिया में व्याप्त आत्मीयता को अनेक बिंबों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। यह आत्मीयता की ऊष्मा जो आलोक कुमार मिश्रा की कविताओं में मिलती है, यह उनके अध्यापकीय-जीवानुभव की उपज है। कवि अपने समय, समाज और परिवेश को अपनी कविता में रचता है। यह रचना हमारी समझ को परिष्कृत करती है। दुनिया को देखने के नज़रिये को और संवेदनशील बनाती है। आलोक की कविता को समझने के लिए हमें एक बार पुनः बच्चा बनना पड़ता है। ऐसा नहीं कि आलोक की कविताओं में समकालीन राजनीति, सत्ता-शासन की विसंगति, विभाजन की राजनीति की उपेक्षा है। शिक्षा व्यवस्था भी राज, समाज में व्याप्त बीमारी से ग्रस्त है। 'साज़िश' कविता देखिए :

हज़ारों स्कूल
लाखों शिक्षक शिक्षिकाएं
करोड़ों किताबें
अरबों रुपयों का बजट
असंख्य प्रयास
कहने को
केंद्र में बच्चा
पर असल में
उन्हें मनचाहे सांचे में
ढालने की कोशिश

राज समाज की

आलोक अपनी कविताओं के माध्यम से स्कूल और उसके परिवेश का जीवंत चित्र प्रस्तुत करते हैं। कविता के बहाने कवि स्कूल के वातावरण को एक नये ढंग से देखने-समझने का हमें अवसर उपलब्ध कराते हैं। वे शिक्षा, शिक्षक, पढ़ना, पढ़ाना जैसे पारंपरिक शब्दों के नये मायने हमारे सामने पेश करते हैं। कविता में कुछ नया जुड़ता है तभी वह कविता कहलाने की अधिकारी बनती है। इन कविताओं में 'गुरु कुम्हार शिष्य कुंभ' जैसी पारंपरिक मान्यताओं को पुनः जांचने-परखने की कोशिश है तो खेती-किसानी का नया रूपक गढ़ने की कोशिश भी आप देख सकते हैं। 'कक्षा में चाक' कविता का यह अंश देखिए :

कक्षा में चल रही है चाक
पर ध्यान रहे
मिट्टी नहीं हैं बच्चे
कुम्हार नहीं है शिक्षक
दरअसल दोनों में
दोनों सने हैं कुछ-कुछ

एक दूसरी कविता 'मैं करता हूं खेती' का अंश देखिए :

मैं करता हूं खेती
जोतता हूं मनों को
प्रश्नों की फाल से
सींचता हूं उसे
प्रेम, समता, स्वतंत्रता
की धार से
बोता हूं अक्षरों के बीज
विचारों के पानी में भिगोकर
अवसर की खाद
डालता हूं हर दम
छिड़क कर तर्क काटता हूं
उग आये विकारों को
इस तरह
लहलहा उठता है ज्ञान
बच्चों में निहित
संभावना की मिट्टी में

आलोक की कविता हमारी रुढ़ हो गयी शिक्षण-पद्धति को चुनौती देती प्रतीत होती है। 'हट जाता हूं दायरे से' कविता में शिक्षक की भूमिका जिस आदर्श स्थिति को व्यक्त करती है, वह हमें वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था की विसंगति पर विचार करने को विवश करती है। यही कविता की उपलब्धि हो सकती है कि वह आपको झकझोर के रख दे। स्कूल-कक्षा में एक शिक्षक की भूमिका क्या होनी चाहिए, कवि के शब्दों में देखिए :

मैं शिक्षक हूं
पर आपको क्या लगता है
कि मैं पढ़ाता हूं
या कि बच्चों के दिमाग़ में
ज्ञान और विशेषज्ञता भरता हूं

नहीं, बिल्कुल नहीं
मैं तो बस उन्हें
स्थान, समय, सम्मान और
मौक़ा देता हूं
उनके अंतस में धंसे
प्रतिभा के बीज को
अंकुरित करने के लिए
हटाता हूं व्यवधान
डालता हूं थोड़ा अपनेपन का ताप
प्रेम का जल, समय की खाद
और फिर हट जाता हूं
उनके दायरे से
जिससे वे फल-फूल सकें

अगर शिक्षक इस रीति से अपनी कक्षाओं में पढ़ाते हों, तो बच्चे का खिलना लाज़िमी है। कवि कहता है :

मौक़ा मिलते ही बच्चे खुलते हैं
किसी पोटली की तरह
और बिखर जाते हैं कक्षा में
बनकर खुशबू
महका देते हैं आसपास की नीरसता को
वे फैल जाते हैं हवा की तरह
घुल जाते हैं रग-रग में
जीवन बनकर

आलोक की कविता स्कूल और उसके परिवेश को अपने काव्यानुभूति का केंद्र बनाती है। इस काव्य-संग्रह में 'ऋषि वैली स्कूल में' शीर्षक से तीन कविताएं हैं। कविताओं की भाव-व्यंजना से स्पष्ट होता है कि कवि के मानस पर इस स्कूल के वातावरण का ज़बर्दस्त प्रभाव पड़ा है। पाठक अपनी सुविधा के लिए कह सकते हैं कि कवि के आदर्श स्कूल की कल्पना का आधार ऋषि वैली स्कूल हो सकता है। इसकी वजहों को आपसे साझा करता है कवि अपनी कविताओं में। कविता 'ऋषि वैली स्कूल में-1' में कवि आपको स्कूल के अहाते में ले जाता है और दिखाता है :

सब अलग है यहां
इमारत, सोच, लोग और
उनके तरीक़े भी
यहां कुछ पढ़ाया नहीं जाता
बस उगाया जाता है
देकर
स्नेहिल स्पर्श का ताप
अवसर की खाद
जुड़ाव का पानी
और फिर
संभावनाओं की ज़मीन पर
लहलहा उठते हैं बच्चे

कवि का आदर्श स्कूल देख लेने के बाद अब वर्तमान यथार्थ स्थिति से भी मिल लेते हैं। एक कविता का शीर्षक है 'मिड-डे-मील से ठीक पहले', इसमें बच्चे और उनकी भूख का संदर्भ आता है। जैसा कि हमें पता है कि मिड-डे-मील का प्रावधान ग़रीब बच्चों को ध्यान में रखकर बनाया गया है। भूख के कारण मील के पीरियड तक बच्चे पढ़ने -समझने की क्षमता खो देते हैं। भारत के भविष्य के लिए यह त्रासद है। एक दूसरी कविता है जिसमें एक बच्ची स्कूल फ़ीस जमा नहीं कर पाने का कारण अपने शिक्षक से साझा करना चाहती है लेकिन व्यस्तता के कारण शिक्षक उस बच्ची की बात नहीं सुनता है। कविता के मर्म तक कवि हमें पहुंचा देता है :

अब वह कमरे से बाहर जाने लगी
पर जाते-जाते दे गयी: सीख
यह कहकर कि-
आख़िर मुझसे ज़रूरी क्या काम है?

कवि आलोक अपनी कविताओं के माध्यम से हमें शिक्षा-व्यवस्था की वर्तमान स्थिति मे रू-ब-रू कराता है, साथ ही उस बदलाव की ओर संकेत करता है जिससे यह व्यवस्था बेहतर हो सके। 'बोता हूं अक्षरों के बीज' के कवि की सफलता इसमें है कि वह 'जोतता है मनों को प्रश्नों की फाल से'।

मो. : 7042855380/ 9250296372

पुस्तक संदर्भ

1. *धूप तिजोरी में नहीं रहती* : विनय विश्वास, नयी किताब प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2019
2 . *पुकारता हूं कबीर* : भरत प्रसाद, अमन प्रकाशन, कानपुर, 2019
3. *मैं सीखता हूं बच्चों से जीवन की भाषा* : आलोक कुमार मिश्रा, बोधि प्रकाशन, जयपुर, 2019

न्यायतंत्र में उलटबांसी दिखानेवाले दो उपन्यास

रवींद्र त्रिपाठी

(दो ताज़ा उपन्यासों की चर्चा पर केंद्रित यह आलेख समकालीन भारत में न्याय व्यवस्था से जुड़ी कुछ अंतर्दृष्टियों को सामने लाता है। इसमें दो स्वतंत्र से लगनेवाले आलेखों को एक साथ मिलाया गया है। कुछ इस तरह कि दोनों की स्वायत्तता भी बची रहे और उनमें निहित विषयगत साम्य भी दिखे - लेखक।)

कभी कभी ऐसा होता है कि किसी उपन्यास को पढ़ना रोचक होता है, लेकिन जैसे ही आप उसका मूल्यांकन करने बैठें, कठिनाई आ जाती है। रोचक और सरल-सी लगनेवाली रचना अचानक अर्थ के स्तर पर जटिल हो जाती है। `आख़िर इसे कैसे समझें?'- यह सवाल सामने आ जाता है। राजू शर्मा के उपन्यास, *क़त्ल ग़ैरइरादतन* के साथ भी यही होता है। प्रथम दृष्टया तो लगता है कि यह उपन्यास एक अपराध-कथा है और सटीक रूप से कहें, तो एक हत्या-कथा, लेकिन जैसे जैसे इसकी कहानी आगे बढ़ती है वैसे-वैसे पाठक को लगता है कि वह एक ऐसे इंद्रजालिक भवन में आ गया है जिसके मुख्य द्वार पर जो नेमप्लेट लगी है वह कुछ संकेत कर रही है, मगर भीतर के दृश्य कुछ अलग हैं। दूसरे शब्दों मे कहें तो यहां ऐसी अपराध कथा है जिसमें अपराध करने वाला तो शरीफ़ बदमाश लगने लगता है और न्याय करनेवाली संस्थाएं खलनायक की तरह हो जाती हैं। खलनायक भी ऐसा जो ऊपरी तौर पर पवित्र की मानिंद है लेकिन उसका अंतर विकृतियों से भर गया है। आप कहेंगे यह तो उलटबांसी है। किंतु यह उलटबांसी है तो भी क्या हर्ज़ है? क्या मात्र कबीर या नाथपंथी योगी ही उलटबांसी रचते थे? हमारे समय में भी तो उलटबांसी रचनेवाले हैं।

यह उपन्यास यही प्रतीति कराता है कि फ़िलहाल जो भारतीय तंत्र है उसके यथार्थ को उलटबांसी ही सामने लाती है। जिसे आप न्याय की प्रतिमूर्ति (या न्यायमूर्ति)) समझते हैं वही सबसे बड़ा अन्यायी है और जो विकास करने का दावा कर रहा है वही विनाश पुरुष है। नाथपंथी योगियों और कबीर की उलटबांसियों को अभी तक काव्यशैली समझा गया है। कम से कम विश्वविद्यालयों में ऐसे ही उनकी व्याख्या की गयी है, लेकिन उन्होंने जो बयान किया वह सिर्फ़ काव्यसत्य नहीं था। वह एक युगसत्य भी था। सार्वयुगीन युगसत्य। उलबांसियों का युगसत्य उनके रचनाओं के पूर्व भी मौजूद था, रचनाकाल के दौरान भी था और आज भी है। बस कबीर और नाथपंथियों ने उसे व्यक्त करने की एक काव्यात्मक शैली ईजाद की। *क़त्ल ग़ैरइरादतन* हमारे उलटबांसीमय वर्तमान को प्रतिबिंबित करता है।

अब ज़रा उपन्यास की तरफ़ लौटें।

क्या ऐसा हो सकता है कि अपराध कोई करे और सज़ा किसी और को मिले? या बेगुनाह ही अपराधी करार दिया जाये? या ऐसा होने की आशंका हो? होना तो नहीं चाहिए। क्योंकि चाहे कैसा भी न्यायतंत्र हो निर्दोष को सज़ा नहीं होगी; भले ही दस गुनाहगार छूट जायें। यही माना जाता रहा है। आख़िर हर देश में न्यायतंत्र कुछ मूल्यों पर

आधारित होता है। एक संविधान होता है जो सैद्धांतिक स्तर पर यह सुनिश्चित करता है कि अन्याय न हो। पर क्या व्यावहारिक स्तर पर यह संभव हो पाता है? आज भारत ही नहीं दुनिया के कई देशों में न्यायतंत्र की धज्जियां उड़ रही हैं। जिन संस्थाओं पर यह दायित्व था (और कहने को अभी भी है) कि उनका व्यवहार भी ऐसा हो रहा है जैसे वे इंसाफ़ के आवरण में बेइंसाफ़ी करने पर तुली हैं। विधायिका, कार्यपालिका और न्याय पालिका- जिन पर आधुनिक राष्ट्र का ढांचा टिका माना जाता है, न सिर्फ भ्रष्ट और पथच्युत हो गयी हैं बल्कि अन्यायी ताक़तों की सहयोगी बन गयी हैं। आज कोई जन प्रतिनिधि इसलिए नहीं बनता है कि जनता के हितों की देखभाल करेगा (या करेगी) बल्कि निहित स्वार्थों के सिंडिकेट में शामिल हो जाये इसलिए जन प्रतिनिधि चुना जाना चाहता है। राजनीतिक दल भी धीरे धीरे और कमोबेश कॉरपोरेट की तरह हो गये हैं जो किसी अन्य कॉरपोरेट की मदद भी करते हैं और उनसे उनकी प्रतिद्वंद्विता भी होती है।

और न्यायपालिका और कार्यपालिका की तो मत ही पूछिए। वे भी राजनीतिक आक़ाओं को संतुष्ट करने में लगी हैं। कहने को न्यायपालिका स्वंतंत्र है लेकिन कितनी? आम जन इसे रोज़ ही महसूस कर रहा है। राजू शर्मा का उपन्यास, *क़त्ल ग़ैरइरादतन* भारतीय नौकरशाही और न्यायपालिका में आयी और बढ़ती जा रही गिरावटों को साफ़ साफ़ लक्षित करता है। ज़िला स्तर पर नौकरशाही किस तरह दबावों, लालच और भ्रष्टाचार में आकंठ डूबती जा रही है और सरकारी अधिकारी धीरे धीरे क्रमश: दलाल के रूप में परिवर्तित होते जा रहे है – इसको यह रचना बड़ी गहराई से दिखाती है। और ऐसा भी नहीं है कि अधिकारी जान बूझकर ऐसा कर रहे हैं। उनके ऊपर दबाव भी ऐसे हैं कि फ़र्ज़ी चीज़ें करने को विवश होना पड़ता है ताकि नौकरी चलती रहे। एक दबाव तो ऊपरी सत्ता का होता है जो नौकरशाही के सामने ऐसे ऐसे लक्ष्य रखती है कि वह आंकड़ेबाज़ी का खेल करके ही अपने को राज्य सत्ता के सामने कुशल और सक्षम साबित कर सकती है। अगर सरकार विकास करने का दावा करती है तो अधिकारी यही दिखाने में जी जान लगा देता है कि `विकास हो गया' या `घर घर पहुंच' गया।

दूसरा दबाव राजनीतिक होता है। यानी जिस पार्टी की राज्य सत्ता है उसके सामने झुककर और उसके आगोश में पड़कर ही अधिकारी अपने को सुरक्षित समझता है। और एक बार जब वह अपने को सुरक्षित महसूस करने लगता है तो उसकी अपनी लिप्साएं बढ़ जाती हैं और वह धीरे धीरे खुद अपना एक स्वार्थयुक्त तंत्र विकसित कर लेता है या ऐसा करने की कोशिश करता है।

राजू शर्मा, जो खुद भारतीय प्रशासनिक सेवा में रहे हैं, नौकराशाही के तंत्र को बखूबी जानते हैं। इस उपन्यास में वर्तमान भारतीय नौकरशाही के उस ढांचे को सामने लाया गया है जो भीतर से नैतिक स्तर पर घटिया और स्खलित हो गया है। इसमे केंद्रीय पात्र सदाकांत अनुकूल शास्त्री है, जिसे उपन्यास में मुख्य रूप से कांत कहा गया है, हालांकि उसकी पत्नी पायल उसे कुछ प्यार से और कुछ व्यंग्य से सैडी कहती है। अब भला सैडी भी अपनी पत्नी को एक प्यार भरा नाम क्यों नहीं देगा? सो वह उसे जोई कहके बुलाता है। कांत का एक दोस्त है जो सरकारी अधिकारी भी है। नाम है मुकुंद, जिसे कांत मिकी नाम से संबोधित करता है। मिकी एक बेहद धूर्त, कुटिल और भ्रष्ट अधिकारी है। वह अपनी पत्नी अपेक्षा के नाम से एक एनजीओ भी शुरू कर देता है और कांत को बताये बिना या उसके धोखे में रखकर उसके माध्यम से सरकारी ग्रांट भी हड़प लेता है।

वैसे तो कांत एक ईमानदार अधिकारी है। पर क्या वह भी आख़िर तक एकदम निष्कलुष रह पाता है? वह सीधे सीधे भ्रष्टाचार तो नहीं करता लेकिन अनजाने या असावधानी से उससे एक क़त्ल हो जाता है। जारा अफ़रोज़ नाम की छोटे स्तर की सरकारी कर्मचारी का। और इस हत्या के शक में पकड़ा जाता है मिकी। हालांकि मिकी भ्रष्ट है लेकिन यह क़त्ल उसने नहीं किया है। क्या कांत उसकी मदद करेगा? आख़िर जारा की मृत्यु तो उसके हाथों हुई है? लेकिन नहीं। कांत मिकी की मदद नहीं करता बल्कि तरक्क़ी पाकर राज्य की राजधानी में चला जाता है।

वैसे तो कांत उस तरह का भ्रष्ट नहीं है जैसा मिकी है लेकिन वह नौकरशाही मे सीढ़ियां चढ़ते चढ़ते आख़िरकार नैतिक स्खलन का शिकार हो जाता है और उन वत्स जी की कोई मदद नहीं पर पाता जो दलितों, आदिवासियों और समाज के कमज़ोर तबक़ों के लिए संघर्षरत हैं और गिरफ़्तार होकर जेल की हवा खा रहे हैं। उनको ज़मानत भी नहीं मिलती। वह कैलाश जी नाम के उस शख़्स के आगे पीछे डोलता रहता है जो हिंदूवादी संघी है और पाखंडी भी। हालांकि वह क्रमश: कैलाश से दूर होता जाता है लेकिन वत्स जी से भी पूरी तरह जुड़ नहीं पाता जिनको वह अपना आदर्श मानता है। क्यों? इसलिए कि कैरियर प्यारा है।

यह उपन्यास यह भी दिखाता है कि हमारी पूरी राज्य व्यवस्था ऐसी होती जा रही है जिसमें इंसाफ़ नाम की चीज़ धीरे धीरे नेपथ्य में जा रही है। हक़ मांगनेवाली संस्थाओं और उनसे जुड़े लोगों को अवमूल्यित और बदनाम किया जाता है। ऐसा प्रचारित कराया जाता है कि वही असली गुनहगार हैं, अपराध उन्होंने किये हैं। वत्स जी को न्यायालय भी क़सूरवार की तरह देखता है। क्या यह सब वर्तमान भारतीय न्यायवस्था भी नहीं कर रही है?

क़त्ल ग़ैरइरादतन में इन सबको लेकर एक गहरा मंथन है। इसके पात्रों के मन में उपन्यासकार जिस तरह प्रवेश करता है, उनके धूर्त व चालाक मनोभावों को प्रकट करता है वह पाठक को कई स्थलों पर ठहरा देता है। इसलिए कि वे ठंडे होकर इनको समझ सकें कि मनुष्य-मन के कितने स्तर हैं। उपन्यासकार ने कबीर की उलटबासियों के अलावा नामदेव ढसाल और बर्टोल्ट ब्रेष्ट की कविताओं का प्रयोग किया है ताकि यह रचना सिर्फ़ यथार्थवादी न रह जाये और एक काव्यानुभूति भी बन जाये।

यह एक राजनीतिक उपन्यास है जो अपराध कथा के लबादे में ढंका हुआ है।

वैधानिक में प्रवेश करता अवैधानिक

चंदन पांडे का उपन्यास, *वैधानिक गल्प*, आज के भारत के उस पहलू को सामने लाता है जिसमें वैधानिक और अवैधानिक यानी क़ानूनी और ग़ैरक़ानूनी के बीच का फ़र्क़ मिटता जा रहा है। दूसरे शब्दों में कहें तो ग़ैरक़ानूनी को क़ानूनी जामा पहनाया जा रहा है। और ऐसा होने में वैधानिक संस्थाओं - ख़ासकर पुलिस – का भी इस्तेमाल हो रहा है और मीडिया- अख़बार एवं टीवी चैनलों- की भी इसमें सक्रिय साझेदारी है। इस कारण भारत में नागरिकता की अवधारणा पर भी लगातार प्रहार किये जा रहे हैं। भारतीय नागरिक की पहचान उसकी जाति या मज़हब से किये जाने पर बल बढ़ रहा है। हालांकि ऐसा नहीं था कि यह सब पहले नहीं था। लंबे समय तक भारतीय समाज में व्यक्ति की पहचान इस बात से होती रही कि वह किस जाति या धर्म का है। लेकिन जब आज़ादी की लड़ाई के दौरान जाति -मज़हब मुक्त भारतीयता की अवधारणा विकसित हुई और स्वतंत्रता के बाद जब भारत में संविधान लागू हुआ तो सभी भारतवासियों को भारतीय होने की औपचारिक पहचान मिली। हालांकि व्यवहार के स्तर पर पहचान की पुरानी रिवायतें भी क़ायम रहीं लेकिन क़ानूनी स्तर पर नहीं।

लेकिन राजनीतिक दलों के बीच बढ़ती सत्ता की लड़ाई की वजह से पुरानी पहचानों पर फिर से ज़ोर बढ़ रहा है। अब तो राम बनाम परशुराम की बात भी सामने आ रही है। पिछले कुछ बरसों से भारतीय संविधान-प्रदत्त पहचान को मिटाने की कोशिश की जा रही है, हालांकि राज्य द्वारा औपचारिक स्तर पर संविधान की रक्षा का संकल्प भी दुहराया जा रहा है लेकिन व्यवहार में संवैधानिक मूल्यों को मिटाने का सिलसिला भी चल रहा है। *वैधानिक गल्प* इसी सिलसिले को चीन्हने में हमारी मदद करता है। और यह जानने में भी कि कैसे राजसत्ता में अवैधानिक तत्व घुसपैठ करते जा रहे हैं।

उपन्यास रफ़ीक़ नील नाम के किरदार के इर्दगिर्द रचा गया है। नाम से साफ़ है कि वह मुस्लिम है। वह उत्तर प्रदेश के देवरिया ज़िले के नोमा नाम के क़स्बे के एक कॉलेज में हिंदी पढ़ाता है। मध्यकालीन भक्ति काव्य और तुलसी भी। पर अस्थायी शिक्षक है और लंबे वक़्त से काम करने के बावजूद स्थानीय राजनीति की वजह से उसे स्थायी नहीं

किया गया है। नोमा के कुछ लोग यह भी चाहते हैं कि रफ़ीक़ क़ॉलेज और नौकरी छोड़ दे।

रफ़ीक़ अध्यापन के अलावा नाटक भी करता है। नुक्कड़ नाटक भी। उसकी नाट्य मंडली में उसके कॉलेज के कुछ विद्यार्थी हैं,जिनमें लड़कियां भी शामिल हैं। एक दिन रफ़ीक़ ग़ायब हो जाता है। रफ़ीक़ ने अनसूया नाम की लड़की से अंतर्धार्मिक शादी की है। उसके ग़ायब होने पर अनसूया अपने पुराने मित्र और दिल्ली में रहनेवाले अर्जुन को फ़ोन करती है। अपनी पत्नी के कहने पर अर्जुन अनसूया से मिलने नोमा पहुंचता है तो पाता है कि इस क़स्बे में रफ़ीक़ के ग़ायब होने के क़िस्से बनाये गये हैं। चूंकि रफ़ीक़ के अलावा उसकी नाट्य मंडली में सक्रिय और उसकी छात्रा जानकी भी ग़ायब है, इसलिए पूरे मसले को `लव जिहाद' बताया जा रहा है। कुछ लोग इसे `लव-त्रिकोण' भी कहते हैं जिसमें रफ़ीक़. अनसूया और जानकी को शामिल किया जाता है। पुलिस भी इसी क़िस्से को प्रचारित करने में लगी है और उसे न रफ़ीक़ को ढूंढ़ने में दिलचस्पी है और न इस बारे में रपट (एफ़आईआर) लिखने में। नोमा का दारोग़ा रफ़ीक़ को ढूंढने के बजाय उसके बारे में प्रचलित किये जा रहे क़िस्से को ढूंढ़कर अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेता है। अख़बार वाले भी इसी क़िस्से को दुहराते-तिहराते हैं और यह नहीं लिखते या छापते कि रफ़ीक़ ग़ायब है। उनमें प्रकाशित समाचारों का भी ज़ोर इस बात पर है कि रफ़ीक़ के साथ जानकी फ़रार है। यानी एक बनावटी क़िस्सा हक़ीक़त पर चेंप दिया जाता है और एक फ़रेबी हक़ीक़त तैयार की जा रही है। फ़ेक न्यूज़ गांव गांव में पहुंच गयी है।

अर्जुन के बारे में भी यह फैलाया जाता है कि वह नोमा रफ़ीक़ को ढूंढ़ने नहीं अपनी पुरानी प्रेमिका, एक्स गर्लफ्रेंड, अनसूया से मिलने आया है। नोमा के ताक़तवर लोग, जिनमें पैसेवालों से लेकर प्रशासन से जुड़े व्यक्ति शामिल हैं, बतौर लेखक अर्जुन का स्वागत सत्कार भी करते हैं लेकिन सूक्ष्म तरीक़े से धमकी भी देते रहते हैं कि ज़्यादा मत फैलो और जल्दी दिल्ली लौट जाओ, नोमा में रहने की ज़रूरत नहीं है। अर्जुन ने अपने नोमा आने को लेकर फ़ेसबुक पर जो एक निहायत ही अहिंसक-सा पोस्ट लिखा है उसके बारे में भी उससे कहा जाता है, इससे शहर की इज़्ज़त ख़राब की जा रही है। मतलब पोस्ट हटा लो।

रफ़ीक़ (और जानकी) को खोजने या उनका अता-पता मालूम करने के क्रम में अर्जुन के मन में ख़याल आता है- ` ..रफ़ीक़ का पता लगाने के साथ हमसे उसके जीवन पर रच दी गयी कहानियों का जाला साफ़ करना कभी संभव हो पायेगा? उसकी डायरी, नोट्स, पटकथाएं सब सच बतला रही थीं लेकिन सबकी पहुंच से बाहर अख़बार थे, पुलिस थी, मोर्चा था, नरमेधी महत्वाकांक्षाएं थीं।'

`नरमेधी महत्तवाकांक्षाएं'।ये किसकी हैं? इन प्रश्नों के उत्तर खोजने में ज़्यादा परिश्रम नहीं करना होगा। आये दिन भारतीय समाज में ऐसी घटनाएं हो रही हैं जो यह बताती हैं कि नरमेधी महत्वाकांक्षांए किसकी हैं। आख़िर क्यों किसी अल्पसंख्यक समुदाय के शख़्स को गोमांस रखने या बेचने के फ़र्ज़ी आरोप में मार दिया जाता है? आख़िर क्यों देश के अलग अलग हिस्सों में `मॉब लिंचिंग' यानी समूह द्वारा हत्या के वाक़ये हो रहे हैं? बलात्कार के आरोपियों के पक्ष में जुलूस निकाले जाते हैं, क्यों? यह सब नरमेधी महत्वाकांक्षा नहीं तो और क्या है? क्या रफ़ीक और जानकी इनके ही शिकार नहीं हुए? ये महत्वाकांक्षाएं सिर्फ़ हत्याएं नहीं करातीं, बल्कि चरित्र हनन भी करती या कराती हैं। इसीलिए तो रफ़ीक़ के साथ जानकी के चरित्र हनन का सामूहिक प्रयास भी हो रहा है।

ऐसा अर्जुन देखता और अनुभव करता है।

अर्जुन के नोमा पहुंचने के बाद रफ़ीक़ की नाट्य मंडली के दो और सदस्य भी ग़ायब हो जाते हैं। रहस्य धीरे धीरे और गहराता जाता है कि आख़िर वह कौन सी शक्तियां हैं जिनके कारण नोमा में लोग, या यों कहें कि संस्कृतिकर्मी, ग़ायब हो रहे हैं। क्या उनको सुनियोजित तरीक़े से ग़ायब करवाया जा रहा है? या वे खुद ही किसी कारण - भय या दबाव से- ऐसा कर रहे हैं? यह ताक़त किसकी है? क्या किसी राजनीतिक दल की या दल के भीतर उभरे किसी गुट की *वैधानिक गल्प* यही सब सोचने की तरफ़ ले जाता है।

उपन्यास भारत में उभरते प्रछन्न राज्य (अग्रेज़ी में `डीप स्टेट') की तरफ़ भी संकेत करता है जिसमें पुलिस, प्रशासन, मीडिया और दूसरी ताक़तवर शक्तियां मिल कर राजनीतिक बदलाव की आकांक्षा लिए हर चाहत या कोशिश को तुच्छ बना देते हैं, उनको बदनाम करते हैं और एक दूसरा जाली क़िस्सा गढ़कर मूल मसले को दूसरी दिशा में मोड़ देते हैं। रफ़ीक़ तो सिर्फ़ नाटक करता है। लेकिन प्रछन्न राज्य चलाने वालों को यह भी पंसद नहीं आता। आख़िर रफ़ीक़ अपने नुक्कड़ नाटक में किस मसले को उभार रहा है जो कुछ लोगों को नापसंद है? इस प्रश्न का उत्तर जानने के लिए कोई शोध नहीं करना पड़ेगा। सब सामने है।

देश में प्रशासनिक स्तरों पर ही नहीं कुछ राजनीतिक दलों के भीतर भी ऐसे संगठनों का वर्चस्व बढ़ा है जिनका अपना हिंसक एजेंडा है। ये भीतरी संगठन राजनीतिक दलों को भी नियंत्रित करने में लगे हैं। `मंगल मोर्चा' एक ऐसा ही संगठन है। इस मोर्चे की नोमा इकाई शहर में दोल मेले का आयोजन करती है। इस स्थानीय इकाई पर शहर के एक रसूख़दार और धनी शख़्स, सुरेंद्र मालवीय उर्फ़ दद्दा का वरदहस्त है। दद्दा की अपनी राजनीतिक आकांक्षाएं हैं। उनका बेटा अमित मालवीय उन आकांक्षाओं की पूर्ति में लगा है। इसी कारण नियाज नाम के एक शख़्स की, जो अल्पसंख्यक समुदाय का है, हत्या की योजना बनायी जाती है। भीड़ द्वारा हत्या कराने की योजना। अमनदीप सिंह नाम का पुलिस अधिकारी, जो सिख है, नियाज की जान बचाता है तो उसे आर्थिक ग़बन के आरोप में निलंबित कर दिया जाता है। रफ़ीक़ नियाज के साथ हुए प्रकरण को लेकर ही एक नुक्कड़ नाटक कर रहा था। और यही बात मालवीय परिवार को पसंद नहीं आयी थी क्योंकि इससे मालवीय परिवार की राजनीतिक आकांक्षाएं पूरी होने से रह गयीं। रफ़ीक़ की डायरी में दर्ज है-`एक व्यक्ति को भी अगर यह नाटक किसी हत्यारी भीड़ के विरुद्ध खड़ा कर सका, हमारा ध्येय सफल होगा'।

इस डायरी से और भी राज़ खुलते हैं और रहस्य पर से पर्दे उठने लगते हैं। इसमें अमनदीप सिंह एक जगह कहता है-`जिसे हम लोग या कम से कम मैं एक मामूली घटना मानकर बैठा था वह आज की तारीख़ में उभरती एक समानांतर व्यवस्था है। ये दूसरी ही दुनिया के लोग हैं। पुलिस के समानांतर इनके पास गुंडे हैं। ख़ालिस अपराधी। पहले यह सत्ता सारी हत्याएं पुलिस से कराती थी अब पुलिस वाले इनके लिए दूसरा निमित्त हैं।' इसी डायरी में अमनदीप के हवाले से यह प्रसंग भी खुलता है `.. एक बात ये सुनने में आयी है कि मोर्चा *(यानी मंगल मोर्चा)* की राज्य स्तरीय बैठक में दद्दा के बेटे अमित मालवीय की और उसके हरामखोर गैंग की खिंचाई हुई है। इस बात पर हुई है खिंचाई कि एक विधर्मी तो तुमसे मारा नहीं जाता और चाहिए दद्दा को लखनऊ, दिल्ली का टिकट? उस समीक्षा बैठक के बाद इन लोगों ने मेरा निलंबन कराया है। ये पुलिस को ही संदेश दे रहे हैं।'

कौन हैं जो पुलिस को ये संदेश दे रहे हैं कि विधर्मियों को मारो। ये `मंगल मोर्चा' जैसी समानांतर संस्थाएं हैं जो यह तय करती हैं कि किसको विधानसभा या लोकसभा का टिकट मिले। `प्रछन्न राज्य' (डीप स्टेट) का जो उदय भारतीय राजनीतिक मानचित्र पर हुआ है वह सिर्फ़ राज्य की संस्थाओं तक सीमिति नहीं है बल्कि राजनीतिक दलों के भीतर भी पसरता गया है। वहां भी राजनीतिक प्रक्रिया के तहत चुनावी टिकट नहीं दिये जाते बल्कि उनके भीतर जन्मी और उनके द्वारा पालित-पोषित समानांतर संस्थाओं की सहमति और स्वीकृति से बांटे जाते हैं।

पुलिस और प्रशासन पर भी ऐसी समानांतर संस्थाओं का दबाव बढ़ा है। औपनिवेशिक काल में जन्मी भारतीय पुलिस तो वैसे भी पूरी तरह से जनपक्षीय नहीं रही। और अब तो उसके ऊपर अपने राजनीतिक आक़ाओं के अलावा इन समानांतर संस्थाओं का दबाव भी है जिससे उसके भीतर क्रूरता के तत्व बढ़ रहे हैं। आकस्मिक नहीं कि रफ़ीक़ की पत्नी अनसूया के साथ स्थानीय पुलिसवाले का व्यवहार इस तरह का है -` उस नीच, माफ़ कीजिए नीचे बैठे पुलिस वाले ने अपना रोल उठाया जिसके निचले सिरे पर गीली मिट्टी लगी थी और ड्रिल करने के उसी अंदाज़ में अनसूया के पेट में चुभा दिया, घुमाने लगा और अक्षरों को चबा-चबा कर `पूछा, कितने महीने का है?'

साहित्य से, ख़ासकर उपन्यास से, यह अपेक्षा की जाती है वह अपने समय और समाज का साक्ष्य बने।

हालांकि इस बात को लेकर भी पर्याप्त बहस है कि ऐसा वह, यानी उपन्यास, किस तरह करे क्योंकि साक्ष्य होने की कोई एक निश्चित और सर्वमान्य प्रक्रिया नहीं है और न ही कोई सर्वस्वीकृत परिभाषा। पर फ़िलहाल अगर हम परिभाषाओं के गुंजलक में ना फंसे, तो यह कहना पर्याप्त होगा कि *वैधानिक गल्प* हमारे समाज में जो हो रहा है उसके एक अंश का गवाह है। यह तो लगातार महसूस किया जा रहा है कि भारतीय लोकतंत्र पिछले कुछ समय से अपनी लोकतांत्रिकता खोता जा रहा है। उसमें अलोकतांत्रिक प्रक्रियाएं तो काफ़ी पहले से पनप रही थीं, लेकिन पिछले कुछ बरसों में यह प्रक्रिया तेज़ी से बढ़ी है। *वैधानिक गल्प* उस तेज़ होती प्रक्रिया को चिन्हित करनेवाली रचना है।

पर इन पहलुओं से अलग एक और पक्ष को रेखांकित करना आवश्यक है। रफ़ीक़ की डायरी से लगता है कि उसकी नाट्य मंडली यून फोस्से के लिखे नाटक करने का मन बना रही थी। नॉर्वेजियन नाटककार यून फोस्से सामाजिक समस्याओं से जुड़े नाटक नहीं लिखते। जैसा कि उनके बारे में प्रचारित है, वह वैयक्तिक स्मृतियों और प्रश्नों को उठाते हैं। ईसाइयत, ख़ासकर कैथोलिक मत, का उनके ऊपर गहरा प्रभाव है और उनके नाटकों में उस तरह का प्लॉट नहीं होता जैसा कि भारत में, या इंग्लैंड-अमेरिका के रंगमंच में, अमूमन होता है। यही वजह है कि इंग्लैंड और अमेरिका में भी उनके नाटक बहुत कम खेले गये हैं यद्यपि बाक़ी यूरोप में वे ख़ासे लोकप्रिय हैं। फिर रफ़ीक़ या उसकी मंडली फोस्से के नाटक क्यों करना चाहती है? हालांकि रफ़ीक़ की डायरी में इसका कारण यह बताया गया है कि उसके नाटक में, विशेषकर *द गर्ल ऑन सोफ़ा*, में निर्देशकीय स्कोप बहुतायत में है। पर यह कोई विश्वसनीय तर्क नहीं लगता है, यह मानने के बावजूद कि कोई कलाकार किसी अन्य देश या भाषा के किसी ऐसे लेखक से प्रभावित या प्रेरित हो सकता है जो उसकी अपनी राजनीतिक सोच से अलग हो। इसलिए रफ़ीक़ या उसकी नाट्य मंडली का फोस्से-प्रेम प्रश्नांकित तो नहीं किया जा सकता लेकिन यह पाठक को खटकता ज़रूर है और `दूर की कौड़ी' जैसा लगता है।

आख़िर में, प्रसंगवश, यह बता देना भी ज़रूरी है कि लेखक ने इस उपन्यास को उत्तराखंड के एक पुलिस अधिकारी गगनदीप सिंह को समर्पित किया है। गगनदीप सिंह वह शख़्स है जिसने 2018 में उत्तराखंड में अल्पसंख्यक समुदाय के एक युवक को हत्यारी भीड़ से बचाया था। इसे लेकर उनकी सराहना भी हुई थी, लेकिन एक राजनीतिक दल से जुड़े कुछ लोगों ने उसकी इस काम के लिए आलोचना भी की थी। उपन्यास को पढ़ते हुए लगता है कि अमनदीप सिंह का चरित्र कहीं न कहीं इन्हीं गगनदीप सिंह से प्रेरित है।

मो. 9873196343

पुस्तक संदर्भ

1. *क़त्ल ग़ैर इरादतन* : राजू शर्मा, सेतु प्रकाशन, नोएडा, 2020
2. *वैधानिक गल्प* : चंदन पांडे, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2020

पारसा बीबी से मुलाक़ात

(ज़किया मशहदी के लघु उपन्यास *पारसा बीबी का बघार* के संदर्भ में)

अर्जुमंद आरा

ज़किया मशहदी उर्दू की कहानीकार, उपन्यासकार और अनुवादक हैं। वे लखनऊ में पैदा हुईं और पटना में रहती हैं। उन्होंने 1978 में लिखना शुरू किया और अब तक उनके छ: कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। *आंखन देखी, नक़्शे-नातमाम, पराये चेहरे, सदा-ए बाज़गश्त, तारीक राहों के मुसाफ़िर* और *ये जहाने-रंगो-बू* उनके कहानी संग्रह हैं। 'क़िस्सा जानकी रमन पांडे' और 'मां' उनकी बहुचर्चित कहानियां हैं।

ज़किया मशहदी का लघु उपन्यास *पारसा बीबी का बघार* 2018 में दिल्ली में एजुकेशनल पब्लिशिंग हाउस से प्रकाशित हुआ। यहां मैं इसी लघु उपन्यास का परिचय कराना चाहती हूं। खुद ज़किया मशहदी का कहना है कि इस उपन्यास के ज़रिये वे उस औरत की तलाश में निकली हैं जिसको वे 'पारसा बीबी' का नाम देती हैं, जिसको वे कई पीढ़ियों से देख रही हैं, और हर नयी पीढ़ी में उसका रूप बदलता गया, फिर भी वह अपने मूल के साथ मौजूद है. उपन्यास के प्राक्कथन में वे लिखती हैं :

> पारसा बीबी की कहानी सचमुच मेरी अपनी दादी ने सुनायी थी, और मेरी वालिदा (मां) ने आधे घूंघट के नीचे मुस्कुरा कर कहा था, ख़ुदा का शुक्र है हमारे घर में घी की कमी नहीं है. और बस. लेकिन उस वक़्त बहुत से घरों में घी की कमी थी और पारसा बीबियों की बहुतायत... मेरी नस्ल चॉकलेट की जगह घर के बने शकरपारे और गाजर का हलवा खाती और गुड़ियों से खेला करती थी. अब मैं बच्चों को मोबाइल और लैपटॉप पर गेम्स खेलते और कुछ सूरतों में अश्लील फ़िल्में देखते हुए देख रही हूं। इस भीड़ में, टेक्नोलॉजी की इस तरक़्क़ी में पारसा बीबी कहां है? उसमें कितनी तब्दीलियां आयीं? मैंने बड़ी लगन और ध्यान के साथ उसे ढूंढ़ा और जिस रूप में पाया, उसे यहां उतारने की कोशिश की है।

यह दुनिया यों ही चलती है विशेषत: औरतों की दुनिया—अपनी सुस्त-रफ़्तार बेदारी और रेडीकल फ़ेमिनिस्ट आंदोलनों के बावजूद पारसा बीबी का संघर्ष आमतौर से रसोईघर और घर संभालने तक ही सीमित रहता है। वे औरतें जो आंदोलन करती हैं और सड़कों, चौकों और फ़ुटपाथों पर प्रदर्शन करती हैं, शाम को घर लौट कर अपने-अपने प्यारे पति और जिगर के टुकड़ों के लिए पारसा बीबी बन जाती हैं। घर जा कर वे 'अरहर की सुनहरी सुनहरी दाल' बघारती हैं जिसकी सोंधी ख़ुशबू से आसपास के घर सुगंधित हो जाते हैं। कहीं उनकी ख़ूबियों और सुघड़पन का गुणगान किया जाता है, कहीं देवी बना कर पूजी जाती हैं। या फिर इसका उलट भी होता है। अगर बघार जल जाये तो? इस फूहड़पन पर वे गालियां भी खाती हैं, लात घूंसे भी।

घर के 'सुरक्षित' पवित्र वातावरण और घर के बाहर असुरक्षित समाज में कभी देवी और कभी डायन के फ्रेमों में जड़ी हुई ये औरतें आख़िर ऐसा क्या करें कि इन दो परस्परविरोधी पहचानों के फ्रेमों से निकल कर जीती-जागती हस्ती बन जायें? ऐसा क्या करें कि पुरुषप्रधान नैतिकता के पैमाने और अपेक्षाओं को बदल डालें ताकि केवल इंसान बनी रह सकें? अपनी सारी शक्ति और कमज़ोरी के साथ समाज में वे भी इसी तरह स्वीकार की जायें जैसे पुरुषों को स्वीकारा जाता है? इससे जन्मी घुटन में, जो केवल उन्हीं के लिए विशिष्ट है, वे कौन सा तरीक़ा

अपनायें कि उनकी ज़िंदगी में भी थोड़े सुकून और थोड़ी फ़ुरसत की कुछ ऐसी घड़ियां मयस्सर आ जायें जिनमें वे भी अपनी पसंद के काम कर सकें? चाहे सैर-सपाटा हो, चाहे कागज़-क़लम, या किताब, या ब्रश से चित्र उकेरें—कुछ भी—जो भी जी में आये। आज़ादी की भावना के साथ। सुकून और एकाग्रता के कुछ पल।

नारी-जागरूकता के विभिन्न आयामों में विद्रोही औरतों का संघर्ष शायद अपने हिस्से की इन्हीं कुछ घड़ियों के लिए रहा होगा ताकि वे अपने लिए समाज में कोई स्थान, कुछ प्रतिष्ठा कमा सकें।

हमारे देश में 'बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ' को एक लोक्रप्रिय नारा बनाया गया है, जिसका प्रचार-प्रसार सरकार बड़े पैमाने पर औरतों के सशक्तिकरण के लिए कर रही है। लेकिन ज़ाहिर है इस नारे की शब्दावली में ही यह इशारा निहित है कि हमारे समाज में औरतों की समस्या 'बराबरी' के दर्जे से कहीं ज़्यादा 'अस्तित्व' की है। अभी कुछ साल पहले (5 सितंबर 2017) निडर सहाफ़ी गौरी लंकेश को गोली मार दी गयी। सिर्फ़ इसलिए कि उसके पास अपनी एक आवाज़ थी, वह एक आज़ाद और बेबाक राय की मालिक थी, उसे समाज पर आलोचनात्मक नज़र डालना आता था और वह अपनी राय को व्यक्त करना जानती थी। उन्ही दिनों सोशल मीडिया पर किसी ने उक्त नारे पर तंज़ कसा था—

बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ. पढ़ लिख कर ज़्यादा बोले तो गोली से उड़ाओ।

तो यह है हमारा समाज जिसने बहुत 'तरक़्क़ी' कर ली है, और औरतों को अपनी पसंद की ज़िंदगी चुनने की बहुत सी 'आज़ादियां' दे दी हैं। उनकी ये आज़ादियां बंधी हुई हैं।

टकराव और वर्गसंघर्ष की इस दुनिया का एक अजब पहलू यह है कि जागरूकता और जद्दोजहद जितनी बढ़ती है, समाजी दबावों का जाल उतना ही पेचीदा होता जाता है, कसता जाता है। ख़ासतौर से जागरूक और बेदार -ज़हन महिलाएं ख़ुद को ऐसे दलदल के बीच फंसा पाती हैं जिसमें से निकलने की हर कोशिश उन्हें और अधिक गहराई में धंसा देती है। उनके लिए दलदल का यह जाल किसने रचा? क्यों रचा? उनकी गुलामी से कौन से हित पल रहे हैं? इन सवालों के जवाब शोषण की जिस व्यस्था तक ले जाते हैं उसकी नज़र में औरतों की जागरुकता इसी तरह का एक बड़ा ख़तरा है जैसा कि ग़रीबों, दलितों, आदिवासियों, बल्कि अन्याय झेल रहे हर वर्ग के महकूमों की जागरूकता ख़तरा बन जाती है। ऐसे में संघर्ष—अस्तित्व की जंग—तो जारी रहेगा ही।

ये और ऐसे ही सवाल शायद उन सबको सताते हैं जो आंखें खोल कर दुनिया की लीला देखते हैं। ज़किया मशहदी का उपन्यास, *पारसा बीबी का बघार* मैंने इसी संशय के साथ पढ़ना शुरू किया कि देखूं औरत के अस्तित्व और आज़ादी के बुनियादी सवालों को वे किस नज़र से देखती हैं, विशेषत: इसलिए भी कि उत्तरी भारत की हम सब औरतों की तरह ज़किया मशहदी ने भी समाज की कड़ी कमान के तीर जैसी परंपराओं और पाबंदियों में रह कर अपने लिए अपने हिस्से का एक गोशा तराशा है। अपना गोशा तामीर करने में अक्सर क्या क़ीमतें अदा करनी पड़ती हैं, अपनी शनाख़्त बनाने में कितना ख़ून पसीना एक करना पड़ता है, उसकी भी एक अलग कहानी होती है जो ज़्यादातर अनकही रह जाती है। लेकिन यही क्या कम है कि औरतें अपने-अपने गोशे तराश रही हैं—अपने हिस्से का एक आसमान जिसमें वे आज़ादी से उड़ान भरती हैं।

समाज के जलते हुए सवालों को ज़हन में रखे बिना साहित्य को पढ़ना मेरे नज़दीक वक़्त-गुज़ारी की प्रक्रिया से ज़्यादा कुछ नहीं। और वक़्त-गुज़ारी ही करनी हो तो आंखों का तेल टपकाने के बजाय बाक़ी दुनिया की तरह तफ़रीह के ज़्यादा आसान और सस्ते रास्ते क्यों न अपनाये जायें? पढ़ना एक संजीदा काम है, ज़हन के ज़िंदा होने का सबूत है। यह हमारे सामाजिक जीवनयापन से सीधा सरोकार रखता है। हमें ज़्यादा संवेदनशील, ज़्यादा दानिशमंद बनाता है। इसीलिए अच्छे साहित्य की जुस्तजू अपने आप में एक जिहाद बन जाती है। कोई अच्छी किताब मिल जाये तो वह ऐसी ही है जैसे रेगिस्तान में भटकते प्यासे मुसाफ़िर को पानी का चश्मा नज़र आ जाये।

ज़किया मशहदी जैसे अदीबों की तहरीरें हमारे लिए ऐसा ही आब-ए-हयात बन जाती हैं। इसमें शक नहीं कि ज़किया मशहदी उर्दू फ़िक्शन की बहुत मोतबर आवाज़ हैं। उनकी कोई कहानी जब भी पढ़ी तो उसने बेचैन भी किया, मसरूर भी—क्योंकि वे महज़ कहानी नहीं लिखतीं, बल्कि हमारे समाज के किसी न किसी पहलू पर एक बेदार ज़हन और संवेदनशील अदीब का रद्द-ए-अमल पेश करती हैं। वे सोचना सिखाती हैं, और इतनी हिम्मत और हौसला रखती हैं कि *मां* जैसी पेचीदा और परंपरा को तोड़ती कहानियां लिख सकें। उनकी तहरीर की खूबियां एक ज़िंदा फ़िक्शन में ज़िंदा समाज की प्रतीक बन जाती हैं।

पारसा बीबी का बघार उत्तर भारत के मध्यम वर्ग के मुस्लिम घराने के बदलते हुए मूल्यों और संघर्ष की कहानी है। मूल्यों में तब्दीली की रफ़्तार और प्रक्रिया को दिखाने के लिए ज़किया मशहदी ने चार पीढ़ियों की औरतों को तर्जुमान बनाया है—मुख्य पात्र (क़मर), उस की दादी और अम्मा, और बाद में ख़ुद उस की बेटियां रिज़वाना और इमराना। दादी तो हिंदोस्तान में औरतों के हज़ारों साल के अतीत की नुमाइंदा हैं जिनके नज़दीक औरत का बुनियादी काम अपनी ससुराल में बे-ज़बान ग़ुलाम बन कर रहना है, और क़मर की अम्मा अपनी सास की कल्पना के मुताबिक़ जीने की कोशिश में उम्र गुज़ारती हैं। अलबत्ता बाक़ी औरतें अपने अपने समय में जीती हैं और उनके रवैये बदलते हुए ज़माने के साथ आने वाली तब्दीलियों का प्रतिबिंब हैं। शिक्षा, कैरियर, मुलाज़मत, शादी, पर्दा, फ़ैशन, घर से निकलने की आज़ादी वग़ैरह ऐसे बुनियादी मामले हैं जिनसे हर घर ख़ानदान का वास्ता पड़ता है। क़मर और उसकी बेटियों की कहानी में ज़किया मशहदी इन्हीं मामलों के हवाले से यह दिखाती हैं कि ये बदलाव किस तरह के हैं, उनके कौन से पहलू और परिणाम हैं।

स्पष्ट है कि उपन्यास की विषय-वस्तु नयी नहीं है, यह तो उनका कहानी सुनाने का अंदाज़ है जो हमें बांध कर रखता है और दो पीढ़ियों पहले के मध्यमवर्गीय मुस्लिम परिवार के रहन-सहन और जीवन मूल्यों से परिचित कराता है। मिसाल के तौर पर, जब नन्ही क़मर की मामी पहली बार उसकी दो चोटियां बनाती हैं, तो दादी भला बुरा कहती हैं। अम्मा वैसे तो सास के सामने बिलकुल मिट्टी की मूरत हैं लेकिन अपने मायके वालों को बुरा-भला सुनना उन्हें दुखी कर जाता है. वे क़मर को समझती हैं:

> हमारे वक़्त में लड़कियों को मांग नहीं निकालने देते थे। बग़ैर मांग निकाले एक चोटी बंधा करती थी... तो बेटा तुम्हें तो मांग निकालने की इजाज़त है। क्यों दो चोटियों की ज़िद करके दादी की डांट सुनती हो और मुमानी को बुरा कहलवाती हो।

इस हिस्से को पढ़ा तो जैसे ज़हन के किसी गोशे में झमाका सा हुआ। यह तो दादी का ज़माना नहीं, ख़ुद हमारे बचपन की कहानी है, जब हमारी चोटी बांधते हुए अम्मी ने यह बात बतायी थी कि उनके ज़माने में शरीफ़ लड़कियां मांग नहीं निकाला करतीं थीं। साथ ही यह भी याद आया कि लड़कियों के लिए बाल कटवाना कितनी बड़ी बुराई थी। मैं शायद सातवें दर्जे में पढ़ती थी जब हमारी संस्कृत की टीचर ने कटे हुए बालों वाली एक लड़की को बाल खींच-खींच कर पीटा था और पीटते हुए कहा था कि इस फ़ैशन को आग लगे, तुम लोग पढ़ने नहीं, फ़ैशन दिखाने आती हो... फिर हुक्म दिया था कि कल से रिबन डालकर दो चोटी बांध कर आना। वह हमारी क्लास की एकमात्र लड़की थी जिसके बाल कटे थे। बाक़ी सब अनुशासित पारसा बीबी थीं और लाल रिबन डाल कर दो चोटी बनाकर स्कूल जाती थीं।

पढ़ते-पढ़ते यह भी याद आया कि औरतों की आज़ादी और बदलते हुए मूल्यों और रवैयों पर इंतिज़ार हुसैन की एक कहानी पढ़ी थी—'महल वाले'। इस कहानी में पारंपरिक मुस्लिम परिवार में एक बाप ने आधुनिकता दिखाते हुए उस्तानी बुला कर बेटी को घर में ही पढ़ाया था तो ख़ानदान भर में इसे एक बग़ावत का क़दम समझा गया था। लेकिन जब बेटी ने नयी काट के गले का जंपर सी कर पहना तो उसकी मां की नींदें उड़ गयीं और उसने झटपट बेटी के हाथ पीले करा दिये। यही बेटी जब मां बनी तो अपनी मां की तरह तंग-नज़र नहीं थी। उनके मियां पढ़े

-लिखे आधुनिक विचारों के आदमी थे। उन्होंने अपनी बेटी को साहित्यिक पत्रिका, *इस्मत* तक मंगाने की इजाज़त दी थी, और जब बेटी के नाम का रिसाला डाक से आया तो मोहल्ले-भर में इस बेग़ैरती के चर्चे हुए कि महल वालों की बेटी का नाम एक रिसाले पर लिख कर आया है जो अजनबी अपरिचित लोगों के हाथों से होता हुआ पहुंचा है। यानी यह परदे के ख़िलाफ़ बात थी, लड़की का नाम भी पते पर लिखा जाये। आधुनिक ख़यालात के माता-पिता ने इस जहालत को नज़रअंदाज़ कर दिया था, लेकिन जब मां को एक दिन बेटी के तकिये के नीचे छिपा हुआ इस्मत चुग़ताई की कहानियों का संकलन मिला तो उसकी भी नींदें उड़ गयीं और उसने अपने शौहर से कहा कि कोई अच्छा सा रिश्ता देखकर अब लड़की के हाथ फ़ौरन पीले कर देने चाहिए। ज़ाहिर है कि यह कहानी 'मुस्लिम अभिजात वर्ग की इसी कशमकश की कहानी थी कि बदलते हुए मूल्यों को किस हद तक क़बूल किया जाये। अपने वक़्त के रोशनख़याल लोग भी, आने वाले समय के बदलते हुए मूल्यों को स्वीकार नहीं कर पाते और अपने बच्चों की नज़र में संकीर्ण विचारों वाले साबित हो जाते हैं। यह ऐसी हक़ीक़त है जो हर ज़माने पर खरी उतरती है। ज़किया मशहदी के उपन्यास में भी यही कशमकश जा-ब-जा नज़र आती है। क़मर, जो तालीमयाफ़्ता है, स्कूल में पढ़ाती है, और जिसने एक आधुनिक दृष्टिकोण अपनाते हुए अपनी बेटियों को आधुनिक शिक्षा और विचारों के साथ जीना सिखाया है, कई बार यह महसूस करती है कि वह ख़ुद अपनी मां की तरह तंग-नज़र होती जा रही है।

यह कहानी बज़ाहिर क़मर और उसकी बेटियों की ज़िंदगी, उनकी समस्याओं और संघर्षों की कहानी है। लेकिन यह एकहरी या सपाट बिल्कुल नहीं है, बल्कि इन पात्रों के वसीले से दरअसल मध्यम वर्ग के बदलते हुए मूल्यों और ज़िंदगी की अक्कासी की गयी हैं। इसके अतिरिक्त गंगा-जमुनी तहज़ीब में विभिन्न समुदायों के आपसी रिश्तों को भी ज़किया मशहदी ने माहिराना संतुलन के साथ कहानी में पिरोया है। क़मर की सहेली मीरा को बेटियां पैदा करने के सबब अपनी ससुराल में जिन तकलीफ़ों से गुज़रना पड़ा और उसकी ज़िंदगी का बहुत दुखद अंत हुआ, वह हिंदुस्तानी औरतों की अधिक बड़ी समस्याओं को ज़्यादा गहराई से रेखांकित करता है।

कई पीढ़ियों के विचारों और मूल्यों में परस्परविरोध और टकराव की इस कहानी में विभिन्न रंगों और लकीरों को ज़किया मशहदी ने कामयाबी से उकेरा है। यह एक यादगार और दिलचस्प रचना है जिसमें गुज़रे ज़माने का नोस्टाल्जिया भी है और बदलते हुए दौर में औरत के अस्तित्व और उम्मीद का ऐसा पैग़ाम भी जो हमारी उंगली पकड़ कर हमें आहिस्तगी से मुस्तक़बिल की कश्ती में सवार करा देता है और यों एक नये सफ़र का आग़ाज़ होता है।

मो. 9899920284

पुस्तक संदर्भ

***पारसा बीबी का बघार* : ज़किया मशहदी, एजुकेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 2018**

कहानी की नयी इबारत

हरियश राय

आज का कथाकार अपने आसपास के परिवेश को देख और समझ कर रचनात्मक स्तर पर अपनी कहानियों में व्यक्त कर रहा है। वह राजनीतिक संबद्धता व बने बनाये फ़ार्मूलों से बाहर निकलकर, संवेदना और कलात्मकता को कहानी का प्रमुख आधार बना रहा है। उपभोक्तावाद, बाज़ारवाद, अपसंस्कृति, संप्रदायवाद के बीच से गुज़रते हुए, आज की कहानी ने मनुष्य के दुखों की अभिव्यक्ति तक अपना विस्तार किया है। जिन तीन कथा संकलनों पर चर्चा इस लेख में की जा रही है, वे तीनों कथा संकलन हमारे आज के दौर को रेखांकित करते हुए कहानी की नयी ज़मीन तलाश करते हैं और कहानी के वर्तमान क्षितिज पर अपनी सार्थक पहचान दर्ज करते हैं।

समकालीन कहानी धर्मांधता और धार्मिक कठमुल्लेपन के विरोध को शिद्दत के साथ दर्ज कर रही है। नूर ज़हीर भी इसका अपवाद नहीं है। वे अपनी कहानियों में उस मुस्लिम परिवेश में मौजूद उन कुरीतियों और जड़ताओं को सामने लाती हैं जो स्त्रियों के लिए एक शोषक की भूमिका निभाता है। वे धर्म के जड़ स्वरूप पर खुलकर प्रहार करती हैं और अपने पाठक को एक ऐसी आधार भूमि पर ले जाती हैं जहां इन कुरीतियों के ख़िलाफ़ अपने आप को खड़ा कर पाता है।

नूर ज़हीर, की 'सयानी दीवानी' कहानी एक विचलित कर देने वाली विशिष्ट कहानी है जिसे पढ़कर धार्मिक कठमुल्लेपन के ख़िलाफ़ एक स्त्री को खड़े होता देख सुखद अनुभूति का एहसास होता है। विशिष्ट इसलिए कि कहानी की नुजहत जिसे कहानी में दीवानी कहा गया, मुस्लिम परिवेश में रहते हुए, अपने पति रज़ा इमाम की हरकतों को बर्दाश्त नहीं करती और उसके पुरुष होने की असलियत को ज़ाहिर करने की धमकी देकर मेहर की रक़म अपने हक़ स्वरूप लेती है। इतना ही नहीं, वह दरवेश बाबा के सामने एक मज़बूत चट्टान की तरह खड़ी होकर फ़रिश्तों को नपुंसक, कहती हुई यह सवाल करती है कि 'अकेली औरत क्या करे' ? वह दरवेश बाबा की 'सब्र करने' और 'दुआ मांगने' की सलाह को न मानकर अपने पति रज़ा इमाम की कसकर पिटाई कर देती है और फ़ख़ से मेहर की रक़म लेकर, और यूनानी हिकमत का सर्टिफ़िकेट हासिल कर, तीन कमरों वाले घर में दो कुत्तों, पाच बिल्लियों, तीन बकरियों और एक अदद तोते के साथ रहती है और गाय का दूध घटने से लेकर टीबी जैसी बीमारियों के बारे में लोगों को सलाह देते हुए ज़िंदगी बसर करती है। पर उसे दीवानी क्यों कहा जाता है, नुजहत इसका जवाब देती है, 'इबादत, नमाज़, तलावत, रोज़े को समय बर्बाद करना कहे, वह दीवानी नहीं तो और क्या है?' पर दरअसल वह दीवानी नहीं, सयानी है जो मुस्लिम समाज की इन कुरीतियों के ख़िलाफ़ अपने आप को खड़ा करते हुए एक नये विमर्श को सामने लाती है। 'बरामदे के पेड़' कहानी की नहीद भी अपने ससुराल से आये बुर्क़े को पहनने से इंकार कर देती है और अपने आप को धर्म की जकड़नों से मुक्त करती है। वह बारिश में नहाने का मन बनाकर अपने घर से बाहर निकल आती है।

'नास्तिक कुनबा' कहानी में नूर ज़हीर ने सोसम्मा को केंद्र में रखकर, चर्च के आडंबर और पाखंड को

बहुत गहराई से उजागर किया है। बावन साल की उम्र में पति की मृत्यु होने के बाद सोसम्मा चर्च में पसरे जाति दंश के ख़िलाफ़ अपनी आवाज़ बुलंद करती है। चर्च में जाति के दंश के कारणों का पता लगाने के लिए वह अपनी बहन के घर जाती है, उसकी बहन बहुत ही कम उम्र की नन को दुत्काराती, फटकारती और सज़ा देती है क्योंकि उस नन ने इशु मसीह की मूर्ति को पोंछ डाला और पवित्र जल के प्याले और मोमबत्ती दान को छुआ। अपनी बहन के इस आचरण से आहत होकर सोसम्मा चर्च जाना छोड़ देती है। ईसाइयों के मोहल्ले से निकाले जाने और तमाम तरह की प्रताड़ना सहने के बाद भी सोसम्मा चर्च की सत्ता को ख़ारिज कर देती है। छह साल बाद सोसम्मा की मित्र आर्या जब आइ ए एस बनकर वापस अपनी बस्ती में आती है तो उसे पता चलता है कि फ़ादर और चर्च का विरोध करते हुए सोसम्मा ने अपने घर में दम तोड़ दिया। ईसाई धर्म का नकार,चर्च की सत्ता का नकार और मानवीयता की प्रतिष्ठा इस कहानी का मुख्य स्वर है।

नूर ज़हीर की यह ख़ासियत है कि वे अपनी कहानियों में ऐसे स्त्री पात्रों की भी रचना करती हैं जो पुरुष प्रधान समाज द्वारा निर्धारित रूढ़ियों और रिवायतों में बंध कर जीवन जीती हैं और इस प्रक्रिया में वे लगातार टूटन का शिकार होती हैं। 'तन्हाई भोजी' कहानी में ज़रीना है जो लंदन स्कूल आफ़ इकनॉमिक्स से पीएचडी करने के बाद फ़ोर्ड फ़ाउंडेशन की प्रोग्राम डायरेक्टर है, जिसका परिवार उसी की कमाई पर ऐश कर रहा है। यह परिवार पहले तलाक़शुदा औरत से शादी करने के ख़िलाफ़ था लेकिन जब उन्हें अच्छा खाना पीना, रहने को बड़ा घर मिल जाता है तो यही परिवार ज़रीना का गुणगान करने लगता है। ज़रीना साठ साल की उम्र में नौकरी से रिटायर होने के बाद अपनी आपबीती लिखती है और अमरीका में रह रही अपनी बेटी नरगिस को मेल कर देती है। अपनी ज़िंदगी की दास्तां बताती हुई वह लिखती है, 'खुद को तोड़ने से बेहतर है, मैं सांचों को तोड़ने की कोशिश करूं।' कहानी पाठक को बने बनाये सांचों से बाहर निकाल कर अपने लिए नये सांचे बनाने की ओर ले जाती है। 'नायिका अभिसारिका' की सलीमा पुरुषवादी समाज से बत्तीस वर्ष बाद अपनी आज़ादी पाकर खुश होती है। अपनी इस खुशी का इज़हार वह कत्थक नृत्य के माध्यम से करती है। 'ज़रूरी माल' कहानी का केंद्रीय पात्र नीरजा कैंसर से पीड़ित है। किसी बस में उसके इलाज की फ़ाइल गुम हो जाती है। उस फ़ाइल में रिपोर्ट, एक्सरे वग़ैरह हैं और उसी के हिसाब से नीरज़ा का इलाज होना है। नीरजा के पति सुधाकर को जब यह पता चलता है तो वह बौखला जाता है। वह इतना आत्मग्रस्त और अहंकारी है कि कैंसर से पीड़ित बीमार पत्नी की फ़ाइल तलाशने के लिए हाथ पैर भी नहीं मारता। नूर ज़हीर ने इस कहानी में आटो रिक्शा के ड्राइवर का एक सकारात्मक चरित्र गढ़ा है। ड्राइवर को जब पता चलता है कि नीरजा कैंसर जैसी भयानक बीमारी से ग्रस्त है तो वह अपना रोज़ा खोलने की बात भूलकर तेज़ी से ऑटो बस स्टैंड की ओर मोड़ता है। जब नीरजा मस्जिद में अज़ान की आवाज़ सुनकर उससे कहती है कि 'मेरे पास फल हैं बाबा, आप रोज़ा तोड़ लीजिए', तो वह कहता है, 'रोज़ा तो आपके फलों से तोड़ूंगा लेकिन फ़ाइल मिलने के बाद।' जब फ़ाइल मिल जाती है तो नीरजा को बस ड्राइवर की बात याद हो आती है कि 'ज़रूरी माल संभाल कर रखना चाहिए और जान तो सबसे ज़रूरी माल है, संभाले रहना।' तब उसे एहसास होता है कि उसकी ज़िंदगी ही सबसे ज़रूरी माल है जिसे उसे पुरुषों की क्रूर मानसिकता से बचा कर रखना है। एक सकारात्मक चरित्र को लेकर लिखी गयी यह कहानी हमें एक ऐसे बिंदु पर ले जाती है जहां संकीर्णता और अहमन्यता के आगे मानवीयता और उदारता की जीत होती है।

'चक्कर घिन्नी' कहानी तलाक़ के दंश को झेलती सकीना की कहानी है जिसका शौहर उसे चार बार तलाक़ देकर पांचवी बार निकाह करना चाहता है। कहानी इद्दत, हलाला, तलाक़, निकाह जैसे सवालों से गुज़रती हुई *क़ुरआन* के 'सुरा-ए- निस्सा' जैसे अध्यायों पर बुनियादी सवाल खड़े करती है। कहानी यह रेखांकित करती है कि मुस्लिम समाज को भी अपने भीतर व्याप्त कुरीतियों जैसे तीन तलाक़, बहु विवाह आदि पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाना होगा और अपनी सोच से इन कुरीतियों को बाहर निकालना होगा ।

संग्रह की ये कहानियां भारतीय मुस्लिम परिवार के अंदरूनी परिवेश में स्त्रियों की स्थितियों को पूरी जटिलता के साथ सामने लाती हैं। साथ ही मुस्लिम परिवारों में धार्मिकता और जड़ता कितने गहरे तक समायी हुई है, संकलन की कहानियां इस ओर भी नज़र डालती हैं। 'सड़क चलने लगी', 'दर बदर', 'मामूली लड़की' जैसी कहानियां मुस्लिम परिवेश में स्त्रियों की स्थितियों को नये कोण से देखने की पेशकश करती हैं। कहानियों के पात्र समय और परिस्थितियों के दबाव झेलते हुए उस माहौल को बदलने की कोशिशों में लगे रहते हैं जो इन कहानियों की एक ख़ासियत है।

नूर ज़हीर पुरुष प्रधान समाज में स्त्रियों की स्थितियों को मानवीय करुणा की भावभूमि पर व्यक्त करने वाली कथाकार हैं। उनकी कहानियों के ब्योरे और उनके कहानी कहने का अंदाज विशेष रुप से उल्लेखनीय है। वे अपनी कहानियों में परिवेशगत स्थितियों और पात्रों की मनोदशाओं और कहानी के ब्योरों का ऐसा जीवंत और मार्मिक वर्णन करती हैं कि पाठक अनायास ही उनकी कहानियों से बंध जाता है। वे बहुत छोटे छोटे दृश्यों और संवादों के माध्यम से कहानी का ऐसा तानाबाना बुनती हैं कि कहानी पाठक को उसकी अपनी कहानी लगती है। उनकी कहानियों के कथानक सघन और विश्वसनीय लगते हैं। इस संकलन की कहानियां मुस्लिम स्त्रियों को सांचों में ढलने के लिए नहीं, बल्कि इन सांचों से बाहर निकलने और अपने लिये नये सांचे बनाने की तरफ़ भी इशारा करती हैं। जैसा कि मार्क्स ने कहा था, दार्शनिकों ने तरह तरह से दुनिया की व्याख्या की है जबकि सवाल उसे बदलने का है।'

आज के दौर में ऐसे कथाकार भी समकालीन कहानी में सक्रिय हैं जो जन आंदोलन से जुड़े रहे और इस आंदोलन के साथ जो वैचारिक मज़बूती उन्होंने हासिल की, उस वैचारिक मज़बूती के साथ वे कहानी के क्षेत्र में सक्रिय हैं। अंजली देशपांडे एक ऐसा नाम है जिनकी कहानियों में वैचारिकता और संवेदना का अदभुत सामंजस्य है। वे अपने कहानी संकलन, *अंसारी की मौत की अजीब दास्तान* में पुलिसतंत्र के आतंक की कहानी कहती हैं। कहानी में एक प्रोफ़ेसर अंसारी है जिसमें नक़ली दिल लगा हुआ है। वह सूफ़ी संगीत सुनने के लिए अपनी पत्नी के साथ एक सभा में जाता है और जब वह सुरक्षा जांच से गुज़रता है तो वहां लगी मशीनों से 'बीप' की आवाज़ सुनायी देती है। पुलिस उसे मानव बम समझ कर पकड़ लेती है। प्रोफ़ेसर अंसारी और उसकी पत्नी पुलिस वालों को सफ़ाई देते हैं कि वह आतंकवादी नहीं है, उसकी छाती में नक़ली दिल लगा हुआ है और जो तार देख रहे हैं, वह दिल को चार्ज करने वाली तार है, किसी बम की नहीं। लेकिन पुलिस वाले उसकी एक नहीं सुनते और अंतत: उसकी मौत हो जाती है। कहानी पुलिस के काम करने के तौर तरीक़ों और उसके आंतक को सामने लाती है। कहानी में अंजली देशपांडे ने एक संदर्भ को लिया है, एक प्रोफ़ेसर द्वारा अपनी पत्नी सहित सूफ़ी संगीत सुनने जाना और पुलिस की गिरफ़्त में आ जाना। इस संदर्भ को अंजली देशपांडे हमारे आज के व्यापक परिवेश से जोड़ देती हैं। पुलिस का आंतक और एक सीधे सादे आदमी को मानव बम समझने की सोच, कहानी का केंद्रीय स्वर बन जाते हैं। यह कहानी पुलिस तंत्र और उनकी कार्यशैली पर बहुत बड़े सवाल खड़े करती है।

कहानी में सांप्रदायिक सोच का एक धरातल है तो सांप्रदायिक सोच का दूसरा धरातल उनकी कहानी, 'भूल' में देखने को मिलता है। 'भूल' कहानी प्रेम-कहानी है, लेकिन इस प्रेम में हिंदुस्तान के बंटवारे व मुसलमानों के प्रति भेदभाव के कई प्रसंग समाहित हैं जो कहानी को ताक़त देते हैं। कहानी श्रीपाद और तसनीम जहान के प्रेम संदर्भों की है, जिससे कहानी की केंद्रीय संवेदना बनती है। दोनों कॉलेज में पढ़ते थे और इसी दौरान दोनों में प्रेम हुआ। बंटवारे के दौरान तसनीम जहान कराची चली जाती है क्योंकि उसके पिता रज़ाकार थे। तसनीम जहान के पाकिस्तान जाने के बाद श्रीपाद हिंदुस्तान में रह जाते हैं। इन दोनों की शादी नहीं हो पाती। हालांकि श्रीपाद तसनीम जहान से शादी करने के लिए कलमा पढ़ने को भी तैयार हो गये थे लेकिन उनकी बहन छाया नहीं चाहती थी कि

उसके भाई की शादी एक मुस्लिम लड़की से हो। अपनी बहन के इस व्यवहार से श्रीपाद ने उनसे अपना नाता ख़त्म कर लिया था। इस नाते के ख़ात्मे के मूल में एक कारण और भी था और वह यह कि उसके बहनोई ने ही तसनीम के पिता के बारे में पुलिस को ख़बर दी थी और उन्हें गिरफ़्तार करवाया था। उम्र के आख़िरी पड़ाव पर जब छाया की बेटी आशा के प्रयासों से उन दोनों की मुलाक़ात होती है तो वह मुलाक़ात बेहद उदास और सपाट सी होती है। कहानी इस प्रेम प्रसंग के माध्यम से हिंदुस्तान के बंटवारे को एक भूल के रूप में याद करती हुई कई सवाल हमारे सामने खड़े करती हुई एक विशिष्ट कहानी बन जाती है । कहानी के बीच बीच में विभाजन के दौरान हुए दंगों व राष्ट्रवाद, मुस्लिमों के प्रति वैमनस्य ,खुले दिमाग़ के लोगों द्वारा भी दंगे करवाने, पाकिस्तान के प्रति मुज़ाहिरों का मोह भंग जैसे कई ऐसे प्रसंग हैं जो परस्पर गुंथे हुए हैं। ये सभी प्रसंग कहानी के कथ्य को एक राजनीतिक आयाम देते हैं।

संघर्षशील स्त्रियों के संघर्षों को कहानी में चित्रित करने को कहानी के एक मुख्य स्वर के रुप में देखा जा सकता है । उनकी कहानी, 'हक़' को संघर्षशील स्त्रियों की सोच और सरोकारों को सामने लाने वाली कहानी के रुप में देखा जा सकता है। कहानी ओनिमा और जैसन पुथुपल्ली के संबंधों की कहानी है, लेकिन उनके संबंधों के साथ साथ असम आंदोलन को केंद्र में रखती हुई तत्कालीन राजनीति को सामने लाती है। एक लंबे समय तक असम में आंदोलन चला; इस आंदोलन में असम में बाहरी लोगों, ख़ासतौर पर बांग्लादेश से आये लोगों को बाहर निकालने के लिए कोशिशें हुई। कहानी की ओनिमा असम आंदोलन से गहराई से जुड़ी है। वह एक पत्रिका में जैसन पुथुपल्ली के लेखों को पढ़कर प्रभावित होती है जिसमें असम के आंदोलनों को जन आंदोलन कहा जाता है। लेकिन जब उसे यह पता चलता है कि जैसन पुथुपल्ली एक बंगाली है तो ओनिमा की सोच बदल जाती है। वह उसे असम आंदोलन के विरोधी के रुप में देखने लगती है। कहानी असम आंदोलन से जुड़े अनेक तर्कों से गुज़रते हुए इस निष्कर्ष तक पहुंचती है कि 'आंदोलन से कोई हल नहीं निकला वही छात्र शासक बन गये।' कहानी सवाल करती है कि क्या ब्रह्मपुत्र के मीनारों पर नौकाओं से वसूली करने वालों का आंतक कम हुआ था? या क्या ब्रह्मपुत्र के किनारे अपने हो गये थे? या क्या बाहरियों से छुटकारा मिल गया था? कहानी में एक दूसरा स्तर ओनिमा के संबंधों का भी है जो बचपन में अपना घर, अपना हक़ छोड़कर निकल गयी थी। आंदोलन की विफलता के साथ ही उसे लगता है कि उसे अपना हक़ नहीं छोड़ना चाहिए था। इस स्तर पर कहानी को एक नयी ऊंचाई मिलती है। अंजली देशपांडे ने इस कहानी के कथ्य के माध्यम से आक्रामक राष्ट्रवाद के जिन प्रभावों का रेखांकन किया है, वे आज के समय में और भी ज़्यादा सघन हो गये हैं।

अंजली देशपांडे की 'असमान कहानी' स्त्रियों के वजूद और उनके स्वाभिमान की कहानी है। कहानी में ज़र्द चेहरे और बदरंग त्वचा वाली स्त्री को धंधे वाली समझ कर एक पुरुष द्वारा नोट दिखाकर लालच दिया जाता है कि वह उसके साथ चले। नोट देखते ही स्त्री का स्वाभिमान जागृत हो जाता है और बात यहां तक बढ़ जाती है कि दोनों पुलिस स्टेशन पहुंच जाते हैं। स्त्री चाहती है कि पुलिस उसकी शिकायत दर्ज करे लेकिन ऐसा हो नहीं पाता और अंतत: रत्ना उस व्यक्ति को पुलिस की मौजूदगी में एक ज़ोरदार थप्पड़ मारती है। कहानी संवेदना के स्तर पर रत्ना के साथ खड़ी होकर स्त्री विमर्श के तमाम दायरों से अपने आप को मुक्त करती हुई स्त्री के गौरव को केंद्र में लाती है ।

अंजली देशपांडे की कहानी, 'रामचंद्र जी का लंच' रामलीला के पात्रों के प्रति भक्तिभाव तथा इस भक्तिभाव के प्रतिकार की कहानी है। रामलीला के राम को अपने अपने घरों में भोजन कराने की होड़ सी लगी रहती है। तमाम औरतों की तरह दीपा भी चाहती है कि रामलीला में राम का अभिनय करने वाला पात्र उसके घर में भोजन करे, लेकिन उसके पास इतना वक़्त नहीं है कि वह दीपा के घर आ सके । कहानी में सत्या, राम के नाम से

चली आ रही व्यवस्था का विरोध करती हुई कहती है कि 'क़सूर हमारा है। हम ही भूल गये थे कि आपने शंबूक की हत्या की है, हमारी बिसात क्या?' कहानी में स्त्रियों द्वारा रामलीला में राम का अभिनय करने वाले पात्र को पूजने, उनके प्रति अपनी भक्ति व्यक्त करने के कई प्रसंग हैं जो कहानी को जीवंत और अर्थवान बनाते हैं।

आज की कहानी ग्रामीण परिवेश में व्याप्त पूंजी और उससे उत्पन्न विसंगतियों के ऐसे अनूठे चित्र पेश कर रही है जो कहानी की व्यापकता को बढ़ाते हैं। व्यवस्था द्वारा विकास का जो मॉडल पेश किया जा रहा है आज की कहानी उसे पूरी तरह नकार देती है। कैलाश बनवासी के कहानी-संग्रह, *कविता पेटिंग पेड़ कुछ नहीं* की कहानी, 'विकास की पतंग' इस दृष्टि से उल्लेखनीय कहानी है। इस कहानी में कैलाश बनवासी ने सहजता के साथ वर्तमान शासनतंत्र में एक सीनियर इंजीनियर के जीवन के संदर्भों को संवेदनात्मक स्तर पर सामने रखा है। कहानी के विकास देवांगन को जब आर्थिक मंदी के कारण नौकरी से निकाल दिया जाता है, तब उसके जीवन में संकटों का दौर शुरू होता है। वह तमाम प्रयास करता है कि किसी तरह उसका जीवन सामान्य रूप से चल सके, लेकिन ऐसा होता नहीं है। वह चुनाव भी लड़ता है और चुनाव में हारने के बाद फिर से पार्टी आफ़िस में इस उम्मीद से काम करने लगता है कि कभी उसे भी कोई न कोई बड़ा पद सरकार में मिल ही जायेगा।

कहानी में कैलाश बनवासी ने विकास देवांगन के चरित्र के बारीक़ रेशों को कलात्मक तरीक़े से प्रस्तुत करते हुए यह सवाल उठाया है कि इस मंदी के दौर में क्यों क्रिकेटरों को करोड़ों रुपयों में ख़रीदा जा रहा है और विजय माल्या की किंग फिशर कंपनी में सैकड़ों कर्मचारी हड़ताल क्यों कर रहे हैं और क्यों उसका मालिक मालदीव, मारिशस, सिंगापुर, पटाया में सुंदरियों के बीच कैलेंडर के लिए तस्वीरें खिंचवाता है ? और क्यों अरबपति मालिकों के जीवन में इस मंदी का असर नहीं हुआ? कैलाश बनवासी ने इस कहानी में जिन जीवन संदर्भों को उठाया है , वे आज की व्यवस्था से ही उपजे हैं, जो बेहद दुखदायक और त्रासद हैं। इस कहानी का प्रभाव इसलिए भी ज़्यादा पड़ता है क्योंकि इसमें देश के लोगों पर थोपी गयी मंदी के कारण तबाह होती ज़िंदगी की तस्वीर देखने को मिलती है। अपने जीवन को बेहतर बनाने की लालसा विकास को पार्टी आफ़िस में ले जाती है जहां से भी उसे निराशा ही हाथ लगती है लेकिन एक सपना उसके मन में अभी भी पल रहा है कि शायद कभी उसे भी सफलता हासिल हो। कहानी का यह मार्मिक अंत कहानी को एक नयी ऊंचाई पर ले जाता है।

कैलाश बनवासी ने 'झांकी' कहानी में हमारे आज के समय के शिक्षातंत्र को पहचानने के कई सूत्र दिये हैं। शिक्षातंत्र किस तरह पूंजी और मुनाफ़ा बटोरने वाले एक बहुत बड़े जाल में बदल चुका है, कहानी इस का खुलासा करती है। मेडिकल कॉलेज का सरगना राठी, मेडिकल कॉलेजों की सहायता से करोड़ों का कारोबार करता है। कहानी में ऐसे कई दृश्य मौजूद हैं जो वर्तमान शिक्षा व्यवस्था के ढांचे को कठघरे में खड़ा करते हैं। स्कूल टीचर धीरेंद्र मिश्रा साढ़े तीन लाख रुपये डोनेशन देकर अपने बेटे को डेंटल कॉलेज में दाख़िला दिलाना चाहता है। मेडिकल संस्थान की भव्यता व चकाचौंध को देखकर हैरान भी रह जाता है। उसके मन में यह सवाल भी उठता है कि राठी के संस्थान की नयी बिल्डिंग बनाने वाले मज़दूरों के मन में यहां पढ़ रहे बच्चों को देखकर यह ख़याल आता होगा कि काश हमारे बच्चे भी यहां पढ़ सकते। इस बिंदु पर आकर कहानी नये अर्थ खोलती है।

समकालीन कहानी अपने समय की राजनीति के अंतर्विरोधी स्वरूप को पहचानने में और उसे व्यक्त करने में पूरी तरह सक्षम है। कैलाश बनवासी की कहानियां इसकी एक मिसाल हैं। उनकी कहानियों की एक खूबी यह है कि वे बिना राजनीतिक विषयों के भी अपने समय की राजनीतिक कहानियां बन जाती हैं। किसी भी कहानी में किसी भी तरह का राजनीतिक संदर्भ नहीं है, लेकिन उनकी कहानियां राजनीति में आम आदमी की त्रासद स्थितियों को संवेदनात्मक स्तर पर सामने रखती हैं। 'कविता, पेटिंग पेड़ कुछ नहीं' कहानी के पात्र चाहे वह स्कूल टीचर नंदिता हो या उसके पैंसठ वर्षीय पिता जी द्वारा अपने सामने ही गूलर के पेड़ को लेकर लिखी गयी कविता हो, ये

सब धर्म और संप्रदाय की राजनीति करने वाले राजनीतिज्ञों के सामने कुछ नहीं हैं। यह कहानी का एक पक्ष है लेकिन कहानी का दूसरा पक्ष भी है और वह है कि सत्ता का विरोध करने के लिए पेंटिंग और कविता से बढ़कर दूसरा कोई औजार नहीं है। कहानी की सार्थकता तब और भी बढ़ जाती है जब पिता जी अपनी कविता में यह लिखते हैं, 'ईश्वर के नाम पर / ईश्वर के भक्तों ने नहीं / काट गिराया है तुम्हें ईश्वर की सेना ने / जिन्हें नहीं मालूम तिल-तिल कटने की पीड़ा / और उजड़ जाने का दर्द।'

इसी तरह 'बड़ी ख़बर' कहानी में मीडिया चैनलों के द्वारा नक़ली ख़बरों के प्रसारण से नफ़रत का माहौल पैदा करना लोगों की मानसिकता को एक ख़ास दिशा की ओर ले जाने का संकेत है। बैंक में चैक जमा कराने गया व्यक्ति देखता है कि बैंक के परिसर में लगा टीवी बड़ी ख़बर के रुप में 'सर्जिकल स्ट्राइक के बाद सकते में है पाक', 'कब तक बचेगा पाक','सीमावर्ती गांवों में पाक ने दागे मोर्टार', 'हमारी सेना हर हमले का जवाब देने में सक्षम' जैसी उत्तेजक और सनसनीपूर्ण ख़बरों का प्रसारण कर लोगों के ज़ेहन में ज़हर फैला रहा है, लेकिन उस व्यक्ति के लिए ये सब ख़बरें, ख़बरें नहीं हैं। उसके लिए तमाम झूठ के बावजूद बैंक में अपने काम से आये लोगों के बच्चो का खेल खेलना ख़बर है। तमाम घृणित ख़बरों के बीच बच्चों के खेलने के सहज आनंद को बचाये रखने की कोशिश करती हुई यह कहानी पाठकों को ऐसे मुक़ाम तक ले जाती है जहां पाठकों के लिए मीडिया की बड़ी ख़बरों से अधिक बड़ी ख़बर बच्चों का खेलना बन जाती है।

कैलाश बनवासी अपनी कहानियों में एक आम आदमी के मन में पाकिस्तान को लेकर जो खिंचाव और अलगाव है, उसे व्यक्त करते हैं। पिछले कुछ समय से हमारे देश में पाकिस्तान को लेकर एक ऐसा माहौल बनाया गया कि आम आदमी भी उस माहौल से अछूता नहीं रहा और अनजाने ही उसे पाकिस्तान की हर चीज़ से एक नफ़रत सी हो गयी। हिंदुस्तान पाकिस्तान का क्रिकेट मैच एक खेल नहीं, एक तरह से युद्ध की तरह होता है और देश की अधिकांश आबादी इस खेल को एक जुनून और बदले की भावना से देखती है। हिंदुस्तान किसी भी सूरत में पाकिस्तान से हारे, यह इस देश के लोगों को देखना क़बूल नहीं है। किक्रेट मैच में पाकिस्तान की हार के बाद कहानी के जग्गू को मुसलमानों को जलाने में असीम सुख हासिल होता है। मैच देखते देखते किस तरह उनमें एक सांप्रदायिक सोच समा जाती है कैलाश बनवासी ने अपनी कहानी, 'चक दे इंडिया' में बखूबी सामने रखा है। इस घृणास्पद माहौल के बीच कैलाश बनवासी ने इस कहानी में राशि शुक्ला और आसिफ़ की प्रेमकथा को भी पिरोया है जो कहानी को एक सकारात्मक बिंदु की ओर ले जाता है। हिंदू मुस्लिम संबंधों को प्राणवान और सौहार्दयुक्त बनाने के लिए जिस संवेदनशीलता की ज़रूरत है, वह कहानी में एक अंत:सलिला की तरह मौजूद है और वही कहानी की ताक़त है। कैलाश बनवासी की दृष्टि इस व्यवस्था के दमनचक्र की ओर भी जाती है और इस चक्र को वे अपनी कहानियों में कई स्तरों पर रूपांतरित करते हैं। 'वाइब्रैट जगतरा' कंपनियों द्वारा किसानों की ज़मीन हड़पने तथा किसानों के दमन व संघर्ष की कहानी है। कहानी का जगन उस पात्र का प्रतिनिधि है जो ग्रामीण विकास के नाम पर भ्रष्टाचार करता है और गांव की राजनीति में केंद्रीय भूमिका निभाते हुए सत्ता के सूत्रों को अपने हाथ में रखता है। यह कहानी ग्रामीणों द्वारा अपने हक़ की लड़ाई की आवाज़ को बुलंद करते हुए पाठकों की चेतना को एक नया विस्तार देती है।

कैलाश बनवासी हमारे समय के उन रचनाकारों में से हैं जो अपने रचनात्मक अनुभवों को अपने परिवेश से संबद्ध करते हैं और कहानी की संवेदना में इस तरह पिरोते हैं कि कहानियां पाठकों की चेतना को गहराई से प्रभावित करती हैं। संग्रह की अधिकांश कहानियों के दृश्य परस्पर जुड़े रहते हैं। संवादों को परिस्थितियों के अनुकूल ढालने को कैलाश बनवासी की कहानी कला की एक विशेषता के रूप में देखना चाहिए। इन तीनों संकलनों की कहानियों की एक खूबी यह भी है कि ये कहानियां हमारे समय के सरोकारों को गहराई से सामने रखते

हुए कहानी लेखन की नयी इबारत लिखती हैं। ये कहानियां राज्य की भूमिका, राष्ट्रवाद और अंधराष्ट्रवाद व सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के फ़र्क़ की पहचान को लेकर भी सतर्क हैं। इन संकलनों के माध्यम से आज की कहानी किस मुक़ाम तक आन पहुंची है, इसका अंदाज़ा सहजता से लगाया जा सकता है।

फोन : 9873225505

पुस्तक संदर्भ

1. *सयानी दीवानी* : नूर ज़हीर , राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा0 लि0, 2020

2. *अंसारी की मौत की अजीब दास्तान* : अंजली देशपांडे, सेतु प्रकाशन, नोएडा, 2019

3. कविता पेटिंग पेड़ कुछ नहीं : कैलाश बनवासी, सेतु प्रकाशन, नोएडा, 2020

विद्रूप यथार्थ की तस्वीरों के भिन्न लेंस

(चार कहानी संग्रहों के हवाले से)

बलवंत कौर

मनोज पांडेय और अनिल यादव समकालीन कहानी के दो ऐसे नाम है जिन्होंने न सिर्फ़ रूप और अंतर्वस्तु के स्तर पर कहानी में व्यापक तोड़फोड़ की है, बल्कि कहानी लेखन का अपना एक अलग मुहावरा भी गढ़ा है। 2020 में अनिल यादव की लंबी कहानी, गौसेवक छपी तथा मनोज पांडेय का नया कहानी संग्रह, *बदलता हुआ देश* प्रकाशित हुआ। अपनी कहन में ये दोनों किताबें बिलकुल भिन्न धरातल पर हैं, लेकिन अपनी अंतर्वस्तु के स्तर पर ये दोनों एक दूसरे की पूरक ही हैं। मनोज पांडेय जिस बदले हुए देश का बिंब लोककथाओं की शैली में इस संग्रह में गढ़ रहे हैं, उस बदले हुए देश की वास्तविक सूरत गौसेवक में देखी जा सकती है। *बदलता हुआ देश* मनोज पांडेय का चौथा कहानी संग्रह है। इस संग्रह में बारह कहानियां हैं जो लोककथाओं के ढांचे में, बहुत चुटीली भाषा में समकालीन राजनीति की सत्ता-संरचना को प्रस्तुत करती हैं। इस संग्रह का आकर्षण जितना इसका कथ्य है उससे अधिक इसका रूप विन्यास है। यह रूप विन्यास बहुत नया नहीं है। अलग अलग देश काल में अभिव्यक्ति के एक औजार के रूप में इसका बखूबी इस्तेमाल विश्व के अनेक रचनाकारों ने किया है। कहानी का विन्यास सिर्फ़ बाह्य संरचना मात्र नहीं होता बल्कि जीवन और उसके अंतर्विरोधों को, विडंबनाओं को समझने का एक रचनात्मक माध्यम भी होता है। इसलिए कहानी में इसकी सार्थकता इसमें है कि रूप या विन्यास का प्रयोग कहानीपन को खंडित न करे। इस सदंर्भ में *बदलता हुआ देश* एक सार्थक प्रयोग है क्योंकि यहां कहानीपन और पठनीयता कहीं भी बाधित नहीं होती।

बदलता हुआ देश, कहानी संग्रह में देश की नयी गढ़ी जा रही अवधारणा और नये राजा की लीलाओं के माध्यम से व्यवस्था पर प्रहार किया गया है। संग्रह की बारह कहानियां व्यवस्था के वे बारह सूत्र हैं जिनके सहारे व्यवस्था, 'सबका साथ सबका विकास' जैसे मिथ रचती है। इस संग्रह में मनोज पांडेय ने जिस स्वर्णदेश की कल्पना की है, उस स्वर्णदेश का पूरा तानाबाना धर्म से नियंत्रित है। विधर्मियों को यहां रहने की अनुमति नहीं क्योंकि वे भी अपने पूर्वजों की तरह जरायम पेशा, हिंसक और अपराधी माने जाते हैं। अगर इसके बावजूद कोई विधर्मी स्वर्णदेश में रह जाये तो उसका शुद्धीकरण किया जाता है या फिर उसकी तरह तरह से हत्या करवा दी जाती है, क्योंकि विधर्मियों की हत्या पर सज़ा का प्रावधान इस स्वर्णदेश में नहीं है। सीमाओं पर शत्रुओं से घिरा होने के बावजूद स्वर्णदेश सीना ताने खड़ा रहता है। तीन धन्ना सेठ पूरे स्वर्णदेश में शिक्षा से लेकर हर तरह की व्यवस्था के नियामक हैं। इस स्वर्णदेश में एक ऐसे राजा की कल्पना है जिसे प्रजा की चिंता में दिन रात नींद नहीं आती, जो कपड़े बदल बदल कर देश की उन्नति और विकास की योजनाएं बनाता है, जिसका मानना है कि गुलामी और जहालत से निकलने के लिए देश को बायें हाथ से काम लेना चाहिए, आधुनिक विकास के लिए विस्थापन होना अनिवार्य है, बेरोज़गारी स्वर्णदेश की कोई समस्या नहीं, बल्कि काहिली के संस्कार हैं। इसलिए अचार बनाना, पकौड़े तलना जैसी कलाओं को पुनर्जीवित करना चाहिए, किसानों को आत्महत्या से बचाने के लिए उनकी ज़मीन धन्नासेठों को दे देनी चाहिए। और सबसे महत्वपूर्ण बात, इस देश में राजा का मानना है कि भविष्य नाम की कोई चीज़ होती ही

नहीं, भविष्य मात्र भ्रम है। राजा कहता है- 'भविष्य अतीत में बदलता है, इसलिए अतीत भविष्य में भी बदल सकता है। बल्कि अतीत ही हमारा भविष्य है। जब तक उसका राज रहेगा, हमें इस सिंहासन से कोई हिला नहीं सकता; बल्कि यह वह सूत्र भी है जिससे हम इतिहास के दाग़-धब्बों को हमेशा-हमेशा के लिए साफ़ कर सकेंगे। हमें भविष्य में नहीं, इतिहास में अमर होना है'। दरअसल, स्वर्णदेश का यह रूपक इतिहास और वर्तमान की उस त्रासदी से निकला है जिस त्रासदी को देखना-झेलना आम आदमी की विवशता है, लेकिन सजग रचनाकार की भाषा हर देश काल में इस तरह के स्वर्णदेशों और उनके राजाओं की लीला को अभिव्यक्त कर ही देती है। कोई भी राजा इतिहास की पाठ्य पुस्तकों में भले ही बदलाव कर दे या अपने वर्तमान को इतिहास की पाठ्य-सामग्री में दर्ज करवा ले, लेकिन उसकी गाथाएं/लीलाएं साहित्य में अन्योक्ति/रूपक/व्यंग्य आदि की शक्ल में दर्ज हो ही जाती हैं। संग्रह की कहानी, 'पीछे चलो, भविष्य कहीं नहीं है' में राजा के आदेश से विधर्मी भाषा के शब्दों का चलन बंद कर दिया जाता है। लेकिन रचनाकार इन बंधनों को निरस्त करने के लिए कितने सृजनात्मक हो जाते हैं, यह मनोज पांडेय के कहानी संग्रह में देखा जा सकता है। कह सकते हैं, संग्रह के निरंकुश कवियों की तरह मनोज पांडेय ने भी अभिव्यक्ति पर अंकुश के इस युग में यह शैली ईजाद की है, जिस शैली में सत्ता और ताक़त की संरचना की एक एक परत प्याज़ के छिलके की तरह उतरती नज़र आने लगती है। लेकिन कहानी में इस तरह के राजनीतिक पाठ की अपनी सीमाएं भी होती हैं। इस बात का अंदेशा हमेशा मौजूद रहता है कि अत्यधिक समसामयिकता और ज़ाहिर प्रतिबिंब अक्सर उस कहानी को कालसीमा का अतिक्रमण नहीं करने देते। मनोज पांडेय का यह संग्रह इस अंदेशे का कितना अतिक्रमण कर पायेगा यह तो आने वाला वक़्त ही बतायेगा।

नगरवधुएं अख़बार नहीं पढ़तीं (कहानी संग्रह), *यह भी कोई देस है महाराज* (यात्रा-वृतांत) तथा *सोनम गुप्ता बेवफ़ा नहीं है* (लेख संग्रह) जैसी किताबों के लेखक अनिल यादव की अगली किताब, *गौसेवक* है। *गौसेवक* एक लंबी कहानी है। मनोज पांडेय के बदले हुए देश की वास्तविक तस्वीर इस लंबी कहानी में देखी जा सकती है। मनोज पांडेय की लोक कथा शैली के विपरीत *गौसेवक* जटिल यथार्थवादी संरचना की कहानी है जो पहली नज़र में देखने पर आदिवासी धामा चेरो की कहानी लगती है। धामा चेरो, जो स्कूल के दिनों से ही अपने समुदाय के लिए राशन कार्ड बनवाने के लिए प्रयत्नशील है ताकि पुलिस और नक्सलियों के संघर्ष में वह अपनी पहचान सिद्ध कर सके, लेकिन स्कूल के प्रिंसिपल की राजनीति का शिकार होकर वह प्रताड़ना के केंद्र पुलिस थाने तक पंहुच जाता है। बाद में पुलिस और नक्सलियों के संघर्ष की राजनीति से बचने के लिए और अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षा पूरी करने के लिए वह उस स्थानीय राजनीति का हिस्सा बन जाता है जहां गौ-तस्करी से लेकर 'मुसलमान मार गिराना' राष्ट्रवादी होने की पहचान मानी जाती है। लेकिन वास्तविकता में यह सिर्फ़ धामा चेरो की कहानी नहीं बल्कि उस सामाजिक-राजनीतिक प्रक्रिया की कहानी है जिसमें देश की मुख्य धारा से होते हुए यह सांप्रदायिक राजनीति धीरे धीरे इन पिछड़े अंचलों में प्रवेश कर रही है। इस रूप में यह यह कहानी नक्सल प्रभावित आदिवासी इलाक़े में विकास के राजनीतिक समीकरणों से होती हुई, गौसेवा के नाम पर होने वाले अवसरवाद तथा सत्ता के लिए उस अवसरवाद के सांप्रदायिक राजनीति में तब्दील होने की बहुपरतीय कथा है।

गौसेवक एक पत्रकार के नज़रिये से लिखी गयी है जो आदिवासी इलाक़े में बन रहे बांध की वास्तविकता से परिचित होने के लिए आता है। पहले ही दृश्य में वाचक का परिचय अपने को गौसेवक कहने वाले धामा चेरो से होता है। धामा चेरो न सिर्फ़ वाचक को विकास के नाम पर सदियों से बनाये जा रहे बांध की राजनीतिक स्थिति से परिचित करवाता है बल्कि उस क्षेत्र में नक्सलियों और पुलिस के बीच पिसते प्रताड़ित होते गांव वालों से भी साक्षात्कार करवाता है। चूंकि वाचक पत्रकार है इसलिए जो दिखाया/बताया जा रहा है वह सब तो वह देख ही रहा है लेकिन जो नहीं दिखाया बताया जा रहा वह सब भी वाचक के अनुभव का हिस्सा बन जाता है।

इसलिए बांध और उससे जुड़ी सारी स्थितियों, तथ्यों और सूचनाओं से भरी जानकारी होने के बाद भी उसे लगता है इन सारी स्थितियों से इतर भी बहुत कुछ है जिसका बयान वह अपनी 'देह पर देवताओं की सवारी झेलने वाले ओझा और बैगा' की मदद से कर सकता है, धामा चेरो जैसे विकास चाहने वाले से नहीं। कहानी का अंत भी सिद्ध कर देता है कि लालच की राजनीति नफ़रत की राजनीति में कैसे तब्दील हो जाती है। राजनीति में अपनी महत्वकांक्षा के लिए धामा चेरो हर वह योग्यता रखता है जो किसी भी नेता में होनी चाहिए। गौसेवा के नाम पर गौ-तस्करी करना, फ़ौज में भर्ती के नाम पर आदिवासी लोगों से पैसा वसूलना, फ़ैक्टरी में मज़दूरों की हड़ताल खुलवाने के लिए फ़ैक्टरी प्रबंधकों से पैसा ले धरना-प्रदर्शन करवाना आदि आदि। लेकिन कहानी का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा वह है जो वह करना चाहता है-- सत्ताधारी पार्टी को खुश कर विधानसभा का टिकट पाने के लिए मुसलमान को मारना चाहता है, क्योंकि सत्ताधारी पार्टी एक हिंदू राष्ट्रवादी पार्टी है, जिसका मानना है—'जिस पार्टी के ख़िलाफ़ चुनाव लड़ रहे हो उसे वोटर को लालच देकर जीतने का बहुत पुराना अनुभव है। लालच से लालच की काट नहीं हो सकती। नफ़रत कहीं बहुत अधिक शाक्तिशाली चीज़ है...', यह नफ़रत आज की राजनीति का स्थायी मुहावरा बन गयी है। वर्तमान राजनीति का अंधेरा पक्ष, जिसने राजनीति को ही नहीं देश को भी बदल दिया है। मनोज पांडेय के कहानी संग्रह का बदला हुआ देश यही है, जहां राजा विधर्मियों की हत्या पर सज़ा नहीं, चुनावी टिकट इनाम में देता है। सत्ता की यह संरचना जिस 'हिंदू राष्ट्र' के सपने को पूरा करने की कोशिश कर रही है वह स्वार्थी और लालची व्यक्तियों के द्वारा ही संभव हो सकती है । धामा चेरो जैसे गौसेवक ऐसी ताक़तों के लिए हथियार का काम करते हैं। लेकिन इन ताक़तों के मंसूबे आम आदमी की सजगता और प्रतिरोध के समक्ष कमज़ोर सिद्ध होते हैं। कहानी में बैगा के चरित्र और 'मुसलमान को मार गिराने' से बचाने की उसकी तत्परता कथा को उस बिंदु पर ले आती है जहां मनुष्यता के समक्ष सांप्रदायिक राजनीति पराजित होती है। बैगा का कथन कि 'गाय-गौरू तो ठीक था लेकिन अब आदमी का बच्चा हतोगे तो कैसे बरदाश्त होगा। कौन कहेगा ये ठीक काम है। कह दे कोई हमारे रहते ये नहीं होने पायेगा...' वर्तमान राजनीति के अंधेरे में भी यदि हम शिकायत करने के बजाय आम आदमी भी बैगा की तरह 'हमारे रहते ये नहीं हो पायेगा कहना और करना शुरू कर दें तो कोई देश का इतिहास भूगोल बहुत सहजता से नहीं बदल पायेगा। गौसेवक कहानी अपनी सशक्त अंतर्वस्तु के साथ-साथ अपनी सशक्त कथा-भाषा के लिए भी भविष्य में याद की जायेगी। जैसा कि नामवरसिंह ने कभी नयी कहानी के सदंर्भ मे कहा था कि 'भाषा का सवाल केवल कुछ शब्दों के छोड़ने और लेने तक ही सीमित नहीं है। सवाल नयी वास्तविकता के अनुरूप उतनी ही यथातथ्य कठोर,चुस्त, संवेदनशील, सजीव भाषा के निर्माण का है'। और इस सदंर्भ में बारीक़ ब्यौरों से रची, वर्णन की अद्भुत कारीगरी से युक्त अनिल यादव की कथा-भाषा नये राजनीतिक यथार्थ की जटिलता को बहुत सूक्ष्मता से उद्घाटित करती है।

समकालीन कहानी लेखन में कई पीढ़ियां एक साथ सक्रिय हैं। इन सक्रिय रचनाकारों में चरण सिंह पथिक तथा हरियश राय महत्वपूर्ण नाम हैं। *दो बहनें*, चरण सिंह पथिक का चौथा कहानी संग्रह है। इससे पहले *पीपल के फूल*, *बात यह नहीं* तथा *गौरू का लैपटॉप* और *गोर्की की भैंस* नामक कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। उनकी दो कहानियों, 'दो बहनें' तथा 'कसाई' पर फ़िल्मों का निर्माण भी हो चुका है। चरण सिंह पथिक की कहानियां लोक कथाओं के ढांचे से सुसज्जित सहज ग्रामीण बोध की कहानियां हैं। लेकिन इस ग्रामीण बोध में गांव और वहां के समाज का कोई गौरव-गान नहीं है। बल्कि यहां एक तरफ़ नाते-रिश्तों की राजनीति, आरक्षण के नाम पर निरादर और समुदायों की टकराहट है तो दूसरी तरफ़ सहज ईर्ष्या, प्रेम, वैमनस्य, हिंसा, लालसा आदि से सुसज्जित संसार है। कह सकते हैं कि प्रेमचंद की तरह ही यह इनसाइडर की लिखी हुई कहानियां हैं, किसी आउटसाइडर की नहीं। लेकिन चरणसिंह पथिक का गांव प्रेमचंद वाला गांव नहीं है। यह नया गांव है जिसमें परंपरागत रूप से फिरनेवाली के रूप में

रुदालियों की एक दुनिया है, तो दूसरी तरफ़ जाति और लिंग आधारित संरचना के वर्चस्व की दुनिया है और तीसरी तरफ़ नये तरह के जातीय समीकरण, जिसमें आरक्षण के नाम पर जातीय टकराव हैं और अधिकार और सम्मान की लड़ाई के नाम पर हिंसा का शासन है। 'मूंछें' कहानी में इसी तरह की आरक्षण की राजनीति और उस राजनीति के नाम पर होने वाली हिंसा को देखा जा सकता है। गूजर एस.टी.वर्ग में आरक्षण की मांग कर रहे थे और मीणा अपने कोटे के आरक्षण को किसी क़ीमत पर बांटने को तैयार नहीं थे। लेकिन इस जातीय टकराहट का ख़ामियाज़ा रामराज जैसे निरीह व्यक्ति को चुकाना पड़ता है। गूजर उसे मीणा समझ और मीणा उसे गूजर समझ हिंसा और लूटपाट करते हैं। दरअसल, इस तरह के जातीय समूहों के लिए आरक्षण समान अधिकारों का संघर्ष नहीं बल्कि फ़ायदे और सुविधाओं के बंटवारे की लड़ाई है । इसीलिए सामाजिक रूप से अपने से कमतर जाति समूहों के लिए अपमान और वितृष्णा का भाव, 'चमारों के पुरखे भी कभी गये हैं फ़ौज में...' जैसी भाषा में देखा जा सकता है। इसी प्रकार 'मुर्ग़ा' कहानी में भ्रष्ट अफ़सर तक मास्टर गंगा राम को जाति के आधार पर अपमानित करने से परहेज़ नहीं करता - 'एससी/एसटी वालों ने हर डिपार्टमेंट की बैंड बजा रखी है। रिज़र्वेशन से नौकरी मिल जाती है। काम के नाम पर गुलसप्पा। कुछ कहो तो एससी की धमकी देते हैं'। भ्रष्ट अफ़सर ही नहीं, यदि दलित भी इस भ्रष्ट व्यवस्था का अंग बन शोषण और अन्याय करते हैं तो चरण सिंह पथिक पॉलटिक्ली करेक्ट होने के चक्रव्यूह में फंसे बिना उसकी ('मुर्ग़ा' कहानी में फूलबाबू के रूप में) आलोचना करते भी दिखायी देते हैं। राजनीति और धर्म के शासन से संचालित क्रूर और अमानवीय छल प्रपंच, आस्था के नाम पर स्त्री शरीर को मिल्कियत मानने वाले समाज की अनेक परतें चरण सिंह पथिक की कहानियों में देखी जा सकती हैं। इस सदर्भ में उनकी कहानी, 'कसाई' को विशेष रूप से देखा जा सकता है जहां ताक़त की लालसा और राजनीति की चालें न सिर्फ़ रक्त संबंधों की हत्या का कारण बनती हैं, बल्कि धर्म और आस्था का आडंबर उस ग्रामीण समाज में 'कसाई' को एक अमूर्त रूप में बदल दोषियों को आजीवन मुक्त विचरने का मौक़ा भी दे देता है। धर्म और राजनीति का यह संबंध समाज में ताक़त की संरचना सदैव बनाये रखने में सदियों से अहम भूमिका निभाता है। इस तरह की संरचना गांव और शहर दोनों में देखी जा सकती है। चरण सिंह पथिक का तो मानना है कि यह सब पहले गांव से शहर में गया है। अपने एक साक्षात्कार में वे कहते हैं, 'सारी चर्चा, राजनीति, राजनीतिक दांव, प्रचार...ये सब गांवों में पहले होते हैं, केंद्र में बाद में पहुंचते हैं। राजनीति की शुरुआत गांव में ही होती है गांव से दिल्ली राजनीति का एक ही फार्मेट है।'

चरण सिंह पथिक की सर्वाधिक चर्चित और प्रसिद्ध कहानियां वे हैं जिन्हें उन्होंने लोककथा शिल्प में लिखा है। लेकिन लोककथा का यह ढांचा इतिहास और वर्तमान की शोषणकारी, अमानवीय सत्ताओं की संरचनाओं को छिपाने या ढांकने का काम नहीं करता बल्कि उन संरचनाओं को अधिक प्रभावी ढंग से उघाड़ने का काम करता है। इसीलिए कहानी, 'कैसे उड़े चिड़िया' में चिड़ा और चिड़ी के प्रसंग के माध्यम से स्त्रीजीवन के सदियों के संताप और पितृसत्ता के समक्ष पराजित होने के दर्द को देखा जा सकता है। इसी प्रकार 'पीपल के फूल' कहानी में विकास की अवधारण और मानव और प्रकृति के संबंधों को नये रूप में देखा जा सकता है। दरअसल, चरण सिंह पथिक का रचना संसार हिंसा और क्रूरताओं के अमानवीय साम्राज्य की विभिन्न परतों से रचा साहित्य है जो पाठक को किसी निष्कर्ष पर नहीं ले जाता, बल्कि अपने आसपास घटित होने वाली रोज़मर्रा की स्थानीय ग्रामीण घटनाओं और स्थितियों को कथा की संरचना में बुन कर पाठकों के सामने रख देता है। इसलिए इन कहानियों में राजनीतिक रूप से सही होने या न होने की कोई जद्दोजहद भी नज़र नहीं आती है।

चरण सिंह पथिक के विपरीत हरियश राय का लेखन शहरी मध्यमवर्गीय जीवन पर केंद्रित है जिसमें 1990 के बाद के सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक बदलावों को कहानी के ढांचे में अभिव्यक्त करने की कोशिश की गयी है। वे मानते हैं कि यही वे ताक़तें हैं जो समाज तथा जीवन को संचालित भी करती हैं और

सर्वाधिक प्रभावित भी करती हैं। अपने छठे कहानी संग्रह, *किस मुकाम तक* की भूमिका में वे लिखते हैं, 'मेरे लिए कहानी घटनाओं या सदंर्भों का सिलसिला नहीं है, बल्कि घटनाओं और सदंर्भों के मूल में जीवन को संचालित करने वाली जो ताक़तें हैं, उन ताक़तों की सोच और व्यवहार से बदलते समय को सामने लाना है अपने सरोकारों के साथ, अपनी सोच के साथ और अपनी विविधता के साथ...।' बदलाव के इस दौर ने मानवीय संबंधों और सांस्कृतिक मूल्यों को सर्वाधिक बदल दिया है। सांस्कृतिक मूल्यों का बदलाव असमानता के समाज की संरचना करता है। यह असमानता चाहे लिंग आधारित हो या फिर धार्मिक आधार पर हो। *किस मुकाम तक* संग्रह की कहानियां इसी असमानता को उद्घाटित करती कहानियां हैं। इन कहानियों के पात्र अपने भीतर इन असमानताओं से लड़ते हुए इनसे मुक्त होने की कोशिश करते नज़र आते हैं। चाहे 'चीलें' कहानी की प्राची सोनकर हो या 'उन्हें बाघ खा जाये' की देवयानी । दोनों अपनी अपनी परिस्थितयों और अनुभवों के अनुरूप अपनी मुक्ति का मार्ग तलाशने की कोशिश करती हैं। एक विवाह न करने का निर्णय करके अपने अस्तित्व को पितृसत्तात्मक चीलों से बचाने का निर्णय लेती है और दूसरी पारिवारिक दायित्वों के बोझ (जिसमें पिता की देखभाल भी शामिल है) से मुक्त हो विवाह करने के निर्णय में मुक्ति का अर्थ तलाशती है । दो अलग अलग कहानियां और दो बिलकुल विपरीत स्थितियां लेकिन दोनों जगह अपने डरों, दबाबों, कुंठाओं, उलझनों और समाज द्वारा गढ़ी परिभाषाओं से मुक्त हो निर्णय तक पहुंचने की जद्दोजहद। मुक्ति की परिभाषा और मुक्त होने की प्रक्रिया दोनों कहानियों में अलग अलग है। इन कहानियों के स्त्री चरित्रों की अनिर्णय से निर्णय तक पहुंचने की यात्रा '80 के दशक के स्त्री चरित्रों की याद दिलाती है, लेकिन यह देखना दिलचस्प होगा कि संसाधनों, सुविधाओं और उच्च शिक्षा के अवसर होने के बावजूद मध्यवर्गीय समाज की नैतिकता का ढांचा अभी तक नहीं बदला। इसलिए अपने भीतर संघर्ष करती स्त्री आज भी कहानियों में देखी जा सकती है।

नवें दशक के बाद धर्म, राजनीति और बाज़ार के मेल से एक नये प्रकार के समाज का निर्माण हुआ। समाज और राजनीति में बहुसंख्यकवाद के वर्चस्व का एक नया आख्यान पैदा हुआ जिसने समाज में संकीर्णतावाद और हिंसक प्रवृतियों को बढ़ावा दिया। इस संकीर्ण मनस्थिति को हरियश राय ने 'इससे बेहतर ही' तथा 'आसिया नूरी गुमसुम' है जैसी कहानियों में उभारा है। 'इससे बेहतर ही' कहानी के डॉ. अंबिका प्रसाद इसलिए बैचेन हैं क्योंकि सोसाइटी के नियमों के विरुद्ध जा कर राजनीति और बहुसंख्यकों के हक़ में मंदिर का निर्माण हो रहा है। वहीं दूसरी तरफ़ 'आसिया नूरी गुमसुम है' की आसिया जो ताउम्र समाज द्वारा निर्मित मुस्लिम गढ़ंत से बचने की कोशिश करती रही, अंतत: उसी में संकुचित होने के लिए विवश की जाती है। राजनीतिक वर्चस्व और उसकी विचारधारा धीरे धीरे संस्थानों के संवैधानिक और सेक्युलर ढांचे को बदलती जा रही है। इसे 'आसिया नूरी गुमसुम है' कहानी में डॉ. अमृत लाल वाचस्पति के आने के बाद के बदलाव के रूप में देखा जा सकता है। उनके आने के बाद 'संस्थान के कार्य मुहूर्त देखकर किये जाने लगे, संस्थान मे आये दिन हवन होने लगे । शाम को योग की क्लासें होने लगीं'। ये बदलाव आज धीरे धीरे किस दिशा में जा रहे हैं इसे कहने की आवश्यकता नहीं। आसिया नूरी जैसे न जाने कितने लोगों को इस इन संकीर्णताओं का ख़ामियाज़ा भुगतना पड़ता है।

हरियश राय की कहानियां वैचारिक प्रतिबद्धता की कहानियां हैं। कहानी को जटिल बौद्धिक ढांचे में अनावश्यक रूप से ढालने की कोशिश वे नहीं करते क्योंकि अपने समय की जटिलताओं को केंद्र में लाना ही उनका मुख्य सरोकार है। इसलिए इन कहानियों में शिल्प की अपेक्षा अंतर्वस्तु पर अधिक बल रहता है और इसी को वे रचना के प्रभावशाली होने का कारण भी मानते हैं। संग्रह की भूमिका में वे इस सदंर्भ में लिखते हैं, 'मेरी कोशिश रहती है कि मैं अपनी इन कहानियों में जीवन के गहरे आवेगों और मनोवेगों को पकड़ सकूं और यथास्थिति बनाये रखने वाली शक्तियों और समाज को आगे ले जाने वाली ताक़तों के बीच के अंतर्विरोध को रेखांकित कर सकूं। मेरा

मानना है कि कहानियां ऐसी होनी चाहिए जो हमारी अनुभूतियों को अधिक संवेदनशील बनायें, हमारी समझ के दायरे को विस्तृत करें। मैं तर्क और विचार के आधार पर कहानी लिखने के पक्ष में नहीं हूं। तर्क और विचार कहानी में समाहित होकर आये, तभी रचना प्रभावशाली है।'

मो. 9868892723

पुस्तक संदर्भ

1. *बदलता हुआ देश* : मनोज कुमार पांडेय, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2020
2. *गौसेवक* :अनिल यादव, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली2020
3. *दो बहनें* : चरण सिंह पथिक, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2020
4. *किस मुकाम तक* : हरियश राय, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, 2019

दलित विमर्श संबंधित कुछ पुस्तकों पर चर्चा

चंचल चौहान

मैंने 1980 में एक दलित मज़दूर रामदीन पर कविता लिखी थी, जो 1982 में प्रकाशित मेरे कविता-संकलन, *खोलो बंद झरोखे* में संकलित है, तब हिंदी में दलित साहित्य की अलग से गहन चर्चा शुरू नहीं हुई थी। जब डा. धर्मवीर की पुस्तक, *कबीर के आलोचक* पढ़ी तो लगा कि यह नयी दृष्टि है साहित्य के भीतर के सत्य को देखने समझने की। उस किताब का एक संक्षिप्त रिव्यू दै*निक हिंदुस्तान* के लिए लिखा, उस पुस्तक पर जनवादी लेखक संघ के कार्यालय में एक अंतरंग गोष्ठी आयोजित की जिसमें डा. धर्मवीर ने शिरकत की। उसी से प्रेरित हो कर पिछली सदी के अंत में एक लेख, 'दलित साहित्य : विवादों के घेरे' लिखा था, अपने प्रिय मित्र मुद्राराक्षस के आग्रह पर। वह *कथाक्रम* में प्रकाशित हुआ, सन् 1999 के आसपास, मगर वह अंक मुझसे खो गया, इसलिए सही संदर्भ दे पाना मुश्किल है। लेख की पांडुलिपि मेरे पास बची हुई है। उस लेख में मैंने अपना पर्सपेक्टिव रखा था, बहस के केंद्र में नामवर सिंह, दूधनाथ सिंह और परमानंद श्रीवास्तव के बहसतलब विचार थे जो उन्होंने राजेश जोशी के संपादन में भोपाल से प्रकाशित *नया पथ*-26 (जनवरी 1998) के अंक में साक्षात्कार के रूप में रखे थे। पिछले साल बजरंग बिहारी तिवारी के आग्रह पर एक टिप्पणी, 'हिंदी दलित साहित्य : वर्तमान की चुनौतियां और भविष्य की आहट' शीर्षक से *कथादेश* के लिए लिखी, जो सितंबर 2019 के *कथादेश* के दलित विशेषांक में छपी। यह 'आपन चरित कहा मैं गाई', इसलिए कि दलित लेखन के प्रति मेरा एक अलग पर्सपेक्टिव रहा है, उसी के तहत कुछ पुस्तकों को लेकर यहां चर्चा करने की हिमाकत कर रहा हूं।

जब मराठी में दलित आंदोलन की प्रबलता से प्रेरित होकर दलित रचनाएं गुण और मात्रा में खूब आने लगीं तो दलित लेखकों में उन पर आलोचकीय टिप्पणी देखने की लालसा भी पैदा हुई, यह स्वाभाविक ही था क्योंकि सवर्ण लेखकों के लेखन पर आलोचकीय सौंदर्यशास्त्रीय विमर्श तो खूब उपलब्ध था, सदियों से, संस्कृत के युग से तमाम सिद्धांत सवर्णों को मिले हुए थे, फिर पश्चिम के सौंदर्यशास्त्रीय विमर्श भारतीय साहित्य पर हावी होने लगे तो उनका इस्तेमाल भी सवर्णों के लेखन ने ही किया, दलित लेखन इस सौंदर्यशास्त्रीय विमर्श में कहीं नहीं था। इस पीड़ा से परिचालित हो कर दलित रचनाकारों और चिंतकों ने खुद ही दलित साहित्य के लिए सौंदर्यशास्त्र रचने की पहल की। इसी सोच के फलस्वरूप शरणकुमार लिंबाले ने एक पुस्तक लिखी, *दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र*। रमणिका गुप्ता ने इसे हिंदी में अनूदित करके सन् 2000 में वाणी प्रकाशन से छपवा दिया। हिंदी में यही लालसा ओमप्रकाश वाल्मीकि में जाग्रत हुई, तो उन्होंने भी इसी नाम से एक पुस्तक लिखी जो 2001 में राधाकृष्ण प्रकाशन से छपी।

दोनों ही लेखक बेहद सजग अध्येता और विचारक रहे हैं, दोनों ने ही विभिन्न दलित और ग़ैरदलित आलोचकों के उद्धरण देते हुए अपनी अपनी शैली में दलित साहित्य का पक्ष रखा है, लेकिन ऐसा कुछ भी नया सौंदर्यशास्त्र निर्मित होता नहीं दिखायी दिया जिससे दलित साहित्य का भाष्य करने में मदद मिल सके। हिंदी दलित साहित्य के मुक़ाबले मराठी दलित साहित्य कहीं अधिक प्रौढ़ माना जाता है, इसलिए पहले मैं अपनी धारणा को

स्पष्ट करने के लिए शरणकुमार लिंबाले के सौंदर्यशास्त्र के, उन्हीं के द्वारा पेश, सारतत्व को यहां देना चाहता हूं। उन्होंने लिखा :

> दलित साहित्य के मूल्यांकन के लिए निम्नलिखित कसौटियां निश्चित की जा सकती हैं :
> (1) कलाकार को अपने अनुभव के साथ ईमानदार होना चाहिए।
> (2) कलाकारों के अनुभवों का सार्वजनीकरण होना चाहिए।
> (3) कलाकार के अनुभव में प्रदेश की सीमा पार करने की शक्ति होनी चाहिए।
> (4) कलाकार का अनुभव किसी भी काल में ताज़ा लगना चाहिए।
>
> (*दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र*, पृ. 21)

यहां 'कलाकारों' से उनका आशय 'लेखकों' से है, संगीतकारों या फ़िल्म और रंगमंच के अभिनेताओं पर या चित्रकला पर ये कसौटियां लागू नहीं होतीं। अपने सौंदर्यशास्त्र को उक्त चार सूत्रों में बांध कर शरणकुमार लिंबाले अंत में 'सवर्ण' समीक्षकों से अपना पथ अलग बताते हुए कहते हैं, कि 'अपना पथ अलग है। अपनी दिशा अलग है। तब अपने पथ पर चलना और अपनी दिशा की खोज करना इसमें ही अपनी सभी शक्ति ख़र्च करनी चाहिए'। (वही) विचारधारा के स्तर पर लिंबाले जी आंबेडकर और मार्क्स के समन्वय के हामी हैं। सही ऐतिहासिक समझ तो यही है कि 'मुक्ति कभी अकेले में नहीं मिलती/ यदि वह है तो सबके साथ है।' (मुक्तिबोध)

उक्त चार सूत्रीय सौंदर्यशास्त्रीय कसौटियों पर बारीक़ी से ग़ौर करें तो यह समझने में देर नहीं लगेगी कि ये कसौटियां उसी समीक्षा-चिंतन की प्रतिबिंब है जिसे वे 'सवर्ण' समीक्षा कहते हैं। पहली कसौटी अनुभव की ईमानदारी है, इसे हमारे आधुनिकतावादी दौर में सभी ग़ैरदलित लेखकों ने 'अनुभूति की प्रामाणिकता' कह कर पेश किया था, महान मार्क्सवादी चिंतक एंगेल्स ने जो मार्क्स के सहयोगी सहचर थे और जन्मना उच्च वर्ग के थे इस 'ईमानदारी' की कसौटी का उल्लेख मिन्ना काउत्स्की को 25 नवंबर 1885 को लिखे एक पत्र में किया था, जो उन्होंने अपने समय व अपने देश में लिखे जा रहे दलित सर्वहारा उपन्यास पढ़ने के बाद लिखा था। एक दूसरे पत्र में भी जो मिस हार्कनैस को अप्रैल 1888 में लिखा था, ईमानदार चित्रण को यथार्थवादी रचना के लिए एक कसौटी के रूप में पेश किया था। हिंदी के महान मार्क्सवादी कवि चिंतक मुक्तिबोध ने भी जो जन्मना मराठी ब्राह्मण थे अपने सौंदर्यशास्त्रीय लेखन में 'ईमानदारी' की इस कसौटी पर बहुत विस्तार से लिखा, उनकी *रचनावली* के खंड-4 में उनके पांच लेख इसी कसौटी पर हैं, 'घृणा की ईमानदारी','कलाकार की व्यक्तिगत ईमानदारी'(तीन लेखों की सीरीज़), 'व्यक्तिगत ईमानदारी और कला'। इनमें से पहला लेख हर दलित लेखक को ज़रूर पढ़ना चाहिए क्योंकि दलित लेखन में 'घृणा' एक कलात्मक मूल्य है, यह सवर्णों की सदियों की घृणा का प्रतिशोध है जिसे मूल्य के रूप में पहली बार दलित साहित्य ने रचा है, यह आश्चर्य की बात है कि इसे अपने सौंदर्यशास्त्रीय चिंतन में न शरणकुमार लिंबाले ने शामिल किया न ओमप्रकाश वाल्मीकि ने, (इसलिए फिलहाल इस अंतर्दृष्टि पर मेरा कापीराइट समझा जाये।)

शरणकुमार लिंबाले की 'सार्वजनीकरण' नामक दूसरी कसौटी को भी बारीक़ी से देखें तो साहित्य का कोई भी सजग पाठक समझ जायेगा कि यह सवर्ण काव्यशास्त्र के रस-सिद्धांत का 'साधारणीकरण' ही है जिसे लिंबाले जी ने अपने शब्दों में कसौटी बनाकर पेश किया है, पाश्चात्य काव्यशास्त्र में अरस्तू के 'विरेचन सिद्धांत' से हमारे हिंदी प्राध्यापकों ने इसे पुष्ट किया है, मार्क्सवादी चिंतकों ने 'यथार्थवाद' की बहसों में इसे शामिल किया है, सवर्णों के महापूज्य कवि तुलसीदास भी 'सुरसरि सम सब कहं हित होई' यानी 'सार्वजनीकरण' को रचना की कसौटी मानते थे। इससे यह स्पष्ट है कि शरणकुमार लिंबाले की कसौटियां घूमफिर कर भारतीय और पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र से ही निकल कर आ रही हैं, कोई मौलिक शोध नहीं हो पाया है। ओमप्रकाश वाल्मीकि तो अपनी किताब में, भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही कसौटियों को ख़ारिज करते हैं : 'हिंदी साहित्य का सौंदर्यशास्त्र संस्कृत

और पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र पर आधारित है। इसलिए उसकी कसौटियां दलित साहित्य के मूल्यांकन में अक्षम साबित होती हैं।' (पृ. 45) मगर शरणकुमार लिंबाले उसी सौंदर्यशास्त्र की साधारणीकरण की कसौटी को अपना रहे हैं।

लिंबाले जी की तीसरी और चौथी कसौटी को एक साथ इस तरह कहा जा सकता है कि दलित साहित्य को 'देश-काल' को अतिक्रमित करना चाहिए। यह कसौटी हर महान साहित्य पर लागू होती रही है। यह एक पहेली भी है, मार्क्स के सामने भी यह पहेली थी कि क्यों हमें मानव सभ्यता के बचपन में रचे गये ग्रीक साहित्य और सदियों पहले के अनेक देशकालों में रचे गये साहित्यिक ग्रंथ आज भी मोहते हैं, सामाजिक व्यवस्थाओं के बदल जाने पर सौंदर्य के पैमाने, हमारे आचारविचार, हमारे नियम क़ानून और हमारी सोच में आमूलचूल परिवर्तन आने के बावजूद हम पुराने देशकाल की रचनाओं को पढ़ते और सराहते हैं। इसी अनुभव से यह कसौटी बनी है कि महान साहित्य वह होता है जो अपने देशकाल का अतिक्रमण करता है। लेकिन यह कसौटी तो सर्वसमावेशी हुई, दलित साहित्य के लिए यह सवर्णों वाली कसौटी ही तो लिंबाले जी सुझा रहे हैं। इससे यह निष्कर्ष निकालना क्या ग़लत होगा कि मराठी दलित साहित्य के सामने अभी भी एक वैचारिक चुनौती बनी हुई है कि उस साहित्य का आलोचनाशास्त्र क्या हो जो पारंपरिक सवर्ण आलोचनाशास्त्र से भिन्न हो और जो किसी दलित चिंतक लेखक द्वारा रचित हो क्योंकि किसी ग़ैरदलित द्वारा रचा गया आलोचनाशास्त्र उस संवेदना की तह तक पहुंच ही कैसे पायेगा? कहीं ऐसा तो नहीं कि आलोचना के अलग 'टूल्स' तलाश करने की ज़िद ही मिथ्याचेतना पर टिकी हो जबकि जीवन व्यवहार में प्रयोग में आने वाले 'टूल्स' इस तरह की 'दलित' और 'सवर्ण' कोटि में नहीं बंटे हैं, रोज़मर्रा की भाषिक संरचनाएं और बोली बानी भी 'दलित' और 'सवर्ण' कोटि में नहीं बंटी हैं। मुझे लगता है कि इसीलिए अलग से एक नयी कोटि की खोज संभव नहीं हो पा रही, क्योंकि दलित मध्यवर्ग की शिक्षा दीक्षा भी उन्हीं स्रोतों से हुई जिनसे 'सवर्ण' लेखकों की। इसलिए चिंतन की उसी सीमा के भीतर कुछ नया खोजने की कोशिश दलित लेखक करते हुए दिखायी देते हैं।

हिंदी दलित साहित्य के लिए सौंदर्यशास्त्र की रचना की कोशिश मरहूम ओमप्रकाश वाल्मीकि ने की, वे भी बहुपठित विद्वान और प्रतिभाशाली दलित लेखक थे, उनकी पुस्तक का नाम भी वही है, *दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र* जो उनकी प्रतिभा का प्रमाण है। उनकी किताब का एक ही अध्याय जो किताब के शीर्षक को जस्टीफ़ाइ करता है बहुत संक्षेप में दलित साहित्य को जांचने परखने के लिए कसौटियां निर्धारित करता है। मगर अफ़सोस, वे कसौटियां भी नयी और अलग नहीं हैं। मुख्यरूप में वे कसौटियां दुनिया भर के जनवादी आलोचकों द्वारा 'रूपवाद' के खिलाफ़ किये गये संघर्ष का सारसंक्षेप हैं, सिर्फ़ शब्द नये कर दिये हैं, मसलन अंग्रेज़ी के 'कंटेंट' को 'आशय' और 'फ़ार्म' को 'आकार' नाम दे दिया है :

> दलित साहित्य के सौंदर्यशास्त्र पर विचार करने के लिए किसी भी कृति के 'आकार' और 'आशय' को दृष्टि में रखना होगा। जिस 'रूप' को हम देखते हैं वह उस कृति का 'आकार' होता है। 'आकार' में जो सारतत्व या सारत्व बोध विद्यमान होता है, वह 'आशय' कहलाता है। हिंदी साहित्य हो या संस्कृत साहित्य, वह आकृतिनिष्ठ ही है। वहां आकार की प्रधानता है। शब्द की रमणीयता समीक्षकों के लिए बौद्धिक विलास का काम करती है।' (पृ. 49)

इस सिद्धांत निरूपण के बाद वे भी जनवादियों की तरह रूपवाद का खंडन करते हैं और उसी तरह कंटेंट को प्रमुखता देते हैं। मराठी लेखक डा. म. न. वानखेड़े का जो उद्धरण वे देते हैं, वह इसी की पुष्टि करता है। इस तरह ओमप्रकाश वाल्मीकि मुख्यतया मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र की अवधारणाओं को अपनाते हैं, सुंदरता वस्तु में है या देखने वाले की नज़र में, यानी वह विषयगत है या विषयीगत। ओमप्रकाश जी सही ही इस सौंदर्यशास्त्रीय बहस में भौतिकवादी पक्ष

लेते हैं। लेकिन उनका यथार्थवादी सौंदर्यशास्त्र मौलिक नहीं है, सदियों से चले आ रहे वर्गसंघर्ष में जो सौंदर्यशास्त्रीय मान्यताएं और धारणाएं भौतिकवादियों ने हमें विरसे के तौर पर दी हैं, वे ही उन्होंने पेश कर दी हैं, वे सारे साहित्य की व्याख्या में इस्तेमाल की जा रही हैं, दलित साहित्य के लिए अलग से कोई सौंदर्यशास्त्र नहीं बन पाया है। यह आकस्मिक नहीं है कि ओमप्रकाश वाल्मीकि के इस अध्याय का समापन जन्मना ब्राह्मण, एक मार्क्सवादी आलोचक मैनेजर पांडेय के उद्धरण से होता है और अपने विचार की पुष्टि के लिए।

'दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र' से संबंधित उक्त दो स्वतंत्र पुस्तकों के अलावा एक पुस्तक और देखने का मौक़ा मिला, यह पुस्तक है आर. डी. आनंद की, *दलित साहित्य का नया सौंदर्यशास्त्र* (परिकल्पना, 2019)। इसी विषय पर संपादित पुस्तकों में से दो और देखने को मिलीं:

1.*दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र*. सं. डा. मुन्ना तिवारी (भारती, 2013)

2. *अस्मितामूलक साहित्य का सौंदर्यशास्त्र*, सं. डा. कर्मानंद आर्य (The Marginalised Publication, 2018)

ये संपादित पुस्तकें मुख्य रूप से दलित साहित्य पर आयोजित करवाये गये सेमिनारों में पेश किये गये आलेखों पर आधारित हैं और एकेडेमिक नज़रिये से तैयार की गयी हैं। बंधे बंधाये ढांचे में ये लेख ज़्यादातर दलित साहित्य या अस्मितामूलक साहित्य में निहित आक्रोश व अन्य भावों की अभिव्यक्ति की व्याख्या भर करते हैं। इसी तरह दूसरी पुस्तकें भी दलित साहित्य पर केंद्रित एक साहित्यशास्त्र रचने की बालसुलभ कोशिशें हैं, उनमें किसी नये सौंदर्यशास्त्र की रचना नहीं, जैसा कि ठीक ही बजरंगबिहारी तिवारी ने आर. डी. आनंद की पुस्तक की भूमिका में कहा है कि 'मेरे ख़याल से इस किताब को सौंदर्यशास्त्र से ज़्यादा आलोचनाशास्त्र की किताब मानना उचित है।' (पृ. 7) डा. मुन्ना तिवारी ने भी अपनी संपादकीय भूमिका में स्पष्ट लिखा हे, 'यह पुस्तक दलित सौंदर्यशास्त्र बनाने का दावा नहीं करती'...। लेकिन इन कोशिशों का भी एक महत्व है। इन तमाम लेखों से पता लगता है कि दलित और सवर्ण लेखकों की एक भारी तादाद इन कोशिशों में शामिल है जिसके लिए दलित साहित्य मानो एक चुनौती है जिसके भाष्य के लिए एक नये आलोचनाशास्त्र का आविष्कार करना है, कमोबेश यह आकुल इच्छा शरणकुमार लिंबाले से ले कर आर. डी. आनंद तक के रचनाकर्म में झलकती है। शरणकुमार लिंबाले अपनी पुस्तक का अंत जिन वाक्यों में करते हैं, उनमें सवर्णों के आलोचनाशास्त्र से अलग रास्ते की खोज की वही इच्छा निहित हैः 'अपना पथ अलग है। अपनी दिशा अलग है। तब अपने पथ पर चलना और अपनी दिशा की खोज करना, इसमें ही अपनी शक्ति ख़र्च करनी चाहिए'। (पृ.121)

डा.आर. डी. आनंद इससे आगे जाकर सिर्फ़ साहित्यशास्त्र की अलग दिशा की खोज तक खुद को सीमित नहीं रखते, वे इस खोज को सामाजिक बदलाव यानी क्रांति की दिशा की खोज तक ले जाते हैं, जो कि वैज्ञानिक रूप में सही भी है, उसी से सौंदर्यशास्त्र भी बदलेगा। वे मौजूदा व्यवस्था की जांच परख करके उसके शोषणपरक चरित्र को बेलाग तरीक़े से पेश करते हैं और क्रांति के लिए आंबेडकर के विचारों और मार्क्स के विचारों से लैस दलितों और ग़ैरदलित शोषितों की एकजुटता का स्वप्न संजोते हैं, इस तरह वे एक दिशा की खोज करते हैं जो आलोचनाशास्त्र में भी बदलाव लायेगी।

यहां यह समझना ज़रूरी है कि सारे दलित लेखकों की तरह ही डा. आर. डी. आनंद अपने जन्मना वर्ण को अतिक्रमित करके एक आधुनिक आर्थिक कैटेगरी के हिसाब से 'निम्नमध्यवर्ग' में रूपांतरित हो गये हैं। इसलिए उसी वर्ग की उस विचारधारा को भी आत्मसात कर बैठे हैं जिसे 'सर्वनिषेधवाद' कहा जाता है जो साठोत्तरी दौर में अकविता की 'एंग्री यंग जेनरेशन' में उपजा था। अंतर इतना है कि डा. आनंद की घोषित प्रतिबद्धता 'सर्वहारा' व 'दलित' के प्रति है और इस शोषणपरक सामाजिक व्यवस्था से मुक्ति ही उनका स्वप्न है। अकविता के दौर में यह प्रतिबद्धता नदारद थी। डा. आनंद में इसीलिए एक अंतर्विरोध है। व्यवस्था से मुक्ति के लिए, एक वैज्ञानिक सोच

लिये हुए वे सारे दलितों, वंचितों और शोषितों की विशाल एकता के पक्षधर हैं। वे लिखते हैं:

> जाति व्यवस्था आमने सामने की लड़ाई नहीं है। यह एक व्यवस्था है। उस व्यवस्था के आधार को तोड़ना होगा। आधार को तोड़ने के लिए सभी जातियों के प्रगतिशील और क्रांतिकारी साथियों को साथ लेना होगा। यदि दलित अकेला रहता है और विद्वेष से काम लेता है तो कमज़ोर होता जायेगा। (पृ. 247)

वे यह भी सलाह देते हैं कि '...गुस्साया मत करो। हमें दोस्ती करनी सीखनी होगी'। यह सही सोच है। लेकिन पुस्तक का अंत पूरी तरह गुस्साये हुए सर्वनिषेधवादी एंग्री यंगमैन की विचारधारा से होता है जो आंबेडकर से ले कर उनके रचे संविधान को, संसद को, सारे कम्युनिस्टों व पार्टियों को पीटता जाता है। मुझे लगता है कि उन पर उस उग्रवादी कम्युनिज़्म की वह चेतना हावी है जो निम्नमध्यवर्गीय वामचेतना मानी जाती है जिसे लेनिन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में 'बचकाना मर्ज़' कहा था और जिसकी वैचारिक गिरफ़्त में अनेक खेमों में बंटे नक्सली ग्रुप हमारे यहां हैं।

सच्चाई तो यह है कि मौजूदा समाज के वर्गविभाजन और वर्णविभाजन को समझते हुए समाज के विकास की अगली मंज़िल का निर्धारण करना होता है और उस मंज़िल को हासिल करने के लिए दोस्त वर्गों की व्यापक एकता बनाने का श्रमसाध्य प्रयत्न करना होता है, संसद के भीतर, संसद से बाहर, सभी सामाजिक क्षेत्रों में, हर गली, नुक्कड़ पर, सभी संरचनाओं में, और साहित्य व सौंदर्यशास्त्र व ज्ञान के सभी भागों विभागों में भी यह संघर्ष चलता है, बक़ौल कबीर, 'सार सार को गहि रहै, थोथा देय उड़ाय।' किताब के अंत में गुस्साये डा. आनंद सलाह देते हैं कि 'छद्म' आंबेडकरवादियों से और 'छद्म' मार्क्सवादियों से बच कर रहो, मगर यह नहीं बताते कि एक एक व्यक्ति की परख करने और फिर 'सच्चे' होने का प्रमाणपत्र कौन देगा? वे यहां तक कहते हैं कि 'कम्युनिस्ट्स के घरों में जाकर देखो कि वह सर्वहारा संस्कृति को जीता है कि नहीं, उसके बच्चे कम्युनिस्ट चरित्र हासिल किये कि नहीं।...' क्या आनंद जी के पास इतनी बड़ी इंस्पेक्शन टीम है कि वह इस देश के सारे कम्युनिस्टों के घर में ज़बरन घुस कर उनके आदेश को अमली जामा पहना सके!! व्यक्ति व्यक्ति पर आधारित नज़र से तो अपने अलावा सारे ही दोषी पाये जा सकते हैं, सर्वशुद्ध तो सोना, चांदी, लोहा आदि धातुएं भी नहीं होतीं तो आदमी की क्या बिसात, फिर ऐसा पारखी कहां से लायेंगे जो सभी इंसानों को और सभी धातुओं की शुद्धता तय करे!! डा. आनंद अपनी पुस्तक का अंत इसी तरह की नसीहत से करते हैं:

> मार्क्सवाद को हमें छद्म लोगों से सीखने की ज़रूरत नहीं है। मार्क्सवाद उन पंडे-पुजारियों की ज़रूरत नहीं है। मार्क्सवाद बेहूदे लोगों की ज़रूरत नहीं है। मार्क्सवाद की ज़रूरत ग़रीबों, मज़लूमों, दलितों व शोषितों की ज़रूरत है; इसलिए मार्क्सवाद के लिए हमें किसी का इंतज़ार नहीं करना चाहिए। मार्क्सवाद आंबेडरकरवाद की ज़रूरत है। छद्म मार्क्सवादियों से लड़कर मार्क्सवाद को मुक्त कराओ, क्योंकि मार्क्सवाद ही आंबेडकरवादियों को शोषण से मुक्त करा सकने में सक्षम है।

यहां आह्वान लोगों को छेंकने का है जबकि पृ. 247 पर गुस्सा न करने की और सबको साथ लेने की, दोस्त बनाने की अपील थी। गुस्से में किताब का अंत करने से भाषा भी 'ज़रूरत' से ज़्यादा गड़बड़ा गयी! सौंदर्यशास्त्र की खोज भी ग़ायब हो गयी।

इस विषय पर दो संपादित पुस्तकों का भी उल्लेख मैंने ऊपर किया है, एक डा. मुन्ना तिवारी द्वारा संपादित, *दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र*, दूसरा, डा. कर्मानंद आर्य के संपादन में, *अस्मितामूलक साहित्य का सौंदर्यशास्त्र*। जैसाकि मैंने ऊपर बताया है, दोनों संकलनों में इसी विषय पर आयोजित सेमिनारों में पेश किये गये लेखों को एक जगह पुस्तक रूप में प्रकाशित करा लिया गया है। दोनों में ही अकादमिक क़िस्म के आलेख हैं, किसी वैचारिकी की खोज का प्रयास नहीं है। कर्मानंद आर्य की पुस्तक में दलित, आदिवासी, स्त्री और अन्य अस्मितामूलक विमर्शों जैसे ट्रांसजैंडर तक को शामिल किया गया है और इसमें शामिल लेखक भी कमोबेश इन्हीं विमर्शों के बीच के ही हैं। इन विमर्शों के विस्तार को समझने में यह संकलन मददगार है, लेकिन इनके लिए कोई

वैचारिकी ईजाद नहीं की गयी है, अकादमिक विवरण हैं, ख़ासतौर से प्रकाशित रचनाओं के बारे में ही विमर्श को रखा गया है। अपवाद के तौर पर इसमें दामोदर मोरे का लेख बहुत ही महत्वपूर्ण है और नये सौंदर्यशास्त्र की रचना की पूरी संभावनाओं को दर्शाता है।

डा. मुन्ना तिवारी का संकलन मुख्यरूप से सवर्ण शोधार्थियों या प्राध्यापकों के लेखों का पिटारा है, जो शायद दलितों के साथ सहानुभूति रखते हों, लेकिन लेखन में उनके संस्कारों की, उनकी परंपरावादी सोच की झलक हर जगह मिलती जाती है। इसमें डा. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की तो प्रतिक्रियावादी सोच भी मौजूद है जो दलित समाज के लिए सबसे अधिक घातक है। वे अपने 'दो शब्द' में ही एक ब्राह्मण उपदेशक की तरह महीन तरीक़े से दलित लेखकों को तरह तरह के उपदेश दे डालते हैं जिनमें सबसे महीन उपदेश यह है कि दलित लेखकों को राजनीति से दूर रहना चाहिए, राजनीति उन्हें 'रंगांध बनायेगी'(पृ.9), दलित लेखकों के 'आचरण' को अपवित्र कर देगी, 'अर्थात वही सुखवादी, उपभोगवादी आचरण'। दलित लेखकों को वही पवित्रतावादी ब्राह्मणवादी उपदेश कि 'संतन को कहा सीकरी सौं काम?' या तुलसी की मंथरा की तरह की चेतना का प्रचार कि 'चेरी छांड़ि न होउब रानी'। इसमें वे अपनी खुद की भगवा रंग की राजनीति से प्राप्त 'सुखवादी, उपभोगवादी आचरण' छिपा जाते हैं। 'पर उपदेस कुसल बहुतेरे/ जे आचरहिं ते नर न घनेरे।।'

उक्त संकलन में सबसे पहला लेख डा. मैनेजर पांडेय का है और महत्वपूर्ण है, पूरी सह-अनुभूति से लिखा हुआ। वे यह भी जानते हैं और ईमानदारी से स्वीकारते हैं कि सवर्णों द्वारा लिखे साहित्य में उनके जन्मजात संस्कारों और चेतना-अंशों के अवशेष बने रहते हैं, दलित लेखक जिस तरह सदियों की गुलामी की चेतना के बारे में सचेत होते हैं तो उनके लेखन में अभिव्यक्त वेदना का स्वरूप प्रामाणिक होता है, उसकी नक़ल की जा सकती है लेकिन कहीं कुछ ऐसा ज़रूर छूट जाता है, जो दलित चेतना से बने सौंदर्यशास्त्र की आलोचना दृष्टि से पहचाना जा सकता है। यह देखना दिलचस्प होगा कि मैनेजर पांडेय के इसी लेख में दलितों का पक्ष लेते हुए वे एक पारंपरिक ब्राह्मण की तरह लिख बैठते हैं कि 'शूद्रों को जब देववाणी संस्कृत पढ़ने की ही छूट नहीं थी, तब वे उसमें अपने जीवन के बारे में साहित्य कैसे रच सकते थे?' (पृ. 23) इस लेख में इसी पृष्ठ पर आगे जहां भी 'संस्कृत' का उल्लेख है, उसके साथ 'देववाणी' जुड़ा हुआ है, क्या मैनेजर पांडेय मार्क्सवादी होकर देवी देवताओं में आस्था रखते हैं, अगर नहीं तो इंसानों की भाषा 'देववाणी' कैसे हो गयी? यह हर ब्राह्मण के संस्कारों में बैठा हुआ है कि संस्कृत 'देववाणी' है और लिपि 'देवनागरी' है, केरल के ब्राह्मण कहते हैं कि केरल 'देवभूमि' है! मार्क्सवादियों की आलोचना करते हुए डा. मैनेजर पांडेय स्वयं ईमानदारी से यह स्वीकार करते हैं कि जातिवादी संस्कार के 'प्रभाव से मुक्त होना सहज और सरल नहीं है... वह उनके चिंतन और लेखन में जाने-अनजाने गुप्त या प्रकट रूप में मौजूद रहता है।'

दलित सौंदर्यशास्त्र की तलाश में लिखे इस अपार साहित्य का अध्ययन न तो संभव है और न अब उसकी ज़रूरत ही लगती है क्योंकि सारी कोशिशें दलितों के लिखे रचनात्मक साहित्य के लिए आलोचना शास्त्र तैयार करने की हैं जबकि शिक्षा दीक्षा से जो ज्ञान और बोध लेखकों को मिला है, उसी का दायरा और उसी की मैथडोलॉजी उन्हें किसी नयी वैचारिकी की गहरी तलाश करने से रोकती है। शौकिया उस पुराने दायरे को ही 'दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र' कहने की हड़बड़ी में इस तरह के बौद्धिक लगे हैं।

दरअसल, गंभीर चिंतन से लैस दलित लेखकों के बीच और बहुत से ग़ैरदलित लेखकों के बीच यह सत्य स्पष्ट है कि सामाजिक बदलाव के बग़ैर अकेले साहित्य में नयी दिशा की खोज संभव नहीं। विश्वसाहित्य में आये बदलावों पर वैज्ञानिक नज़र से विचार करें तो यह स्पष्ट होगा कि वे बदलाव समाज के आंदोलनों की देन थे। भारत के साहित्य में आये बदलावों पर भी यही बात सच बैठती है। दलित साहित्य मराठी में या अन्य भाषाओं में तभी

लेखकों की चेतना का हिस्सा बना जब दलितों ने अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करना शुरू किया। बाबा साहेब आंबेडकर के विचारों पर भी गहन विचार-विमर्श की ज़रूरत भी इसीलिए महसूस की गयी। सामाजिक आंदोलन और दलित साहित्य के आपसी संबंध को उजागर करने वाली एक किताब, पिछले दिनों बजरंग बिहारी तिवारी की, *केरल में सामाजिक आंदोलन और दलित साहित्य* (नवारुण, जनवरी 2020) चर्चा के केंद्र में आयी है, इसी तरह दलित मुक्ति के संघर्ष से जुड़े बहुत से सवालों पर सोशल मीडिया पर लिखे लेखों का एक संकलन इतिहासज्ञ रतन लाल का आया है, *वंचित भारत : संशय, सवाल और संघर्ष* (द मार्जिनलाइज्ड पब्लिकेशन : 2019) ये दोनों किताबें भी दलित मुक्ति के आंदोलनों से सरोकार रखने वाले लेखकों की शोधपरक चेतना का उत्पाद हैं, इन पर चर्चा होनी ही चाहिए।

पहले बजरंग बिहारी तिवारी की किताब पर अपने विचार प्रस्तुत करना चाहूंगा। इस पुस्तक का बड़ा हिस्सा केरल के सामाजिक आंदोलनों पर केंद्रित है जो ज़ाहिर करता है कि यह पुस्तक कितने शोधपरक श्रम से लिखी गयी है। बजरंग बिहारी मलयाली नहीं है, किंतु केरल के दो तीन सदी के सामाजिक यथार्थ को, विशेषकर वहां की वर्णवादी संरचनाओं को वैज्ञानिक नज़रिये से विश्लेषित करने के लिए उन्होंने अकूत सामग्री जुटायी है। मेरी दिलचस्पी इस किताब में यह देखने की रही, कि किस तरह दास व्यवस्था हर देश और हर काल में उसी विचारधारा को जन्म देती है जिसे मैं अपने आलोचनात्मक लेखन में "क्लासीकल विचारधारा' कहता आया हूं, जिसका वर्चस्व ग्रीक दास समाज में प्लेटो, अरस्तू के समय से भी पहले के रचनाकारों में दिखायी देता है, जिसमें दासों को अपने अधीन बनाये रखने के लिए मिथकों का सृजन होता है, भाग्यवाद और ईश्वर से अनुमोदित गुलामगीरी का फ़लसफ़ा समाज में फैला दिया जाता है, ब्राह्मणवाद उसी क्लासीकल विचारधारा का भारतीय संस्करण है, उसी को ईसाई शासकों के समय में 'चेन ऑफ़ बीइंग' के नाम से जाना गया। केरल की दासव्यवस्था का सटीक चित्रण बजरंग बिहारी की पुस्तक में है, उससे मुक्ति के लिए कौन कौन से आंदोलन हुए, यह विवरण भी है, कम्युनिस्ट आंदोलन के उद्भव और विकास का इन आंदोलनों से क्या रिश्ता है, दलित समाज की मुक्ति के लिए मार्क्सवादी विचारधारा से लैस सरकारों ने क्या क़दम उठाये, क्या क्या कमियां रह गयीं, इन सब तथ्यों का सुसंगत हवाला पुस्तक में है, दासों की वेदना, उनका आक्रोश समय समय पर किस तरह दलित साहित्य के रूप में केरल में व्यक्त हुआ, उस अभिव्यक्ति को सारी विधाओं में प्रतिबिंबित होते हुए देखा जा सकता है, यह पुस्तक इस तरह केरल के सामाजिक आंदोलनों और साहित्य के बीच के रिश्ते को व्याख्यायित करती है।

सामाजिक न्याय से जुड़े आंदोलनों का लेखाजोखा लेने वाली एक अन्य पुस्तक, *वंचित भारत*, इतिहासविद् रतन लाल की आयी है। वे दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदू कालेज में प्राध्यापक हैं, उनकी पुस्तक उनके समय समय पर पत्र-पत्रिकाओं में और सोशल मीडिया पर लिखे लेखों का संचयन है, उन्होंने इन लेखों को दो हिस्सों में बांटकर एक तरतीब दे दी है, पहला खंड 'वैचारिकी' का है, दूसरा खंड 'समसामयिकी' का है। 'वैचारिकी' खंड में गांधी, आंबेडकर, कैलाश प्रसाद जायसवाल, सांकृत्यायन और रामधारी सिंह 'दिनकर' पर विचारोत्तेजक टिप्पणियां है, 'समसामयिकी' के कई लेख दलित विमर्श पर हैं, कुछ बिहार की राजनीति, शिक्षा व्यवस्था आदि अलग अलग विषयों पर हैं। रतन लाल का नज़रिया भी दलित और वाम के समन्वय का है, बल्कि दलित, आदिवासी, अल्पसंख्यक तथा ओबीसी के समन्वय का है क्योंकि वे जानते हैं कि शोषित वंचित भारत की मुक्ति इन सबके साझा आंदोलन से ही होगी। दलित और ओबीसी के समन्वय के लिए वे कहते हैं कि आंबेडकर ने संविधान की रचना करते समय 'जमात' के हितों का ख़याल रखा, सिर्फ़ अनुसूचित जातियों और जनजातियों तक के हितों तक अपनी सोच को सीमित नहीं किया, रतनलाल के शब्दों में,

> जाति व्यवस्था पर डॉ. आंबेडकर के जीवन भर के परिश्रम और शोध की परिणति आप संविधान के प्रावधानों में

> पायेंगे। उन्होंने हज़ारों विखंडित जातियों और समुदायों को वर्ग में तब्दील किया, अर्थात SC, ST, OBC और सबकी सुरक्षा के लिए संविधान में प्रावधान किये --(देखें OBC के लिए ARTICLE 340, SC के लिए ARTICLE 341और ST के लिए ARTICLE 342) डॉ. आंबेडकर ने संविधान में सबसे पहले OBC के लिए प्रावधान किया। अर्थात डॉ. आंबेडकर ने जमात के अधिकार सुरक्षित किये, जिसमें जातियां सन्निहित थीं। (पृ. 31)

रतनलाल का इरादा नेक है, वे ओबीसी को यह भरोसा दिलाना चाहते हैं कि आंबेडकर ने सबसे पहले उनका ध्यान रखा, संविधान के अनुच्छेदों की तरतीब को अपने इरादे के अनुकूल उद्धृत करके इसे पुष्ट किया। वैसे मूल संविधान में खंड 16 आरक्षण के प्रावधानों की व्यवस्था करता है जो अनुच्छेद 330 से शुरू होता है। सबसे पहले लोकसभा और विधानसभाओं में अनुसूचित जाति व जनजाति के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गयी, इसी में ऐंग्लोइंडियन समुदाय के लिए भी आरक्षण की व्यवस्था है, ओबीसी के लिए नहीं थी। अनुच्छेद 338 में अनुसूचित जातियों, जनजातियों व ओबीसी की दशा जानने के लिए 'स्पेशल ऑफ़ीसर' की नियुक्ति का प्रावधान बाबा साहेब ने किया था, जिसमें संशोधन करके बाद में 'कमीशन' के गठन का प्रावधान कर दिया गया, फिर एक और संशोधन करके मूल में से 'अनुसूचित जनजाति' हटाकर अलग से उनके लिए एक दूसरा अनुच्छेद 338ए जोड़ दिया गया। मूल संविधान में 'अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों' के हितों को एक साथ ही रखा गया था। उसके बाद अनुच्छेद 339 में संविधान के पारित होने के दस साल बाद जनजातियों के हालात जानने के लिए एक कमीशन की नियुक्ति की व्यवस्था की गयी थी, और जिस अनुच्छेद 340 का उल्लेख रतन लाल ने ओबीसी के लिए किया है, उसमें भी कमीशन के गठन का ही प्रस्ताव है, वह सबसे पहले नहीं, उसी क्रम में है, यानी अनुसूचित जाति, जनजाति और ओबीसी व अन्य आर्थिक रूप से विपन्न समुदाय। इसके बाद के अनुच्छेद 341 व 342 सूची तैयार करने के बारे में है, यानी किस जाति को अनुसूचित जाति और किसे अनुसूचित जनजाति माना जाये। बाबा साहेब से एक चूक यह भी हो गयी कि उन्होंने इन शोषित दलित हिस्सों के लिए नौकरियों में आरक्षण को मूल संवैधानिक अधिकार नहीं बनाया, अनुच्छेद 16 में आरक्षण देने या न देने का अधिकार केंद्र और राज्यों के हाथों सौंप दिया, उसी का फ़ायदा उठाकर बीजेपी आर एस एस के अधीन राज्य जैसे उत्तराखंड नौकरियों में आरक्षण को ख़त्म कराने में कामयाब हो गये और सुप्रीम कोर्ट भी कोई राहत नहीं दे पाया। बीजेपी सरकार निजीकरण के माध्यम से और अब सुप्रीम कोर्ट के आदेश की आड़ में नौकरियों में आरक्षण ख़त्म करने पर पूरी तरह आमादा है, *मनुस्मृति* पर आधारित 'हिंदू राष्ट्र' बना डालने का एजेंडा तेज़ी से लागू हो रहा है जिसके विरोध में आंबेडकर पूरी तरह खड़े रहे।

रतन लाल जिस तरह अपने लेखों से दलित तथा ओबीसी को एकजुटता में बांधने की कोशिश करते हैं, उसी तरह इस गठबंधन में मुस्लिम समुदाय को भी शामिल करने की ख़्वाहिश का इज़हार करते हैं! वे सही कहते हैं कि 'मुसलमानों की स्थिति और दलित की स्थिति में समानता है। इसलिए सीधे राजनीतिक हस्तक्षेप के लिए दलित और मुस्लिम को सहयोग के साथ एक दिशा में बढ़ना चाहिए।' (पृ. 53) इसी गठजोड़ में वे 'वामपंथ' को भी शामिल करते हैं, जो कि सही नज़रिया है। वे लिखते हैं कि 'दलित राजनीति और वामपंथ में एक ख़ास समानता है। दोनों परिवर्तन और शोषणमुक्त समाज बनाने की राजनीति में विश्वास करते हैं। इसलिए उन्हें अंतर्विरोधी तो क़तई नहीं कहा जा सकता।' (पृ.131) इसी यथार्थवादी समझदारी से वे दलित, ओबीसी, मुस्लिम, वामपंथ के एक महागठबंधन की सदिच्छा अपने लेखन में व्यक्त करते हैं! इसे वैचारिकी के आधार पर कल्पित करना बुद्धिजीवियों के लिए आसान है, (इसलिए लेखकों के बीच यह एकता पूरी तरह देखी जा सकती है,) मगर उसे राजनीति में अमली जामा पहनाना बहुत ही मुश्किल है, इससे भी शायद रतन लाल वाक़िफ़ होंगे। इसका एक प्रमुख कारण शायद दलित नेतृत्व के बूर्ज़ुआकरण में निहित है, वे संपन्न होते ही मध्यवर्ग में परिणत होकर उसी की विचारधारा आत्मसात करके अवसरवाद के शिकार होते आये हैं, जगजीवन राम से लेकर, मायावती, पासवान और रामराज उर्फ़ उदितराज

तक, दक्षिण के ब्राह्मणवादविरोधी सुधारकों से प्रेरित दल भी, इज़ारेदार पूंजी की हित साधक बड़ी राजनीतिक संरचनाओं के ही सहयोगी बनते हैं, वाम मोर्चे के नहीं। रतन लाल के वैज्ञानिक फ़ार्मूले से 'सोशल इंजीनियरिंग' करने की पहल शायद इसीलिए दलित संपन्न नेतृत्व नहीं करता, अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी के वर्चस्व से उपजे नवउदारवादी आर्थिक शोषणतंत्र से भी वह बेख़बर है, उससे साझा संघर्ष करने के लिए वह वामदलों के साथ नहीं आता, भले ही वामपंथ मायावती जैसे नेतृत्व को प्रधानमंत्री के चेहरे के रूप में पेश करने की कोशिश करे, यह एक यथार्थ है, शायद कटु यथार्थ।

मो. 9811119391

पुस्तक संदर्भ

1. *दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र* : शरणकुमार लिंबाले : वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2000
2. *दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र* : ओमप्रकाश वाल्मीकि, : राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2001.
3. *दलित साहित्य का नया सौंदर्यशास्त्र* : आर. डी. आनंद, परिकल्पना, दिल्ली, 2019
4. *दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र*. सं. डा. मुन्ना तिवारी, भारती पब्लिशर्स, फ़ैज़ाबाद, 2013
5. *अस्मितामूलक साहित्य का सौंदर्यशास्त्र*, सं. डा. कर्मानंद आर्य, मार्जिनलाइज़्ड पब्लिकेशन, नयी दिल्ली, 2018
6. *केरल में सामाजिक आंदोलन और दलित साहित्य* : बजरंग बिहारी तिवारी, नवारुण, ग़ाज़ियाबाद, 2020
7. *वंचित भारत : संशय, सवाल और संघर्ष* : रतन लाल, मार्जिनलाइज़्ड पब्लिकेशन, नयी दिल्ली, 2019

मुखौटों से लड़ती कहानी-आलोचना

अंकित नरवाल

निःसंदेह कहानी-आलोचना की व्यवस्थित सुदीर्घ विरासत में नामवर सिंह की *कहानी नयी कहानी* पुस्तक का नाम प्रमुखता से आता है। उन्होंने कविता के क्षेत्र से आकर कहानी-पढ़ंत की पहली योजनाबद्ध पद्धति ईज़ाद करते हुए कहानी के मूल स्रोतों को पहचाना था। तब से लेकर आज तक कहानी न जाने कितने आंदोलनों का खाद-पानी हासिल कर आगे बढ़ आयी है। उसके लेखन की अनेक शैलियां प्रचलन से बाहर भी हो गयी हैं, किंतु कहानी-आलोचना को विकसित करने का प्रश्न अब भी ज्यों-का-त्यों खड़ा है। हालांकि, इधर के वर्षों में स्वयं कहानीकारों से लेकर आलोचकों तक ने उसके विश्लेषण के अनेक टूल विकसित किये हैं। पिछले दो वर्ष कहानी-आलोचना के लिए कुछ हद तक सुनहरे माने जा सकते हैं। किंतु, इधर प्रकाशित हुई कुछ आलोचना पुस्तकें भी केवल रचनाओं में दर्ज हुए समय की व्याख्या भर करती रह गयी हैं। आलोचनाशास्त्र का मोह गोया दोयम दर्जे की रुचि हो। यहां हम पिछले दो वर्षों (2019-2020) में प्रकाशित हुई पांच पुस्तकों के सहारे कहानी-आलोचना के वर्तमान को समझने का प्रयास करेंगे।

अरुण होता की 2019 में प्रकाशित पुस्तक *भूमंडलीकरण, बाज़ार और समकालीन कहानी* कुल 21 लेखों के अंतर्गत हिंदी की साठोत्तरी कहानी की कुछ चुनिंदा रचनाओं के साथ-साथ समकालीन कहानीकारों को जांचने-परखने का काम करती है। इस पुस्तक में जैनेंद्र ('जाह्नवी'), अज्ञेय ('रोज़'), रेणु, भीष्म साहनी, शिवमूर्ति आदि की कहानियों को भी विश्लेषित किया गया है। 2000 के बाद की पीढ़ी का संभवतः कोई ऐसा रचनाकार न होगा, जिसकी एक-आध कहानी किसी-न-किसी लेख में विश्लेषित न हुई हो।

इसमें कुछ विशेष आलेखों के अंतर्गत सत्यनारायण पटेल, सुधा अरोड़ा, अनुज, भालचंद्र जोशी, उमाशंकर चौधरी, ज्योति चावला, अनंत कुमार, विश्वेश्वर, गीताश्री, प्रज्ञा, किरण सिंह आदि की कहानियों में दर्ज हुआ समय भी आलोचित हुआ है। साथ ही इन कहानीकारों की कहानियों की रचनात्मक उपलब्धि भी उभरी है।

इस किताब का अधिकतर हिस्सा साठ-सत्तर के दशक की कहानियों पर ख़र्च हुआ है और अंतिम आलेख में किसानों की समस्याओं पर लिखी गयी कहानियों की परंपरा दर्शाने में अधिकतर माधव राव सप्रे, कौशिक, प्रेमचंद आदि की कहानियों पर विचार किया गया है।

किताब के बीच का आधा हिस्सा ही 'बाज़ार और समकालीन कहानी' के अंत:संबंधों को समझने के लिए पढ़ा जाना चाहिए। किताब भूमंडलीकरण और बाज़ार की चपेट में लगातार अमानवीय होती जनता के लिए बेचैन नज़र आती है। यहां दर्ज हुई अधिकतर कहानियां बाज़ारवादी संस्कृति के कारण उपजे विध्वंसक समय की ही शिनाख़्त करती हैं। यों अरुण होता ने अलग से भूमंडलीकरण और बाज़ार की कोई विशेष व्याख्या नहीं की है, बल्कि लेखों के शुरुआती आमुख ही उसके कारण हुए तमाम विघटनों पर नज़र डालते हैं। कहानियों को जांचने का कोई तयशुदा मानदंड भी आलोचक ने नहीं अपनाया है, जिसे स्केल या मीटर की तरह इस्तेमाल करके कहानी की सार्थकता और कमज़ोरी उभारी जा सके। अरुण होता ने भूमंडलीकरण की प्रमुख विशेषता बाज़ारवादी प्रवृत्ति को स्वीकारा है। वे लिखते हैं, 'बाज़ार वर्तमान समय व समाज का सबसे बड़ा यथार्थ बन गया है। इसी के साथ भूखे, दरिद्र, किसान-मज़दूरों की समस्याएं भी बढ़ी हैं। सरकारी कर्ज़, मुआवज़े तथा ग्रामीण विकास योजनाओं के नाम पर

शोषण चक्र मज़बूत हुआ है। भ्रष्टाचार का शंखनाद ज़ोरों पर है। बाज़ार व कॉरपोरेट शक्तियों के क़ब्ज़े में गांव आने लगा है। अमेरिका अपनी शर्तों पर भारत में बाज़ार को प्रमोट कर रहा है।' बाज़ार का यह गणित समकालीन कहानी के उक्त कथाकारों की कहानियों का विषय बना है। इन कहानियों में बाज़ारीकरण व उदारीकरण की नीतियों का पर्दाफ़ाश हुआ है। यह पुस्तक आलोचक की समाजशास्त्रीय दृष्टि को उजागर करती है।

राकेश बिहारी ने अपनी जनवरी, 2020 में प्रकाशित पुस्तक *भूमंडलोत्तर कहानी* के अंतर्गत तेईस कहानियों का चयन करते हुए उनमें दर्ज हुए समकाल को उभारा है। इन तेईस कहानियों में रवि बुले की 'लापता नत्थू उर्फ़ दुनिया ना माने', तरुण भटनागर की 'दादी, मुल्तान और टच एंड गो', वंदना राग की 'ख्यालनामा', मोहम्मद आरिफ़ की 'चोर सिपाही', विमलचंद्र पांडेय की 'उत्तर प्रदेश की खिड़की', किरण सिंह की 'संझा', अनुज की 'अंगुरी में डंसले बिया नगिनिया', अपर्णा मनोज की 'नीला घर', मनोज कुमार पांडेय की 'पानी', आकांक्षा पारे काशिव की 'शिफ्ट+कंट्रोल+ऑल्ट=डिलीट', राकेश मिश्र की 'पिता राष्ट्रपिता', पुरुषोत्तम अग्रवाल की 'नाकोहस', जयश्री रॉय की 'कायांतर', पंकज मित्र की 'कफ़न रीमिक्स', आशुतोष की 'अगिन असनान', राकेश दुबे की 'कउने खोतवा में लुकइलू', पंकज सुबीर की 'चौपड़े की चुड़ैलें', योगिता यादव की 'ग़लत पते की चिट्ठियां', प्रज्ञा की 'मन्नत टेलर्स', सिनीवाली की 'अधजली', कैलाश वानखेड़े की 'जस्ट डांस', प्रत्यक्षा की 'बारिश का देवता' और रश्मि शर्मा की 'बंद कोठरी का दरवाज़ा' नामक कहानियां शामिल हैं। इन कहानियों में से यदि एक-आध को छोड़ दें, तो लगभग यही कहानियां अरुण होता के यहां भी संदर्भित हैं। हालांकि उनके यहां कहानियों की अधिकता इतनी ज़्यादा है कि उसके विस्तृत मूल्यांकन का अवसर न्यून पड़ गया है। राकेश ने इस सीमा का ध्यान रखते हुए केवल तेईस कहानियों को चुना है, जो सटीक जान पड़ता है। वे 'भूमंडलोत्तर' शब्द को इस तरह व्याख्यायित करते हैं – 'भूमंडलीकरण की शुरुआत के बाद का समय, जिसे मैंने भूमंडलोत्तर समय कहा है, को पिछले समय से अलग करने में तकनीकी और सूचना क्रांति की बड़ी भूमिका है।' अर्थात् राकेश के लिए वह समय भूमंडलोत्तर समय है, जिसमें सूचना क्रांति हुई। इस समय की दूसरी विशेषताएं गिनाते हुए वे बताते हैं, 'गति, संकुचन और फ्यूज़न इस समय के ऐसे अनिवार्य लक्षण हैं, जो लगभग मूल्य की तरह स्वीकार कर लिये गये हैं। ज्ञान का सूचना में, रचनात्मकता का उत्पादन में, उपलब्धि का जीत में, प्रगति का गति में, वस्तु का उत्पादन में, व्यक्ति का उपभोक्ता में और संबंधों का संभावित ग्राहक में रिड्यूस हो जाना भी इस समय की बड़ी विशेषता है।' इन कहानियों की विवेचना के दौरान ज़्यादातर भूमंडलोत्तर समय संबंधी उनकी उक्त मान्यताएं ही खुलकर सामने आयी हैं।

राकेश ने कहानी आलोचना के लिए डायरी, पत्र आदि जैसी कुछ नयी पद्धतियों का भी प्रयोग किया है। उनके यहां कुछ कहानियों ('संझा', 'चौपड़े की चुड़ैलें', 'मन्नत टेलर्स' आदि) की विशेषताएं कम, कमियां ज़्यादा मुखरित हुई हैं। यहीं यह प्रश्न उठता है कि एक रचनाकार जिन कहानियों को अपने समय की श्रेष्ठ कहानियां सिद्ध करने के लिए चुन रहा है, वह स्वयं ही उनमें दोषारोपण क्यों कर रहा है? पुस्तक के सामान्य पाठकों को भी यह भ्रम उलझा सकता है। क्या यह कहानियों की पूर्व में हो चुकी अत्यधिक प्रशंसा की वजह से हुआ है या फिर इसके कुछ दूसरे कारण हैं? इसका स्पष्टीकरण भी न आमुख में मिलता है, न संदर्भित लेखों में ही।

दूसरी ओर, अरुण होता के लिए जो कहानी महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट है, वही राकेश के लिए एक असफल कहानी बन जाती है। एक ऐसा ही संदर्भ अनुज की कहानी 'अंगुरी में डंसले बिया नगिनिया' के संबंध में देखा जा सकता है। जहां अरुण होता मानते हैं, 'आवश्यक फैलाव अनुज के कथालेखन का स्वभाव नहीं है। वर्णनात्मकता के नाम पर सबकुछ बता देने की जद्दोजहद यह कहीनाकार नहीं करता। यह कहानीकार विषय या अंतर्वस्तु के आधार पर अपनी शैली को ईज़ाद करता है।' इसके विपरीत राकेश की मानें तो, 'जातिवाद की वर्चस्ववादी राजनीति के ध्वजवाहकों का महिमामंडन करने वाली कुत्सित मंशाओं को सींचते हुए प्रगतिशील

कहलाने की लेखकीय यशाकांक्षा इस कहानी की असफलता का सबसे बड़ा उदाहरण है। बरहम बाबा की लाश के सम्मुख अस्पताल-कर्मियों का प्रतिरोध हो या बसनी का उस लाश पर थूकना, बसनी की मजबूरी को छद्म प्रतिरोध के रूप में दर्शाने की कोशिश हो या फिर शीर्षक में प्रयुक्त गीत को दलित बस्ती में बजाने की नासमझ चालाकी, इन्हें विष से भरे घट के मुंह पर दूध का लेप लगाने की नाकाम कोशिशों की तरह ही देखा जाना चाहिए, जो अपने अंतर्विरोधी गुण-धर्म के कारण हर क़दम पर सहज ही कहानी में उजागर होते चलते हैं।'

यह अंतर्विरोध केवल इस कहानी को लेकर नहीं है, बल्कि दूसरे कहानीकारों को लेकर भी ऐसा ही कुछ देखा जा सकता है। हालांकि प्रत्येक आलोचक को अपने विवेक के अनुसार कहानी-मूल्यांकन का अधिकार होता है, किंतु पाठकों के लिए यह समस्या बन जाती है कि वे किस बिनाह पर कहानी को परखें। यदि एक स्तर पर मूल्यांकन के लिए उन्हें स्वयं ही कहानी-पाठ में उतरना है, तो फिर इन आलोच्य पुस्तकों की ओर वे क्यों आयें?

दूसरा, कहानी-आलोचना के लिए व्यावहारिक मूल्यांकन पद्धति का प्रयोग ही राकेश ने किया है। किसी सिद्धांत-निर्माण या फिर उसे प्रयुक्त करने में न उन्होंने रुचि ही ली है और न ही शायद उनका यह अभीष्ट रहा है। फिर क्या कहानी आलोचना 'जितने मुंह उतनी बात' ही बनकर नहीं रह जायेगी? राकेश कहीं-कहीं कहानी की परिभाषाएं तो अवश्य गूंथते चलते हैं। जैसे एक जगह वे लिखते हैं, 'कहानी न पूरी हक़ीक़त होती है न पूरा फ़साना। यथार्थ और कल्पना का तर्कसम्मत सहमेल ही कहानी में सामाजिक, राजनीतिक और भावनात्मक यथार्थ की पुनर्रचना की ठोस ज़मीन तैयार करता है। हक़ीक़त और फ़साने के मिश्रण का सही अनुपात और उन दोनों का अंत:संबंध मिल कर कहानी की सफलता तय करते हैं।'

हां, राकेश ने कहानियों का मूल्यांकन करते हुए अवश्य ही एक तटस्थ आलोचक का परिचय दिया है। कहानी में 'कल्पना' और 'यथार्थ' के बीच की फांकें उन्होंने न केवल पहचानी हैं, बल्कि उनकी तीखी आलोचना भी की है, जो इधर की समीक्षाओं से नदारद हैं। पुस्तक की यही विशेषता हमें इसे पढ़ने के लिए प्रेरित करती हैं।

इसी साल प्रकाशित हुई रोहिणी अग्रवाल की पुस्तक *कथालोचना के प्रतिमान* कई अर्थों में एक भिन्न आस्वाद की आलोचनात्मक यात्रा है। चार हिस्सों, क्रमशः आमुख, आधार, परंपरा और परिशिष्ट में बंटी यह किताब नब्बे के बाद की पीढ़ी के कथाकारों- राजेंद्र दानी, योगेंद्र आहूजा, मनोज रूपड़ा, किरण सिंह, मनोज कुमार पांडेय, प्रवीण कुमार, अल्पना मिश्र, नीलाक्षी सिंह आदि की कहानियों का मूल्यांकन करती है। इसका एक बड़ा हिस्सा चंद्रधर शर्मा गुलेरी, जैनेंद्र, कमलेश्वर, मुक्तिबोध आदि की कहानियों की परंपराओं पर भी विचार करता है। इस किताब के केंद्र में मुक्तिबोध के 'सभ्यता-समीक्षा' सिद्धांत की अनुगूंज है। आमुख में मुक्तिबोध की कहानियों का आलोचनात्मक पाठ शामिल होना भी शायद इसी अनुगूंज की उपस्थिति के लिए हुआ है। यों इस किताब के शीर्षक से सामान्यतः यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि इसमें किन्हीं प्रतिमानों को सैद्धांतिक रूप से स्थापित किया गया होगा। किंतु, रोहिणी के लिए 'प्रतिमान' यहां दरअसल 'दृष्टि' के पर्याय के रूप में आया है। उन्होंने कहानियों के पात्रों से संवाद करते हुए जिस अंतरंग बातचीत का इस किताब में प्रयोग किया है, वही उनके प्रतिमान हैं। यों आमुख में शामिल अनेक सूक्तियां प्रतिमानों के पर्याय की तरह देखी जा सकती हैं। कुछ उदाहरण देखिए :

> 1. मेरे तईं वही कहानी श्रेष्ठ है जो मेरे भीतर तीन अलग स्तरों पर जीते पाठक-आलोचक-रचयिता को एक साथ गूंथ कर कहानी की एक स्वतः संपूर्ण इकाई भी बना देती है और साथ ही उस कहानी के समानांतर धड़कते जीवन की पुनर्पड़ताल की संवेदना भी देती है।
>
> 2. कहानी की सार्थकता संवाद का मज़बूत पुल बनाने में है।
>
> 3. अच्छी कहानी लोभ और लिप्साओं के पागलख़ाने में क़ैद 'आत्मबोध' को मुक्त करने की जद्दोजहद है।
>
> 4. अच्छी कहानी आलोचना के एक पाठ द्वारा सुनिश्चित कर दिये गये रूप के साथ कभी स्थिर नहीं

रहती। उसकी सार्थकता अपने को सफलतापूर्वक पढ़वा ले जाने में नहीं, पाठक के भीतर रचनाकार की ताब भर कर जीवन की शिनाख़्त और सृजन करने की प्रेरणा बनने में है।

ऐसी ही अनेक स्थापनाएं लेखों के बीच से आकर कहानियों के संबंध में कुछ निश्चित पैमाने तय करने की कोशिश करती हैं।

रोहिणी ने अपने लेखों के सहारे उन कहानियों को तलाशा है, जो वर्तमान समाज की न केवल उद्घोषणाएं करती हैं, बल्कि ठहरकर उनसे पार पाने का संबल भी बनती हैं। सर्वथा यह किताब कहानियों से संवाद करते हुए ही विकसित हुई है। कहानियों के जितने अधिक पाठक होंगे, उतने ही अधिक संवाद होंगे; फिर ये संवाद जिस दृष्टि से कहानी को परख-पढ़ रहे होंगे, वही प्रतिमान स्वीकर कर लिये जायेंगे। यह किताब इसी तर्क की पैरवी करती है। सुनने में यह तर्क भले ही बड़ा लोकतांत्रिक व कृति-हितैषी दिखता हो, किंतु इससे यह क़तई तय नहीं होता कि कहानी में वे कौन-से तत्त्व हैं जो सर्वत्र उसकी लोकप्रियता या प्रसिद्धि का कारण बनते हैं या बन सकते हैं। आलोचना एक टेक्स्ट के साथ केवल एक अंतरंग बातचीत भर नहीं है; न ही वह टेक्स्ट के साथ अपनी चुगली गांठने की छूट या शब्दबाज़ी। वह बहुत सीधे और साफ़ अर्थों में 'रियलिस्टिक यथार्थ' और 'फ़िक्शनल यथार्थ' के बीच की फांकों पर हाथ रख देने की निर्मम कार्यवाही है। यह कार्यवाही कृति में दर्ज हुए सामाजिक संरचना के ताने-बाने में आने वाली अड़चनों को उघाड़कर रख देती है। यह किताब संवाद की दृष्टि से पढ़ी जानी चाहिए, प्रतिमानों के पिपासु यहां से ज्यों-के-त्यों लौटेंगे।

संजीव कुमार की 2019 में प्रकाशित पुस्तक *हिंदी कहानी की इक्कीसवीं सदी : पाठ के पास / पाठ से परे* कहानी पढ़ंत की कुछ पारिभाषिक नियमावलियां बनाने के साथ-साथ इधर की महत्त्वपूर्ण कहानियों पर भी गंभीर विचार करती है। यह किताब मूलतः किसी भी कहानी को पढ़ते हुए इस विषय पर ख़ासा ज़ोर देती है कि क्या उसे अपने मूल रूप में कहानी ही होना था या फिर वह कोई निबंध, व्याख्यान और अनुचिंतनात्मक डायरी अंश भी हो सकती थी? आमुख को छोड़कर कुल तेईस आलेखों में बंटी इस पुस्तक में से आठ आलेख ('गांव जो उजड़ गया शहर जो बसा नहीं', 'चुप्पियों के साथ एक संवाद', 'जो सुलझ जाती है गुत्थी', 'कैसे का भी अपना क्या है', 'वे भूली दास्तां', 'कहन की वापसी-1,2,3') शुद्ध रूप से कहानी-आलोचना की अपनी पारिभाषिक शब्दावली ईजाद करने की ओर उठाया गया सधा क़दम है। हालांकि, बाक़ी बचे पंद्रह आलेख भी केवल व्यावहारिक आलोचना के नमूने नहीं हैं, बल्कि वहां भी कहानी कैसे बनती है और क्यों वे इस दौर की प्रमुख कहानियों में शुमार हो सकती हैं, जैसे प्रश्न बराबर विश्लेषित हुए हैं। यहां विश्लेषित हुई कहानियों में अनिल यादव की 'दंगा भेजियो मौला', उदय प्रकाश की 'मोहनदास', मनोज कुमार पांडेय की 'पानी', किरण सिंह की 'द्रौपदी पीक', चंदन पांडेय की 'भूलना', राकेश तिवारी की 'कठपुतली थक गयी', अवधेश प्रीत की 'चांद के पार एक चाभी', टेकचंद की 'घड़ीसाज़', पंकज मित्र की 'सेंदरा', नीलाक्षी की 'रंगमहल में नाची राधा', मनीषा कुलश्रेष्ठ की 'कठपुतलियां', शिवमूर्ति की 'कुच्ची का कानून', योगेंद्र आहूजा की 'मर्सिया', प्रह्लाद चंद्र दास की 'धोखा' और देवेंद्र की 'नालंदा पर गिद्ध' नामक कहानियां शामिल हैं। कहानी आलोचना के लिए उन्होंने दृश्यात्मक, परिदृश्यात्मक, अंकन, कहन, परिणित-पक्ष, प्रक्रिया पक्ष और प्रस्तुतीकरण जैसे शब्दों को पारिभाषिक शब्दावली में ढालकर कहानी पढ़ने के कुछ सूत्र तैयार किये हैं। वे परिणित-पक्ष, प्रक्रिया पक्ष और प्रस्तुतीकरण को समझाने के लिए इन्हें क1, क2 एवं ख में बांटकर एक गणितज्ञ की तरह कहानी पर अपनी टिप्पणी करते हुए लिखते हैं, 'इन तीनों के बग़ैर कोई कहानी बन नहीं सकती। तो फिर संरचना के स्तर पर फ़र्क़ किस चीज़ से पड़ता है? फ़र्क़ इससे पड़ता है कि सापेक्षिक महत्त्व की दृष्टि से कहानी में इन तीनों की स्थिति क्या है, यानी कहानी की जान इनमें से किसमें या किस-किसमें बसती है।' इसके लिए उन्होंने सात तरह की कहानियों की सूची भी तैयार की है।

संजीव के लिए कहानी की दुनिया हमारे लिए जटिल आयामों को खोलने का काम करती है। वे मानते

हैं, 'कहानी की बनायी समानांतर दुनिया से अपनी दुनिया में लौटते हैं तो हमारे पास इस दुनिया के लिए एक अलग निगाह होती है, इसके कई अनदेखे या उपेक्षित या धुंधले या ढंके तुपे पहलू हमारे लिए अधिक स्पष्ट हो उठते हैं।' यही बहुधा कोई भी सफल कहानी हमारे लिए कर सकती है। वह हमें हमारे आसपास पसरे समाज को देखने की हमारी चेतना में इज़ाफ़ा करती है।

संजीव की इस पुस्तक में नामवर सिंह की कहानी आलोचना रह-रहकर लौटती है। वे नामवर की पुस्तक *कहानी नयी कहानी* से कहानी आलोचना के सूत्र ढूंढ़ लाते हैं और फिर उन्हें अपनी व्याख्या से नूतन करते हैं। संजीव कहानी के लिए 'अंकन' को ज़रूरी मानते हुए लिखते हैं, 'पुरानी कथाओं से आधुनिक कहानी-उपन्यास जिस यथार्थवाद की ज़मीन पर अलग होते हैं, उसकी शुरुआती मांग ही रही है, सत्याभास एवं संभाव्यता। कहानी जीवन जैसी प्रतीत हो और इस भ्रम में डाले कि आप सत्यकथा पढ़ रहे हैं, इसके लिए ज़रूरी है कि अंकन का सहारा लिया जाये।'

संजीव अपनी व्यावहारिक आलोचना के दौरान भी निर्णयवादी आलोचक होने से बचे हैं। उन्होंने कहानियों का चयन करते हुए इस बात का पूरा ध्यान रखा है कि उनमें कहानी अपने विविध पक्षों के साथ खुलकर सामने आये।

हालांकि, अपनी तामाम खूबियों के बावजूद इस पुस्तक के शीर्षक को लेकर भ्रम पैदा होता है। क्या किसी भी सदी के केवल दो शुरुआती दशक ही उसके समग्र मूल्यांकन का रास्ता खोल सकते हैं? संभवतः नहीं। एक भिन्न अर्थ में यह किताब इक्कीसवीं सदी के प्रस्थान का रास्ता तो बन सकती है, किंतु उसके संपूर्ण वजूद का मूल्यांकन नहीं। अभी कहानी अगले आठ दशकों में जाने कौन-कौन से मोड़ लेगी? यही इस किताब की दुखती रग है। उम्मीद है, अपने अगले संस्करणों में लेखक इस ओर ध्यान देंगे।

वैभव सिंह की हाल ही में प्रकाशित पुस्तक *कहानी : विचारधारा और यथार्थ* पिछले तीस वर्षों के दौरान लिखी गयी कहानियों पर विशेषतः चर्चा करती है। साथ-साथ कहानी की सुदीर्घ परंपरा से हासिल हुई उपलब्धियों को भी टटोलती है। उनके यहां कहानियों में यथार्थ के प्रति लगातार बढ़ती रुचि विशेषतः दर्ज हुई है। कुल तीन हिस्सों, क्रमशः 'कहानी और समकालीनता', 'कहानी की परंपरा', 'कहानी : विचार और अवधारणा' में बंटी यह पुस्तक विमर्श के नाम पर नब्बे के बाद चलायी गयी श्रेणीबद्ध आलोचना का विपक्ष रचती है। इस पुस्तक में उदय प्रकाश, शिवमूर्ति, अखिलेश, योगेंद्र आहूजा, मनोज रूपड़ा, संजय कुंदन, अल्पना मिश्र, वंदना राग, गीतांजलि श्री, सारा राय, महेश कटारे, शेखर जोशी, शैलेय आदि-आदि रचनाकारों की कहानियां विवेचित होती देखी जा सकती हैं। इन रचनाकारों की कहानियों पर कोई समीक्षात्मक टिप्पणियां यहां नहीं है, बल्कि पिछले दशकों में समाज जिस विशेष परिपाटी में बदलता गया है, उसकी व्याख्या के लिए इनकी कहानियां विश्लेषित हुई हैं।

यहां वैभव के लिए आलोचना का प्रेमचंदीय मुहावरा ही सर्वोत्तम है, जो अपने पाठकों को सुलाता नहीं है, बल्कि उनकी चेतना को मशाल की तरह जला देता है ताकि उन्हें इसकी रोशनी में अपने शोषण का संपूर्ण गणित साफ़-साफ़ चमकता नज़र आये। इधर के सालों में जब से बाज़ार ने दुनिया के सपाट होने का भ्रम फैलाया है, तब से साहित्य भी प्रोडक्ट में तब्दील हो गया है। रचनाकारों के लिए 'जनकेंद्रित प्रतिबद्धता' किसी आदिम मनोवृत्ति का पर्याय बनती जा रही है। उन्हें 'कलाओं की अनूठी भव्यता के बाज़ारवादी आयोजनों' में सज-धजकर बैठी मूर्ति में अपना आदर्श दिखायी देता है। ऐसे में सस्ती लोकप्रियता से भरा उत्तेजित मनोवृत्ति आधारित साहित्य ही उनके लिए गरिमायुक्त आदर्श बन जाता है। इससे एक ओर जहां साहित्य की अपनी इमेज कम होती है, वहीं पाठकों के लिए भी वह मात्र एक प्रोडक्ट बनता चला जाता है। वाल्टर बेंजामिन के शब्दों में कहें तो ऐसा साहित्य 'मैकेनिकल रीप्रोडक्शन' भर होता है, जिसका मनुष्य की गरिमा और स्वतंत्रता को उत्तेजित करने वाली सात्विक मनोवृत्तियों से कोई संबंध नहीं होता। ऐसा साहित्य लिखने वाले लेखक जल्दी ही कालग्रस्त हो जाते हैं। वैभव लिखते हैं, 'सफल

कथाकार वह नहीं है जो गरिमाच्युत, पीले, बीमार मानवीय चेहरे दिखाये बल्कि वह है जो गरिमा व स्वतंत्रता खो देने की बाहरी-भीतरी स्थितियों को कहानी में उभार दे।' हालांकि, आलोचकों और रचनाकारों के सामने सदा ही यह चुनौती रही है कि कला की सफलता के पैमानों को कैसे तय करें? यह कैसे तय करें कि संसार की सफल कथाएं कौन-सी रही हैं? कौन नहीं? वैभव मानते हैं, 'संसार की सफलतम कथाएं वे रही हैं जिन्होंने कोरे नीरस उपदेश के गड्ढों में गिरे बग़ैर जीवन की सारी हरियाली तथा उसके सूखेपन को कथापात्रों के माध्यम से प्रकट किया है।'

यों तो प्रत्येक रचना किसी-न-किसी मूल्य के प्रति प्रतिबद्ध होती ही है, किंतु कई बार वह किसी तयशुदा ऐजेंडे को चरितार्थ करने में इतना ज़ोर लगा देती है कि कथा-विन्यास तक विखंडित हो जाता है। सहज दिखायी देने वाला यथार्थ भी हवाई लगने लगता है। फिर क्या यथार्थ को अभिव्यक्त करना इतना आसान और सहज है कि कोई भी उसे अभिव्यक्त करके संसार के सफलतम लेखकों में शुमार हो सके? संभवतः नहीं। अक्सर सीधी लकीर खींचना ज़्यादा मुश्किल होता है, भले ही वह कितना भी सहज क्यों न लगता हो।

यहां यह सवाल पूछा जाना चाहिए कि क्या यथार्थ की अभिव्यक्ति एक सच्चे रचनाकार के लिए आवश्यक है? निःसंदेह, अगर एक रचनाकार सचमुच ईमानदार है तो यथार्थ को अभिव्यक्त करने का जोख़िम उठाना उसकी नियति होती है। जोख़िम से बचाव और रचनाशीलता का निर्वाह एक साथ संभव नहीं होता है। हालांकि अब जोख़िम से बचने वाला लेखन चलन में है, पर वह कितना उपयोगी है, इसका फ़ैसला इतिहास आसानी से कर देगा।

दूसरी ओर, 'विचारधारा' बनाम 'विचाराधारा-मुक्ति' के तमाम सवाल भी आलोचना की पसोपेश में रहे हैं। आलोचना के सामने हमेशा ही एक संकट यह भी रहा है कि वह यह तय करे कि एक आदर्श रचना में रचनाकार की कौन-सी मूल्य-दृष्टि होनी चाहिए? यह तय करना एक हल्के सूत्रीकरण जैसा होगा, किंतु फिर भी उसमें मनुष्य की सामाजिक-सांस्कृतिक चितवृत्तियों की पहचान करने योग्य विवेक संपन्नता अवश्य होनी चाहिए। राजशेखर बहुत पहले 'कारयित्री' व 'भावयित्री' प्रतिभाओं का विश्लेषण करते हुए सभी का ध्यान लगभग इसी ओर दिलवा रहे थे। दूसरा, किसी रचना में वैश्विक एवं परिवेशगत राजनीतिक परिदृश्य पर पैनी दृष्टि भी इसी तरह की योग्यताओं में गिनी जा सकती है। तीसरा, जीवन मूल्यों में आस्था से जुड़ाव भी रचना और रचनाकार की प्रतिबद्धता में होना चाहिए। हालांकि, वैभव की मानें तो, 'विचारधारा से प्रत्यक्ष रूप से संचालित लेखन की उम्र तथा प्रभाव अक्सर कम होता है क्योंकि वहां रचनात्मकता से समझौता किये जाने का ख़तरा होता है। लेकिन विचारधारा की अस्वीकृति या अरुचिकर अतिरेकों के बावजूद विचारधारा फिर भी साहित्य-कला का पीछा नहीं छोड़ती, न ही साहित्य-कला विचारधारा से पूर्ण निरपेक्ष हो जाने की अवस्था को प्राप्त कर पाती है। वह इसलिए कि चूंकि पूरा समाज ही किसी-न-किसी रूप में वैल्यू सिस्टम पर टिका होता है, इसलिए कहानी या तो उसी मूल्य व्यवस्था का विस्तार करती है, या उसकी आलोचना प्रस्तुत करती है। वाल्टर बेंजामिन के ही शब्दों का सहारा लेकर कहें तो कहा जा सकता है कि 'कलाएं केवल आलोचनाओं को पैदा नहीं करती हैं, बल्कि स्वयं आलोचनात्मक कर्म की तरह होती हैं। कहानीकारों का यथार्थ अंततः इसी मूल्य-प्रणाली का अंग होता है।...यह भी समझना ज़रूरी है कि केवल विचारधारा के बल पर अच्छी कहानी नहीं लिखी जा सकती।' बहुत पहले रामविलास शर्मा ने भी कहा था कि साहित्य केवल विचार नहीं है, बल्कि वह भावबोध भी है और इंद्रियबोध भी। विचार पुराने भी पड़ जाते हैं और युग के अनुसार सीमित भी हो जाया करते हैं, लेकिन इंद्रियबोध सबसे टिकाऊ होता है।

यदि ध्यान से देखें तो साहित्य में विचारधारा का सारा झगड़ा दृष्टिकोण से जुड़ा हुआ मालूम पड़ता है। कभी-कभी लेखक का दृष्टिकोण विचारधारा की प्रतिबद्धता से जुड़कर भावशून्य हो जाया करता है। किंतु यह कहकर हम विचारविहीन साहित्य के प्रति सहमत नहीं हो सकते। साहित्य का विचारधारा से अनायास ही संबंध बन जाता है। हालांकि, बहुतायत में विचारधारा की अतिशयता भी कथा के प्रवाह में बाधक बनती है। इससे फ़िक्शन के

वैचारिक लेख में बदलने का ख़तरा तो अवश्य रहता है, किंतु फिर भी विचार से साहित्य की मुक्ति का मार्ग सदैव ही उसे शब्द-चमत्कार की ओर ले जाता है। साहित्य की बड़ी शक्ति, जो मनुष्य की चेतना को विकसित करने और उसे अधिक संवेदनशील बनाने की है, वह विचार-मुक्ति में नहीं है, बल्कि कला के विकास की समस्त प्रक्रिया विचार के अंतर्गुंफन पर ही निर्भर करती है। जिस रचना में यह अंतर्गुंफन नहीं होगा, वह निःसंदेह स्कूल के होमवर्क जैसा ही होगा। वैभव कहानियों पर विचार करते हुए इसे ही समझाते हैं। उनकी मानें तो कहानियां स्कूल का होमवर्क नहीं हैं। 'अच्छी कहानियां आज भी वही हैं जिन्हें पढ़ना स्कूल का होमवर्क करने या ज़िम्मेदारी की तरह न लगे बल्कि जिनमें भरपूर क़िस्सागोई हो। कहानी पढ़ना स्वयं में काम न हो बल्कि मनुष्य जिन ढेरों कामों में व्यस्त रहता है, कहानी पढ़ने के बाद उन्हें पूरा करने में आसानी हो। उनमें गप, विट, मौज-मस्ती और रूमानियत के गुण मौजूद हों। जो हमारे जीवन में बचे-खुचे आराम के पलों को भी बोझिल न बना दें। जो हमें समाज के बारे में इस मुश्किल ढंग से सचेत न करें कि हम यह मान लें कि समाज के बारे में सचेत होने की प्रक्रिया बड़ी जटिल होती है। उन्हें पढ़कर ऐसा नहीं लगना चाहिए कि हमारा समाज अबूझ पहेली है और हमारी कहानियां उसे सुलझाने के ऐतिहासिक मिशन पर निकली हैं और हमारा काम उस मिशन में योगदान देना है। कहानी किसी रहस्यमय घुड़सवार जैसी न लगे जो किसी पहाड़ पर सरपट भागा चला जा रहा है। एक सफल कहानी वह है जो हमारे भीतर चरित्र का बोध पैदा करती है।' दरअसल, साहित्य अपने से आंख मिलाने की ईमानदार कोशिश है। यहां वैभव की अच्छी कहानी-संबंधी धारणा से इतर भी सोचा जा सकता है और बहुत संभव है कि समकालीन कहानीकार उनके इस मुहावरे से परहेज़ करें।

दूसरी ओर, आलोचना के सामने अपनी साहित्यिक विधाओं के विकासक्रम की सटीक अभिव्यक्ति को पहचानने का भी संकट रहा है। कविता को लंबे समय तक काव्यशास्त्रीय टूलों से विवेचित किया जाता रहा है और अवकाश पा लिया गया है। किंतु इधर कथा के प्रकट हो जाने पर उसके मूल्यांकन के प्रतिमान अभी तक स्थिर नहीं हुए हैं। यह सवाल लगातार बना ही रहता है कि कहानी क्या होती है? क्या वे आधुनिकता में प्रकट हुई कोई नायाब और नयी चीज़ है या मिथकों की शक्ल में बहुत पहले से ही हम उन्हें सुनते-पढ़ते आये हैं? क्या वह कुछ निश्चित पात्रों-परिस्थतियों व घटनाक्रम का विकासक्रम मात्र है या फिर किसी विशेष अंतर्दृष्टि से युक्त एक पूरा रचना-विन्यास उसमें निहित होता है? वह ख़ास रूप से चयनित घटनाओं व परिस्थितियों की संभावनाओं का सटीक जोड़ तो नहीं है? वैभव लिखते हैं, 'कहानियां कभी चाकू या पिस्तौल नहीं होती हैं जो किसी निशाने की तरफ़ उठी हुई होती हैं, बल्कि वे मैग्नीफ़ाइंग ग्लास हो सकती हैं जो बहुत-सी संवादी-वादी-विवादी प्रवृत्तियों से बने समाज के अंतरंग व बहिरंग को प्रकट करती हैं।'

फिर सवाल यह है कि इस तरह कि कहानियों में यथार्थवाद के क्या अर्थ हो सकते हैं? वैभव मानते हैं, 'कहानियों में यथार्थवाद का मतलब यथार्थ को उलट-पलटकर देखने, उसके धागों को उधेड़ने-सिलने, पुर्जों को खोलने-कसने की स्वतंत्रता है। हिंदी कहानी की विकास यात्रा भारतीय साहित्य में यथार्थवाद के विकास के साथ आरंभ हुई है।' अब सवाल उठता है, कहानी में प्रत्यक्ष जगत् की यथार्थवादी अभिव्यक्ति की प्रक्रिया क्या हो सकती है? वैभव लिखते हैं, 'प्रत्यक्ष जगत् से प्रभावित न होने, उसे अंतिम न मानने और उसकी जकड़न से मुक्त रहने से कहानी में भी यथार्थ की प्राप्ति की बेहतर संभावनाएं निहित होती हैं। इस प्रकार सत्य को अर्जित करने की इन्हीं दोनों प्रक्रियाओं पर कहानी निर्भर होती है जिसमें एक ओर वैज्ञानिक दृष्टि का प्रयोग होता है तो दूसरी ओर लेखक का विशिष्ट अंतःकरण होता है जो हर अनुभव सत्य को अपने तरीक़े से ग्रहण कर उसे कहानी में व्यक्त करता है। कहानी केवल निजी भावबोध व सामाजिकता के बीच संतुलन नहीं है, बल्कि कहानी वैज्ञानिक-वस्तुवादी दृष्टि तथा विशिष्ट अंतःकरण के बीच का संतुलन भी है।'

वैभव साहित्य पर आधुनिकता के प्रभावों का आकलन करते हुए इनके संबंधों की भी शिनाख़्त करते हैं।

उनके यहां यह सवाल बार-बार आता है कि 'साहित्य और आधुनिकता' कैसे एक दूसरे से जुड़े हैं? यह सर्वविदित है कि आधुनिकता ने व्यक्तिवाद, शिक्षा, स्त्री-स्वतंत्रता और शहरी समाज के उदय को आधुनिकता के बड़े लक्षणों के तौर पर पहचाना था। इसके कारण ही दुनिया में तमाम विमर्श उपजे थे और साहित्य के किसी केंद्रीय पाठ के बजाय उसके अनेक बहुस्तरीय पाठ किये जाने लगे। साहित्य को अभिव्यक्ति देने वाले महाख्यान भी बदले। एक समय मार्क्सवाद जिस तरह महाख्यान का रूप धारण किये था, वह भी दूसरे अनुशासनों से चुनौती पाने लगा। यही वह समय था जब दुनिया ने केंद्र के रिड्यूस होने का जश्न मनाया, किंतु पूंजी फिर केंद्रीय भूमिका में चली आयी। आज विमर्शवाद के चलताऊ शब्द समकालीनता पर थोपे जा रहे हैं। वैभव मानते हैं, 'आज कहानी को युवा या समकालीन कहानी के नाम से पुकारा जाता है। विमर्शवाद भी चलताऊ शब्द है जबकि विमर्श में केवल दलित-स्त्री साहित्य ही आता है। ज़्यादा अच्छा तो होगा कि अन्य विधाओं को ध्यान में रखते हुए इस साहित्य-युग को 'विविधतावाद' के नाम से पुकारा जाये क्योंकि आज का युग भले ही बाज़ार के कारण अपनी सांस्कृतिक बहुलता को खो रहा हो और व्यवस्थाएं इंसान के संकट को कम न कर पा रही हों पर वही युग कई क्षेत्रों व संस्कृतियों से उपजी प्रतिभाओं को सामने ला रहा है। भारतीय लोकतंत्र सत्ता के शीर्ष पर बैठे चंद नामों से भले ही अब भी पहचाना जाता है, लेकिन राजनीतिक एकाधिकारवाद के ख़तरों के बावजूद फ़िलहाल ज़मीनी स्तर पर जारी भागीदारीमूलक प्रक्रियाओं से भी पहचाना जाने लगा है। सत्ता और विमर्श में प्रतिभागी होने और बहुलतामूलक परिदृश्य रचने की यह आकांक्षा कथाओं तथा अन्य साहित्य-विधाओं में विषयगत तथा विचारगत बहुलता के रूप में प्रकट हो रही है। कोई अगर वैचारिक ढंग से संकीर्ण या बौद्धिक अनुदारता का शिकार नहीं है तो वह उल्लासपूर्वक हाथ फैलाकर इन प्रवृत्तियों का स्वागत करेगा।'

वैभव की मानें तो, समस्त सामाजिक बाधाओं के बावजूद हमें भूलना नहीं चाहिए कि लोक व्यवहार और मर्यादा को श्रेष्ठ जीवन आदर्श मानने की बात तो हर समाज कहता है, पर एक कहानीकार इस आदर्श का अतिक्रमण करके ही श्रेष्ठतम रच पाता है। उसकी सफलता लक्ष्मण रेखाओं को लांघने और दीवारों में सेंध लगाकर उनके पार जाने में ही निहित होती है। इस पुस्तक में वैभव का यही समाजशास्त्रीय पैमाना उनके कहानी-मूल्यांकन का आधार रहा है।

उक्त पुस्तकों के अध्ययनोपरांत यह कहा जा सकता है कि अब कहानी-आलोचना के लिए सबसे निर्णायक समय आन खड़ा हुआ है। उसे व्यावहारिक व सैद्धांतिक, दोनों ही मोर्चे पर हिम्मत व जवाबदेही के साथ लड़ना है। यह समय केवल किसी कहानी के पक्ष में खड़ा होने का नहीं, बल्कि उसके भीतर छिपे मुखौटों से लड़ने का भी है। ये किताबें उसका रास्ता प्रशस्त करती अवश्य महसूस होती हैं।

मो. 9466948355

पुस्तक संदर्भ

1. *भूमंडलीकरण, बाज़ार और समकालीन कहानी* : अरुण होता, नेशनल पब्लिशर्स, जयपुर, 2019
2. *भूमंडलोत्तर कहानी* : राकेश बिहारी, आधार प्रकाशन, पचकुला, 2020
3. *कथालोचना के प्रतिमान* : रोहिणी अग्रवाल, आधार प्रकाशन, पचकुला, 2020
4. *हिंदी कहानी की इक्कीसवीं सदी : पाठ के पास/पाठ से परे* : संजीव कुमार, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2019
5. *कहानी : विचारधारा और यथार्थ* : वैभव सिंह, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2020

'सैर कर दुनिया की ग़ाफ़िल'

अनिरुद्ध कुमार

हाल ही में आयीं तीन यात्रा-संस्मरण संबंधी पुस्तकों, दूर *दुर्गम दुरुस्त* (उमेश पंत), *सियाहत*(आलोक रंजन) और शिमला डायरी (प्रमोद रंजन) में भारत की विभिन्न संस्कृतियों को जानने-समझने का प्रयास किया गया है। दूर *दुर्गम दुरुस्त* पूर्वोत्तर भारत की यात्रा पर लिखी गयी है जबकि *शिमला डायरी* उत्तर भारत और *सियाहत* दक्षिण भारत की यात्रा पर लिखी गयी है। आलोक रंजन अपनी नौकरी के सिलसिले में दक्षिण भारत में जाते हैं और वहां के जीवन को क़रीब से जानने का प्रयास करते हैं। प्रमोद रंजन नौकरी की तलाश में उत्तर भारत के पर्वतीय क्षेत्र (शिमला) में जाते हैं जबकि उमेश पंत वर्षों से संरक्षित पूर्वोत्तर को जानने की इच्छा के कारण पूर्वोत्तर की यात्रा पर निकल पड़ते हैं। जीवन की ज़रूरतों के अनुसार इन लेखकों की ये दृष्टियां भी इनकी पुस्तकों में भी वैसे ही देखने को मिलती हैं।

आलोक रंजन *सियाहत* के माध्यम से दक्षिण भारत के सांस्कृतिक जीवन को बड़ी खूबसूरती से सामने रखते हैं। दक्षिण भारतीय जन-जीवन और संस्कृति पर हिंदी में लिखी गयी यह एक बेहतरीन पुस्तक है। इसके माध्यम से वे केरल के सुंदर और सजीव सांस्कृतिक जीवन का चित्रण करते हैं। वहां की सड़कों, नदियों, बारिश, खेत-खलिहान खान-पान, रहन-सहन आदि का सुंदर चित्र खींचते हैं। बहुत क़रीने से हर एक चीज़ का वर्णन करते हैं जिसमें वहां की संस्कृति के प्रति सम्मान झलकता है, दक्षिण भारत आलोक रंजन के लिए कोई दूसरा देश-प्रदेश नहीं, बल्कि उन्हें अपना लगता है। उसी तरह प्रमोद रंजन भी हिमाचल को आत्मीयता से देखते-समझते हैं। उमेश पंत की, दूर *दुर्गम दुरुस्त* के बारे में यह कहना मुश्किल है। आलोक रंजन हिमाचल के लोगों के आयुर्वेद के ज्ञान की प्रशंसा करते हैं, जो लोगों में पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होता आ रहा है। तीनों लेखकों ने खानपान के साथ ही उनके आतिथ्य भाव की भी तारीफ़ की है, जिसका अभाव उत्तर भारत में दिखायी देता है।

1. *सियाहत*

मलयालम कवि ओ. एन. वी. कुरुप की मृत्यु के बाद उनकी श्रद्धांजलि में जगह-जगह लगे पोस्टरों और पान, ताड़ी की दुकानों पर हो रही चर्चा को देखकर लेखक महसूस करता है कि एक कवि की पहुंच कितनी हो सकती है : 'बीकौज़ ही वाज़ ए पोयट ऑफ़ ओर्डिनरी मैन विद ओर्डिनरी आइडियास'। ये पंक्तियां ताड़ी की दुकान पर बैठे हुए लोगों से लेखक को उस जनकवि के बारे में सुनने को मिलती हैं। आप अंदाज़ा लगा सकते हैं कि उस संस्कृति में कवि और उसके पाठकों का क्या संबंध है! आलोक रंजन इन सबके माध्यम से वहां के लोगों के सांस्कृतिक जीवन को दिखाते हैं। आलोक रंजन ने अपनी यात्राओं के दौरान देखा कि केरल में लोग सिर्फ़ अपने बारे में ही नहीं, बल्कि प्रकृति के बारे में भी सोचते हैं और जंगल के भीतर रहने वाले जानवरों की सुरक्षा के बारे में भी सोचते हैं। ऐसा पूर्वोत्तर भारत में भी देखने को मिलता है। केरल का मरायूर चंदन की लकड़ी के लिए प्रसिद्ध है और वहां जाने के बाद लेखक को पता चलता है कि रहीम के दोहे वाली बात मिथकीय है कि 'चंदन विष व्यापत नहीं लिपटे रहत भुजंग'। वहां पहुंच कर लेखक ने जाना कि चंदन के पेड़ पर सांप होते ही नहीं। रहीम के दोहे की बात सुन कर वहां के

लोग खूब हंसे। आलोक रंजन ने दक्षिण भारत के प्रसिद्ध समुद्र तटों गुंटूर, कन्याकुमारी, कोवलम, वर्कला, ओम आदि का भी बड़ा ही मनोरम दृश्य पाठकों के सम्मुख उकेरा है। पढ़ते हुए ऐसा लगता है कि सचमुच सारे समुद्र तट सामने ही विद्यमान हैं। ईसाई धर्म को लेकर लेखक के मन का पूर्वग्रह तब दूर हो जाता है जब वे केरल के एक क़स्बे में ईसाई धर्म को क़रीब से देखते हैं।

दक्षिण से उत्तर भारत की रेल यात्रा के समय वे बताते हैं कि रेल में आरक्षित सीटों पर लोकल सवारियों का अनारक्षित टिकट लेकर बैठना उत्तर भारत के जैसा ही है, किंतु उत्तर भारतीय नवयुवकों की लफंगई और छेड़छाड़ वहां कहीं नहीं है। यहां तक कि पूर्वोत्तर भारत में भी नहीं। केरल के साथ साथ ही आलोक रंजन आंध्र प्रदेश, कर्नाटक और तमिलनाडु के जीवन और संस्कृति का चित्रण करते हैं। वे एन.एच.-49 के अंतिम छोर पर तमिलनाडु राज्य के अंतर्गत पड़ने वाले धनुष्कोटि नामक बस्ती जो कि भीषण चक्रवाती तूफ़ान के कारण अब खंडहर हो चुकी है, की यात्रा भी करते हैं।

'तेरा' गांव के रहने वाले 22 वर्षीय सुगु से न्योता पाकर लेखक आदिवासी गांव में एक मेहमान की तरह प्रवेश करते हैं और वहां सुगु की मां के हाथों का परोसा हुआ खाना उसी रवायत के साथ पाते हैं जैसे हर जगह की मां खिलाती है। 'तेरा' गांव की यात्रा एक ऐसी कठिन यात्रा थी जिसमें अनेक पहाड़, नदी और जंगल पार करके खेत खलिहानों के रास्ते हाथियों के झुंडों से बचते पैदल भी रास्ता तय करना पड़ा था। आलोक रंजन 'तेरा' गांव के आदिवासी जीवन का, उनके रहन सहन का,आतिथ्य का, खेल-नृत्य का मोहक चित्रण करते हैं। वहां के लोगों की आत्मीयता का अंदाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि वहां से लौटने के समय जब जीप नहीं मिली तो गांव के लोग दुर्गम रास्तों को पार करते हुए इन्हें सकुशल नदी तक छोड़ने साथ-साथ आये थे।

आलोक रंजन उत्तरी कर्नाटक की भी यात्रा करते हैं और होसपेट(हम्पी), ऐहोल, बीजापुर, बादामी, की यात्राओं का वर्णन करते हैं। कृष्णदेव राय के विजय नगर साम्राज्य के हम्पी पहुंचकर वहां के सूर्योदय का चित्र उकेरते हैं। वहां से भालुओं के अभयारण्य को देखने के लिए आलोक रंजन 60 किमी. आने जाने की अद्भुत रोमांचकारी साइकिल यात्रा करते हैं। इन सारे अनुभवों को पढ़ते हुए ही रोमांच हो आता है। आलोक रंजन ने दक्षिण भारत की एक मुकम्मल तस्वीर पेश की है। जैसा देखा, जैसा महसूस किया बिलकुल वैसी ही तस्वीर। यात्राकारों के लिए यह एक ज़रूरी बात होती है कि यात्रा के दौरान वे वहां की संस्कृतियों का निरपेक्ष चित्रण करें बिना किसी पूर्वग्रह के और आलोक रंजन ने इसे बेहतर ढंग से निभाया है।

2. *दूर दुर्गम दुरुस्त*

उमेश पंत की *दूर दुर्गम दुरुस्त* कहने को तो पूर्वग्रहों के पार पूर्वोत्तर की यात्रा है लेकिन वे उत्तर भारत के श्रेष्ठतावादी पूर्वग्रहों से मुक्त नहीं हो सके हैं। लेखक टूरिस्टों की भांति ही पूर्वोत्तर के बारे में पूर्वग्रहों से प्राप्त संशय, भय एवं अहंकार से हमेशा ग्रसित रहते हैं। पूर्वोत्तर के बारे में ज़्यादातर बातें लेखक ने पूर्वोत्तर की यात्रा करने वाले अपने साथियों, अंकुर और राजन, से प्राप्त जानकारियों के आधार पर लिखी हैं। लेकिन पूर्वोत्तर के बारे में बताये गये तथाकथित इतिहास की पड़ताल करना आवश्यक नहीं समझा। यात्रा आरंभ करने के समय ट्रेन में पूर्वोतर भारत के उस लड़के का जो कि अच्छी ख़ासी हिंदी बोल रहा था, उत्तर भारतीय लोगों के साथ शामिल न होना, अलगाववाद के कारण नहीं था बल्कि उसकी अपनी शांति भंग न हो, इस कारण था। पूर्वोत्तर का जीवन बहुत शांतिप्रिय है और यहां के जीवन में ख़लल मुख्य भूमि के लोग और वहां की सेना डालती है जिसे वे बाहरी कहते हैं।

उमेश पंत न जाने क्यों अपनी पूरी यात्रा के दौरान भय और संशय से ग्रस्त दिखते हैं। उनके इस भय का कारण पूर्वोत्तर के बारे में व्याप्त कथित अलगाववाद की भ्रामक समझ है। लेखक पूर्वोत्तर के बारे में अनजान हैं, यह

स्वीकार तो करते हैं लेकिन उनके भय के कारण उनके पूर्वग्रह ही हैं, उसी भय के कारण ही शाम ज़्यादा हो जाने के कारण वे अकेले कामाख्या मंदिर देखने नहीं जाते और बस से उतर जाते हैं। बाद में दोस्त अंकुर के आ जाने के बाद वे ओला टैक्सी में बैठकर मंदिर देखने जाते हैं। गुवाहाटी के जीवन को लेखक बड़े ही अचंभित भाव से देखते हैं जिसकी उत्तर भारत में कल्पना ही नहीं की जा सकती। स्त्रियों के प्रति वहां वैसा पूर्वग्रह नहीं है, जैसा उत्तर भारत में देखने को मिलता है। यहां की महिलाओं के आत्मविश्वास को लेखक कुछ इस तरह से कलमबद्ध करते हैं : 'सड़कों पर शांति मार्च करते हुए भी उनके चेहरे पर वही आत्मविश्वास दिखता है, जो रात के आठ बजे सिटी बस में बेखौफ़ चढ़ते-उतरते हुए। यहां सड़कें महिलाओं को एक अदृश्य डर का आवरण अपने चेहरे पर ओढ़ने को मजबूर नहीं करतीं। उनके होठों पर कितनी गहरी लिपस्टिक है इससे सामने वालों की नज़रों पर कोई असर नहीं होता'। वास्तव में, सिर्फ़ इस मामले में ही नहीं, हर मामले में संपूर्ण पूर्वोत्तर भारत संपूर्ण उत्तर भारत से ज़्यादा प्रगतिशील है। और इसका श्रेय यहां की माताओं को जाना चाहिए जिन्होंने यहां के पुरुषों को बचपन से ही इंसान बनना सिखाया।

लेखक ने पूर्वोत्तर को समझने के लिए दो बार यात्रा की। पहली यात्रा लगभग 20 दिन की रही जिसमें वे गुवाहाटी, शिलांग, तेज़पुर, तवांग, जोरहाट, माजुली, का सफ़र करते हैं। लेकिन पूर्वोत्तर की सांस्कृतिक विविधता इतनी विशाल है कि कुछ महीनों के बाद लेखक पूर्वोत्तर को जानने के लिए दूसरी बार यात्रा करते हैं जिसमें वे गुवाहाटी से दिमापुर, कोहिमा, किग्विमा, किसामा, जूको वैली, इम्फ़ाल, आदि जगहों का सफ़र करते हैं। लेखक द्वारा ज़्यादातर वे ही जगहें देखी गयी हैं, जो दूर दूर के पर्यटक देखने आते हैं। जैसे कि मावलीलॉन्ग गांव, रूट ब्रिज, चेरापूंजी, बांग्लादेश से सटा डावकी बार्डर, माजुली नदी द्वीप, जूको वैली इत्यादि। लेकिन इन सब जगहों की यात्रा करके आप पूर्वोत्तर भारत की संस्कृति को क़रीब से नहीं जान सकते, हां ऊपर ऊपर से सिर्फ़ देख भर सकते हैं। पूरी यात्रा में लेखक के अंदर हमेशा एक आशंका, एक भय बैठा रहता है, कि कहीं उन्हें कोई ठग न ले, कोई नुक़सान न पहुंचा दे। जबकि पूर्वोत्तर ने इसके उलट उनका आत्मीय स्वागत किया। स्त्री-पुरुष की सीमा के परे लोगों ने इन्हें भटकने पर हमेशा सही रास्ता बताया। यह ही पूर्वोत्तर की ख़ास बात है। निश्छल जीवन जिसमें उन सबके लिए भरपूर प्यार है जो उन जैसे ही निश्छल हैं। पूर्वोत्तर के बारे में लेखक ने यहां के लोगों के बजाय ज़्यादातर उन लोगों के ज़रिये जाना जो खुद उत्तर भारत से हैं जिनमें इनके कुछ दोस्त, रास्ते में मिले लोग, टैक्सी के ड्राइवर आदि हैं, जो पूर्वोत्तर के बारे में अपनी-अपनी राय रखते हैं। इन जगहों की खूबसूरती के साथ-साथ यहां रहने वाले लोग भी वैसे ही मन से भरपूर खूबसूरत हैं।

किताब में दिये गये संदर्भों से इस बात का सहज अंदाज़ा लगाया जा सकता है कि इसे लिखने में किस प्रकार के संदर्भों का सहारा लिया गया है। पुस्तक में दिये गये पूर्वोत्तर भारत का ज़्यादातर इतिहास इंटरनेट या विक्कीपीडिया से लिया गया है, जिनकी प्रामाणिकता सदैव संदिग्ध बनी रहती है। अच्छा होता यदि लेखक खुद से पूर्वोत्तर के इतिहास, संस्कृति, समाज आदि के बारे में लिखी श्रेष्ठ लेखकों की बेहतर किताबें पढ़कर जाता और यहां के दूर-दराज़ में रहने वाले लोगों से बात करके यहां के जन-जीवन को जानने का प्रयास करता।

3. *शिमला डायरी*

आलोक रंजन के *सियाहत* की ही तरह प्रमोद रंजन उत्तर भारत के जन-जीवन और संस्कृति को *शिमला डायरी* के माध्यम से सामने लाते हैं। प्रमोद रंजन की *शिमला डायरी* मात्र डायरी नहीं है। पांच खंडों में लिखित डायरी के रूप में यह पुस्तक डायरी के साथ-साथ ही कविता, कहानी, आलोचना, टिप्पणियां और हिमाचल के मौखिक इतिहास का अनोखा दस्तावेज़ भी है। पहाड़ों की ओर लोग प्रायः घूमने-फिरने या शांति की तलाश में जाते हैं। प्रमोद रंजन पहाड़ों की ओर स्वप्नों की तलाश में गये थे, न कि हिमालय में मुक्ति पाने के लिए, जैसाकि धार्मिक प्रवृत्ति के लोग जाते हैं।

इन पहाड़ों से ही वे अपने लेखकीय और पत्रकार जीवन के संघर्ष का आरंभ करते हैं। *तेरा गांव* में जैसे सुगु ने आलोक रंजन को वहां की दुनिया से रूबरू करवाया था, वैसे ही यहां मंडी शहर के रहने वाले सैन्नी अशेष ने प्रमोद रंजन को जीवन की वास्तविकताओं से अवगत कराया। अपने हिमाचल प्रवास के बारे में प्रमोद रंजन लिखते हैं कि 'यह कहानी मेरे हिमाचल प्रवास तक सीमित है भी नहीं। इसके सिरे हमारे समय की उन विडंबनाओं से भी जुड़ते हैं, जो बहुसंख्यक आबादी की नैसर्गिक आज़ादी छीन रही हैं और उन्हें एक अंतहीन दौड़ में शामिल रहने के लिए विवश कर रही हैं। यह *शिमला डायरी* उसी के प्रतीकार को दर्ज़ करने कि एक कोशिश है'।

शिमला प्रवास के दौरान पत्रकार बनने से पूर्व प्रमोद रंजन अपने गहन अध्ययन को जारी रखते हुए लगातार कुछ न कुछ पढ़ते रहते हैं और उन पर अपनी टिप्पणियां दर्ज़ करते हैं। मसलन, प्रमोद रंजन 2005 में ही पत्रकारिता के घिनौने पक्ष को उजागर करते हुए कहते हैं, 'पत्रकारिता का पूरा माहौल इस तरह का है कि जीना है तो किसी न किसी का पालतू बनना ही पड़ेगा- अब यह आप पर निर्भर करता है कि इस श्रेणीबद्ध पालतू शृंखला में आप स्वयं को कहां-कितना ऊपर या नीचे फ़िट कर पाते हैं! यह पेशा बेहद तेज़-तर्रार, शातिर पालतुओं के आधिपत्य में है'। कहना न होगा कि आज के समय में पत्रकार चाटुकार हो गया है और पत्रकारिता चाटुकारिता। लेकिन प्रमोद रंजन तब भी अडिग हैं और उन्हें यह चाटुकारिता स्वीकार्य नहीं। 15 वर्ष पूर्व कही हुई लेखक की यह बात कितनी सटीक और सत्य है, इसका अंदाज़ा हम आज की पत्रकारिता को देखते हुए सहज ही लगा सकते हैं। पत्रकारिता का स्तर अब कहां है, यह किसी से छुपा नहीं है- 'दूसरी ओर, *दैनिक भास्कर* के लिए नये ब्यूरो प्रमुख के साथ मैं किसी क़ीमत पर काम करने के लिए तैयार नहीं। उसने दफ़्तर ज्वाइन करते ही सभी पत्रकारों को संबोधित करते हुए कहा था : 'काम करना हो तो करें, नहीं तो अभी बाहर जायें। अभी के अभी 2-2 हज़ार पर 10 रिपोर्टर रख लिये जायेंगे। ...शहर को फ़ोकस करें। लड़कियों के बिंदास फ़ोटो लायें। पारिचर्चाएं करें। चमकते चेहरों की। यह नहीं कि किसी एससी/एसटी की फ़ोटो ले आयें..'। यह 15 वर्ष पूर्व दर्ज डायरी की बात है। संघर्ष ऐसे ही संघर्ष नहीं कह दिया जाता। संघर्षों की ये स्मृतियां लेखक के मन में ऊभ-चूभ मचाती रहती हैं। हर सच्चे लेखक के साथ ये मनःस्थितियां आती हैं : 'दिमाग़ में कई जुमले कौंध रहे हैं : सड़क किनारे पकौड़ी बेचने से लेकर इस देश को चलाने तक कुछ और भी कर सकता हूं, डॉक्टर ने तो कहा नहीं कि पत्रकार ही बनूं।...मुझे मूर्ख बनाते हुए आप यह समझें कि मैं एकदम मूर्ख हूं, इससे बड़ी मूर्खता क्या हो सकती है? ...विवाद फैलाना चाहते हो तो खरा-खरा सच लिख दो, बस। सच से ज़्यादा विवादास्पद कुछ नहीं होता।... पत्रकारिता में सफल होने का एक नुस्ख़ा : चुप्पा बनो। पक्ष-विपक्ष में कुछ भी बोलने से परहेज़ रखो'।

प्रमोद रंजन इन सब परिस्थितियों से हार नहीं मानते और अगली सुबह फिर से कमर कस कर तैयार हो जाते हैं। पत्रकारिता के संघर्ष के इन्हीं दिनों, मशहूर हिंदी दैनिक, *दैनिक भास्कर* के स्थानीय संपादक के द्वारा, बिहारीपन के ऊपर किये गये टोंट 'यह बिहारी कहां जा रहा है' के माध्यम से प्रमोद रंजन समाज के हर क्षेत्र में व्याप्त क्षेत्रीयता के वर्चस्व की ओर इशारा करते हैं। अपनी डायरी के माध्यम से प्रमोद रंजन व्यक्ति, परिवार और समाज के संदर्भों में परिवारों में व्याप्त भारतीय सामंती मानसिकता को दर्शाते हैं, जो हमारे देश की नस-नस में व्याप्त है। 1 मई, मज़दूर दिवस के दिन घास पर खिले छोटे छोटे सफ़ेद फूलों के बिंबों के माध्यम से वे मज़दूर जीवन की ऊर्जा को महसूस करते हैं। पत्नी द्वारा बेटी के कान-छेदन जैसी ग़ैरज़रूरी परंपरा का पारिवारिक स्तर पर विरोध इनके सशक्त स्त्री विमर्श को दर्शाता है। अपने इन्हीं विचारों के माध्यम से वे ईश्वरीय धारणा के बरक्स वैज्ञानिक और वास्तविक सोच पर ज़ोर देते हैं।

डायरी के दूसरे खंड में प्रमोद रंजन ने कई कविताएं और एक कहानी लिखी है। ये कविताएं आधुनिक जीवन संघर्षों और विमर्शों के मध्य गोते लगाते एक आधुनिक मनुष्य की जीवन गाथाएं हैं, जिनके माध्यम से वे इस

समाज में सदियों से व्याप्त जात-पांत, छुआछूत और धार्मिक कुप्रथाओं पर बड़े ही दार्शनिक तरीक़े से प्रहार करते हैं। उनकी कविताओं में परिवार एक पतवार की तरह हमेशा उनके साथ मौजूद मिलता है। इनकी कविताओं में राजनीतिक व्यंग्य भी खूब देखने को मिलता है ... 'शिमला में हिमपात' कविता में प्रमोद रंजन लिखते हैं :

ठंड बढ़ रही है
बादलों को पुकार रहे देवदार
आज बर्फ़ गिरेगी
धोती में लिपटे बापू
इंदिरा ने भी नहीं डाला पल्लू
हाय इन्हें तो ठंड लगेगी
आज बर्फ़ गिरेगी

डायरी में 'रामकीरत की रीढ़' नाम से पत्रकारिता के जीवन को बेबाक़ी से चित्रित करने वाली एक दिल छू लेने वाली कहानी है।

डायरी का तीसरा खंड आलोचना को समर्पित है जिसमें समकालीन कवियों केदारनाथ सिंह, राजेश जोशी, मंगलेश डबराल, लीलाधर जगूड़ी, पवन करण, गगन गिल, मिथिलेश श्रीवास्तव, कुलराजीव पंत, अनूप सेठी और अन्य लेखकों पर टिप्पणीपरक लेख हैं। अपनी आलोचना में प्रमोद रंजन हिमाचल में हिंदी की दशा एवं दिशा पर गंभीर विचार करते हैं। कहना न होगा कि ये टिप्पणियां इन रचनाकारों के गूढ़ रचनाकर्म और व्यक्तित्व को उद्घाटित करती हैं।

डायरी के चौथे खंड में समाचार पत्रों के लिए लिखी गयी टिप्पणियां हैं जिनके माध्यम से प्रमोद रंजन ने शिमला में हुए नाटकों के मंचन, संगोष्ठियों और अन्य साहित्यिक गतिविधियों का आकलन किया है।

पांचवें खंड में प्रमोद रंजन हिमाचल के उन दुर्गम क्षेत्रों की यात्रा करके हिमाचल के मौखिक इतिहास को संजोने का प्रयास करते हैं जिनकी भौगोलिक स्थिति, समाज-व्यवस्था और संस्कृति दुनिया के अन्य हिस्सों से अलग है। ये इलाक़े भारी बर्फ़बारी के कारण साल में लगभग आठ महीने दुनिया के अन्य हिस्सों से कटे रहते हैं। इनमें किन्नौर, लाहौल स्पीति और चंबा के पांगी क्षेत्र प्रमुख हैं। इन क्षेत्रों में मुख्यतः बौद्ध धर्म प्रचलित है लेकिन साथ ही प्राचीन काल से चला आ रहा बहुदेववाद भी उतना ही प्रभावी है। यहां का बहुदेववाद आधुनिक हिंदू धर्म से अलग है तथा हिमालय की विशिष्ट आदिवासी परंपराओं का हिस्सा है। लेखक ने इन क्षेत्रों के दर्जनों स्थानीय लोगों से लंबी बातचीत की तथा उनके माध्यम से उन लोगों के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की विशिष्टताओं को दर्ज किया है। मौखिक इतिहास के इस खंड में चार साक्षात्कारों के रूप में उस संपूर्ण क्षेत्र के जन-जीवन को सिलसिलेवार पेश करने का प्रयास किया है। पुस्तक का मौखिक इतिहास वाला यह खंड काफ़ी रोचक लगता है। निश्चय ही यह लेखक की अन्य संस्कृतियों के प्रति जागरूकता को दर्शाता है। और हम सबको यह जानना भी चाहिए कि मुख्य भूमि से दूर पर्वतीय क्षेत्र के लोगों का जीवन कैसा होता है, जैसे कि किन्नौर में बहु-पति प्रथा पायी जाती है। साथ ही इन साक्षात्कारों के माध्यम से महायान के विश्वासों, वंचित समुदाय के प्रति उसके नज़रिये तथा बहु-पति प्रथा में स्त्रियों की दयनीय स्थिति का भी पता मिलता है। इन साक्षात्कारों में इन क्षेत्रों में बने जोमो गोम्पा में भिक्षुणियों पर लगी पाबंदी और कर्मकांडों की भी चर्चा है। *शिमला डायरी* वास्तव में साहित्य की एक उपलब्धि है। यह एक लेखकीय जीवन के संघर्षों और उसके साहित्यिक अवदानों का इस्पाती दस्तावेज़ है।

इन सभी लेखकों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से भारतवर्ष के अलग-अलग क्षेत्रों की संस्कृतियों को दिखाने का सार्थक प्रयास किया है। तमाम जोख़िम और बाधाओं को उठाकर इन लेखकों ने भारत के विभिन्न समाजों और संस्कृतियों का चित्रण करके उनमें एकरूपता तलाशने का जो सराहनीय प्रयास किया है उसके लिए ये

साधुवाद के योग्य हैं। इनकी रचनाएं आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए निश्चय ही प्रेरणा का कार्य करेंगी और जीवन को अनेक आयामों में देखने और उन्हें स्वीकार करने का मार्ग प्रशस्त करेंगी।

मो. 9435298492

पुस्तक संदर्भ

1. *सियाहत* : *यात्राएं ख़त्म नहीं होतीं* : आलोक रंजन, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, 2018

2. *दूर दुर्गम दुरुस्त (पूर्वग्रहों के पार पूर्वोत्तर की यात्रा)* : उमेश पंत, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2020

***3. शिमला डायरी*: प्रमोद रंजन, मार्जिनलाइज्ड पब्लिकेशन, दिल्ली, 2019**

विशेष स्मरण

शब्द और संगीत के स्वर-साधक रमेश रंजक

अजय बिसारिया

'मैं हूं उस धरती का बेटा, जिसका नाम अलीगढ़ एटा'—रंजक जी से ये पंक्तियां सुनने का स्मरण है। अलीगढ़-एटा और वृहत्तर रूप से समूचा ब्रज-अंचल रमेश रंजक के सामाजिक और कवि व्यक्तित्व का केंद्र-बिंदु है। जब उन्होंने कविता लिखना आरंभ किया तो मंच के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि बलवीर सिंह 'रंग' थे, जिनकी काव्य-प्रतिभा की सब ओर धूम थी। दुष्यंत कुमार से लेकर रमेश रंजक तक अनेक (उनके समक्ष) युवा कवियों को उनका सहज स्नेह और अभिभावकीय मार्गदर्शन प्राप्त था। 1953-54 के सोरों कवि-सम्मेलन में रंजक जी को मंच पर लाने का श्रेय उन्हीं को है।[1]

अलीगढ़ में उस दौर में छेदालाल 'मूढ़', निरंजन लाल 'लट्ठ' और साहब सिंह मेहरा के ब्रज में लिखे लोकगीतों की धूम थी। परवर्ती काल में गोपालदास 'नीरज' ने मंच पर लोकप्रियता की ऊंचाइयों को छुआ, तो रवींद्र भ्रमर ने नवगीतकार के रूप में ख्याति अर्जित की। मेरे पिता रमेश बिसारिया, ज्ञानेंद्र अग्रवाल, मनमोहन तिवारी आदि स्थानीय पत्रों में और मंचों पर लोकप्रिय थे। बचपन में कई बार पिताजी की घरेलू गोष्ठियों में रंजक जी, प्रेमशंकर जी आदि को देखा ज़रूर था, पर कुछ विशेष स्मरण नहीं।

1982 में जनवादी लेखक संघ की स्थापना हुई। अलीगढ़ इकाई का मैं भी स्थापना-सदस्य बना और सह-सचिव भी। प्रो. कुंवरपाल सिंह के नेतृत्व औ मार्गदर्शन में अलीगढ़ साहित्यिक गतिविधियों का सबसे सक्रिय केंद्र बना। बड़े-बड़े समारोहों के साथ-साथ प्रायःअलीगढ़ पधारने वाले साहित्यिकों के सम्मान में अनेक छोटी-बड़ी गोष्ठियां होती रहतीं।

शायद 1985 की बात है, रंजक जी अलीगढ़ पधारे। दो-तीन दिन का नगर-प्रवास और फिर अपने गांव। वे डॉ. पुष्पेंद्र कुमार शर्मा के आवास पर ठहरे थे, जहां मैं और पुष्पेंद्र जी संध्याकाल में नित्य ही उनसे चर्चा-परिचर्चा करते। उनका काव्य-पाठ भी जलेस की ओर से आयोजित किया गया था। अब उन्हें नज़दीक से जानने-सुनने-समझने का मौक़ा मिला। वे समय के हिसाब से बहुत अधिक स्पष्टवादी, सामने वाले को बुरी लगने की हद तक दो टूक बात कहने वाले और साहित्य, विशेषतः कविता के क्षेत्र में कोई समझौता न करने वाले व्यक्ति थे। उनके स्वभाव में आवेग, बेचैनी और तीखापन था, जो आभिजात्य और शिष्टता का मुखौटा पहने रहने वाले लोगों को अक्खड़पन, अहंकार या हीनता-बोध लग सकता था। पर, वे अपने समूचे व्यक्तित्व में ख़ासे पारदर्शी, ज़मीन से जुड़े और साफ़गो इंसान थे। तभी आयोजित काव्य-गोष्ठी में उनसे सुना था:

जो बात धारदार है वो रूबरू कहो,
वरना बिगाड़ देंगे ये ज़ालिम दुभाषिये।

कविता की साधना में वे हरदम लगे रहते। अकेले या बातचीत के बीच भी उनको छंद और लय साधते और शब्दों का उनसे तालमेल बैठाते हम देखते थे। उन्हें इस संदर्भ में भवानी प्रसाद मिश्र बहुत प्रिय थे। उन्होंने मुझसे कहा भी था, 'भई, शब्द और भाव की लय में तो भवानी भाई का जवाब नहीं है।' फिर वे गुनगुनाने लगे, 'यहां दो फूल मुंह से मुंह सटाये बात करते हैं...।' उन्हीं 'भवानी भाई' का रंजक जी के बारे में यह विचार था: 'ऐसे कवि कम होते हैं जो

अपनी शैली बना दें, किसी दूसरे की शैली को छू दें तो वह अपनी हो जाये। रमेश रंजक ऐसे ही कवि हैं।'[2]

नवगीतकारों का दावा था कि उन्होंने छायावादी (उत्तरछायावादी भी) भावबोध, भाषा और शिल्प से गीत को मुक्त किया। लेकिन आप ग़ौर करें तो पायेंगे कि भावबोध से उनका आशय दर असल विषयगत विस्तार से है। अधिकांश गीतों में अब तेज़ी से बढ़े मध्यवर्ग की नवीन जीवन-स्थितियों के, सामाजिक विसंगतियों के और उनके बीच द्वंद्वग्रस्त व्यक्ति-मानस के बिंब दीख पड़ते हैं, मगर यह कहना शायद ग़लत न होगा कि उनका ट्रीटमेंट प्रायः रोमानी ही है। ये गीत कथ्य (विषय) के स्तर पर तो समय के यथार्थ को अभिव्यक्त करने का प्रयास करते हैं, किंतु यथार्थ की अभिव्यक्ति का स्वर काफ़ी हद तक रोमानी ही बना रहता है। यथार्थ को देखने की दृष्टि में रोमानियत बरक़रार रहती है। जन-जीवन में गहरी पैठ से बनी यथार्थ-दृष्टि, जो रोमानी भावबोध को तार तार कर डाले, के दर्शन रमेश रंजक जैसे कुछ ही गीतकारों में होते हैं। यहीं रंजक जी की अपनी शैली को चिह्नित किया जा सकता है; उदाहरणार्थ देखिए :

चला आया दिन जमाई-सा
इसे क्या दें

करें कैसे भाल पर टीका
टकों के बिन
चला आया दिन[3]

या फिर देखिए :

सुर्ख हुई कनपटी मकानों की
आंख खुली अंधे दालानों की
गुज़र गयी किरन चपत मारकर
अनबुहरे आंगन को पार कर
...
नंगी हो गयीं चारपाइयां
अलस भरी चूड़ियां बजीं
घुली-घुली मिट्टी में स्नान कर
कलमुंहीं अंगीठियां सजीं
सर्पित धूमिल मीनार पर
बैठ गया सन्नाटा हार कर[4]
या
पोंछ पसीना
ली अंगड़ाई
थकी क्रियाओं ने
सौंप दिये
मीठे संबोधन
खुली भुजाओं ने
जोड़ गया संदर्भ मनचला मौसम हरा-भरा[5]

अर्थाभाव से ग्रस्त गृहस्थ के लिए दिन की 'जमाई' से तुलना, 'कलमुंही अंगीठियों के घुली हुई मिट्टी से स्नान कर

कुछ भी पका देने से हार बैठा 'सन्नाटा' और 'शृंगार के स्थान पर पसीना पोंछ थकी हुई प्रिया को भुजाओं में लेना' ऐसे बिंब हैं, जो रोमानी भावबोध वाले मध्यवर्गीय रचनाकारों के यहां प्रायः अनुपस्थित मिलेंगे। अभावों के बीच भी ज़िंदगी को भरपूर जी लेने वाला श्रमिक-वर्ग या निम्न मध्यवर्ग रंजक जी की रचनाओं का केंद्र बिंदु है। उनकी काव्य-दृष्टि इन वर्गों (वास्तविकता के धरातल पर एक ही वर्ग) के जीवन-यथार्थ की गहरी समझ से विकसित हुई है। रचना का संवेदन-बिंदु चाहे जीवन-स्थितियों से जुड़ा हो या प्रकृति के रूप-सौंदर्य से, कवि की काव्य-दृष्टि उसमें परिलक्षित होती है :

लहरों पर रोशनी गिरी पानी में पड़ गयी दरार।
चांदी की
एक अरगनी बांध गयी कांपते कगार।[6]

इस सुंदर दृश्य-बंध में 'अरगनी' शब्द रंजक की इसी काव्य-दृष्टि को दर्शाता है। यह काव्य-दृष्टि लंबे जीवन-संघर्ष और रचनात्मक संघर्ष से उपजी है। इस संघर्ष में कवि ने बहुत कुछ झेला है, किंतु वह उस झेले हुए को अपने अहं की तुष्टि का उपादान नहीं बनाता और न ही दुनिया-समाज को कोसता है; वह तो उससे फिर नयी ऊर्जा ग्रहण करता है :

तुम्हारी चुप्पियों ने, फ़बतियों ने, गालियों ने भी
सुझाये रास्ते मुझको उजाले के - अंधेरे में।
नहीं तो टूट जाता मैं कलम के साथ घेरे में।।[7]

रंजक अगर टूटते नहीं हैं, तो उसका कारण है उनका आत्मसंघर्ष। वे हर आलोचना को अपने आत्मसंघर्ष का बिंदु बना डालते हैं, हर कठिनाई को भी और हर पीड़ा को भी। उनका आत्मसंघर्ष उन्हें व्यक्ति इकाई से समूह इकाई की ओर ले जाता है :

हम स्वयं संसार होकर हम नहीं होते
फूटते हैं रोशनी के इस कदर सोते
हर जगह से देह-पर्वत फोड़ जाते हैं
दिन हमें जो तोड़ जाते हैं
वे इकहरे आदमी से जोड़ जाते हैं।[8]

मगर, रंजक के यहां 'जुड़ना' जितना महत्त्वपूर्ण है, उतना ही स्पष्ट है 'इनकार' और 'अस्वीकार' :

ये महंगे दस्ताने मैंने हाथ नहीं माने
लाख बार समझौते लेकर
आये तहख़ाने[9]

तथा

हां! जिन्हें मैंने नहीं माना
नहीं ही माना...[10]

'इनकार' और 'अस्वीकार' की स्पष्टता उनके व्यक्ति को बार-बार परेशानी में डालती रही, छकाती-थकाती रही, जिसकी अभिव्यक्ति उनकी कविता में यत्रतत्र दिखायी दे जाती है :

नाम भर अनुप्रास
जीवन भर विरोधाभास
अधलिखी लंबी कहानी-सी
अपाहिज प्यास

मेरे पास।[11]

लेकिन, यह स्थिति बराबर नहीं बनी रहती, प्रकृति का वैभव कवि की थकन, प्यास और मन की शुष्कता को दूर कर देता है :

थकन भरे सपनों के सिरहाने
चंदनी हवा उतरी
प्यास के सिवाने पर ढुलक गयी
ऋतुओं की रस-गगरी
पोर-पोर भीज गयी चुनरी हियतल की।[12]

वेदना, करुणा और संवेदना का यह क्रम कवि की प्रतिबद्धता को अक्षय ऊर्जा प्रदान करता है, प्रतिबद्धता ज़िद में तब्दील होने लगती है :

लिख रही हैं वे शिकन
जो भाल के भीतर पड़ी हैं
वेदनाएं जो हमारे
वक्ष के ऊपर गड़ी हैं
बंधु! जब-तक
दर्द का यह स्रोत-सावन नहीं टूटेगा
हरापन नहीं टूटेगा।[13]

आम जन के साथ खुद की पहचान रंजक को उनके दुख-दर्द की भीतरी सतह तक ले जाती है और आत्म-शैली में वे उसकी अभिव्यक्ति करते हैं। नवगीत वाले दौर में भी यह प्रतिबद्धता स्पष्ट दिखायी पड़ती है और जब वे जनगीतों का सर्जन करते हैं, तब भी नवगीत के दौर की कलात्मकता बरक़रार रहती है। दरअसल, रंजक किसी आंदोलन से ऊपरी तौर पर प्रभावित नहीं होते। आंदोलन उनकी रचनात्मक-दृष्टि और प्रतिभा को नये-नये क्षितिज प्रदान करते हैं। तभी नागार्जुन जैसे सिद्धहस्त कवि कहते हैं : '*मिट्टी बोलती* है कल ही मिली, ऐसी जानदार, इतनी जीवनधर्मी। इस प्रकार फड़कती, कड़कती, धड़कती रचनाएं एक साथ। बार-बार पढ़ने-गुनगुनाने लायक़ हैं।'[14]

रमेश रंजक की काव्य-प्रतिभा जीवन के विविध आयामों का विविध कलात्मक रूपों में संस्पर्श करती है। विभिन्न जीवन-स्थितियों और संघर्ष के अनेकविध रूपों को उन्होंने कलात्मक सौंदर्य के साथ अभिव्यक्त किया है। यह कलात्मक सौंदर्य गढ़ा हुआ नहीं है, यह कवि की रागात्मकता से उद्भूत है। विषय चाहे प्रेम हो या आर्थिक अभावों के बीच की मन:स्थिति या फिर व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष और विद्रोह, कवि 'विचार' को 'भाव' बनाकर ही व्यक्त करता है। कह देने की कोई जल्दबाज़ी नहीं है, इसलिए गर्वोक्तियां, मसीहाई मुद्रा, उपदेश, उद्बोधन, नारेबाज़ी से वाह-वाह लूटने या तालियां पिटवाने वाली अभिव्यक्तियों से रंजक दूर ही रहते हैं। उनके यहां संवेदना और अनुभूति अत्यंत सहज और आत्मीय रूप में प्रस्तुति पाती हैं। जीवन-यथार्थ का गहरा बोध और कला-रूपों की निरंतर साधना उनके गीतों को पाठक-श्रोता के मन में देर तक गूंजते रहने का सामर्थ्य प्रदान करते हैं।

सबसे पहले हम प्रेम-संबंधी कुछ गीतों पर निगाह डालते हैं। किशोरवय की प्रेमानुभूति की व्यंजना कवि ने काव्यशास्त्रीय उपादानों के माध्यम से इस प्रकार की है :

छंद सरीखी गठन देह की
मनमोहनी पंक्ति-सी चितवन
अलंकार उभरे यौवन के
पढ़-पढ़ रीझ गया भावुक मन
भाषा थी

जानी-पहचानी
शैली थी अनजान तुम्हारी।[15]

देह-गठन के लिए 'छंद', चितवन के लिए 'मनमोहनी पंक्ति', यौवन के उभारों के लिए अलंकार का प्रयोग और जानी-पहचानी 'भाषा' में शैली के भिन्न होने से विलक्षणता को व्यक्त करना, निस्संदेह, श्लाघ्य है। लेकिन, यही कवि जब काल के अजस्र प्रवाह के बीच चिर स्मरणीय बने पलों को 'जल-प्रवाह के थम जाने' और 'दर्पण में बिंब के रम जाने' से इस तरह अभिव्यक्त करता है जिस प्रकार गतिशील क्रिया का कोई स्टिल फ़ोटोग्राफ़ अलबम में हमेशा के लिए सुरक्षित हो गया हो, तो शब्दों की मितव्ययिता, 'थमे' और 'रमे' की अपारंपरिक और दुःसाध्य तुक की योजना उसकी साधना के उच्चतर स्तर का संकेत करती है। ऐसी पंक्तियां निराला के गीतों की कसावट का स्मरण कराती हैं :

वे पल
थमे जल-से थमे
रमे जैसे
बिंब दर्पण में रमे
वे पल[16]

निराला की एक कविता है, 'मौन', जिसमें दो प्रेमियों (या सदियों) के निकट किंतु मौन बैठने का आग्रह है। सांसारिक झमेलों के बीच कुछ न कहते-सुनते हुए समीप बैठे युगल के अपनी अपनी मनःस्थितियों से जूझने-उबरने की परिणति 'मौन मधु हो जाय' की इच्छा में होती है। अज्ञेय भी 'हरी घास पर क्षण भर' में शहर की आपाधापी के बीच युगल के मौन ही प्रकृति के एक नमूने-मात्रा को महसूसने से सृष्टि के रागात्मक बोध की अभिव्यक्ति की गयी है। रमेश रंजक के यहां भी एक युगल है, स्वातंत्रयोत्तर भारत का एक युगल; किंतु यह युगल एक-दूसरे से मौन रहकर कुछ महसूस करने का रोमानी अनुरोध नहीं करता; यह स्थितियों से टूटा हुआ युगल है, जो कुछ कहने की स्थिति में है ही नहीं, जो अपने 'भीतर' के टूटने-बिखरने को किसी भी तरह व्यक्त नहीं होने देना चाहता, जो एक दूरी को बनाये-बचाये रखना चाहता है; किंतु उसके लिए यह सब कर पाना संभव नहीं हो पाता। देखिए, रंजक इसे किस संश्लिष्टता से अभिव्यक्त करते हैं :

दूरियों के पास
बैठे रहे हम-तुम
बेवजह ही जल-सतह
छू आदतन
एक संजीदा हवा-से
बहे हम-तुम
....
कथ्य सारा कह गये
अनकहे हम-तुम
ढहे हम-तुम
दीखते अनढहे हम-तुम
दूरियों के पास[17]

गीतिकाव्य की प्रमुख विशेषताओं में 'भाव की तीव्रता' और शब्दों की मितव्ययिता तथा मैत्री का विशेष स्थान है। रंजक के गीतों में 'सांकेतिकता' का गुण पर्याप्त पाया जाता है और वे ख़ासे संश्लिष्ट बिंब देने के साथ साथ भाव की दुरूहता से साफ़ बच निकलते हैं, यानी भाव की तीव्रता पाठक या श्रोता के लिए अधिक बौद्धिक व्यायाम के बाद

हासिल किये जाने वाली चीज़ नहीं रहती। उनका एक गीत है, 'ग़रीब की ज्यौनार'। ब्रज प्रदेश में लड़की के विवाह के अवसर पर 'राजा जनक बनायी ज्योनार' गीत गाया जाता है, जिसमें जनक की 'ज्योनार' यानी 'भोज' की भव्यता का बयान होता है। ब्रज में ज्योनार में आग्रहपूर्वक, प्रायः इनाम-भेंट के पैसे देते हुए आग्रहपूर्वक परोसा-खिलाया जाता है। ऐसी ही एक ज्योनार में बचपन में शरीक होने का अवसर मिला था। यह ज्योनार एक भड़भूजे परिवार की बारात के स्वागत में थी। भोजन करते हुए कड़ाक की आवाज़ के साथ धातु के दांतों के बीच आने का अहसास हुआ, यह एक सिक्का था। पूड़ियों-कचौड़ियों में सिक्के भरे गये थे। जो जानकार थे, वे पहले ही उनके टुकड़े करके सिक्के निकाल लेते थे और अधिक सिक्कों के लिए अधिक खाते जाते थे। ख़ैर, तो हम रंजक के गीत की ज्योनार की चर्चा कर रहे थे। यह ग़रीब की ज्योनार है, जिसमें व्यंजनों की बहुतायत क्या, पर्याप्त मात्रा भी नहीं हो सकी है। इस पर क्षमा-याचना-सी करती हुई लड़की की मां समधी से निवेदन कर रही है कि क्या बतायें हम पर कैसी विपत्ति पड़ी हुई है। विवाह जैसे अवसर के लिए 'बिपत' का प्रयोग अत्यंत मार्मिक है और घोर यथार्थ का व्यंजक भी। दोनों फ़सलों की कमाई 'लगुन' और 'दरवाज़े' की रस्मों पर ख़र्च हो गयी है। विदाई के समय भेंट किये जाने वाले खांड-कटोरे के लिए अगली फ़सल का बीज भी बेचा जा चुका है :

अरहर सारी गयी लगुन में, सरसों दरवज्जे पै,
खांड-कटोरा में समधी जी! धरौ बीज कौ नाज,
सचाई खोलूं, हरे-हरे! सचाई खोलूं डर लागै
ऐसी बिपत परी महाराज...[18]

मगर यह बात पुरुष नहीं, स्त्री ही कह सकती है। बेटी का घर ज़रूर बस रहा है, किंतु उसका अपना घर संकट में है। कहते हुए डर भी है, क्योंकि परिवार का स्वाभिमान और पुरुष की अहम्मन्यता आहत हो सकती है। इसका नतीजा कुछ भी हो सकता है। जो भी हो, उसका ख़ामियाज़ा तो आख़िरकार स्त्री को ही भुगतना है। अब देखिए, राजमजूरिन की होली :

रंग के भाग ठिठोली लिखी है
रूप के भाग में चीर
अपने तो भाग मजूर के भाग हैं
भाल पै स्याम लकीर
सजनवा! भाल पै स्याम लकीर
गारे के पांय, पसीने कौ अंचरा,
सीस पै धूल के बाल,
सजनवा! हमकौ न भावै गुलाल।[19]

'बिरहा' की धुन पर आधारित इस गीत में अभिजात और अभिजात-वर्ग की भौंडी नक़ल करने वाले मध्यवर्ग की त्योहारों-उत्सवों के प्रति सनातन, एकांगी और वर्ग-निरपेक्ष दृष्टि को अत्यंत सांकेतिक रूप से तोड़ा गया है। उसके रंग-रूप वाली सौंदर्याभिरुचि के विरुद्ध श्रमिक सौंदर्यबोध को रखा गया है। निराला की 'तोड़ती पत्थर' के समानांतर। यहां न करुणा की आकांक्षा है- 'देखा मुझे उस दृष्टि से जो मार खा रोयी नहीं - और न ही क्रूर समाज पर प्रहार का स्वप्न - 'लीन होते कर्म में फिर ज्यों कहा/मैं तोड़ती पत्थर।' यहां तो मज़दूर के भाग्य में काली लकीर लिखने वाली व्यवस्था का यथार्थ-बोध है और है अभिजातवर्गीय अभिरुचियों के प्रति अस्वीकार का भाव, यद्यपि निर्णायक रूप में नहीं। इसे अनासक्ति नहीं कहा जा सकता, मन तो होली मनाने का है, किंतु उस तरह से नहीं, जैसे संपन्न लोग मनाते हैं। अपनी स्थितियां वे नहीं है, किंतु जो हैं, उनका भरपूर स्वीकार यानी वास्तविकता-बोध और तदनुसार अपना अलग ही भावबोध इस गीत में दिखायी पड़ता है।

निम्न और निम्नमध्यवर्ग में परंपराओं को निभाने रहने की विवशता और ज़िद उनके आर्थिक आधार को तोड़कर

रख देती है, सामाजिक मर्यादा और उसके प्रति संवेदनशीलता के नाम पर किये जाने वाले ये काम परिवार को कहां पहुंचा देते हैं, इसकी मार्मिक और कलात्मक अभिव्यक्ति 'घरनी का गीत' में इस तरह हुई है :

सजन तैनें इतने भात दये
सपन मेरे पतझर पात भये
फुलवा की पंखुरी-सी मोहिनी जवानी
आंसुओं की गैल गयी खोखले गुमानी
उभरी नसें नहर की नाईं
हाड़ पिरात गये।[20]

'सपनों का पतझर के पत्ते हो जाना' निश्चय ही अत्यंत सुंदर कल्पना है। ऊपर उद्धृत तीनों गीतों में यथार्थबोध स्त्री के माध्यम से आया है। स्त्री-पक्ष को स्त्री के निजी जीवन तक न सीमित रखकर रंजक उसे संपूर्ण सामाजिक-सांस्कृतिक-आर्थिक स्थितियों में दख़ल देने तक विस्तार देते हैं। कविता में यथार्थ-बोध प्रायः पुरुषों के द्वारा ही अभिव्यक्ति पाता है। रंजक को यह श्रेय देना होगा कि इस विषय में भी उन्होंने स्त्री को पुरुष के समकक्ष खड़ा कर दिया है।

रमेश रंजक की प्रतिबद्धता ऐसे ही लोगों के लिए है, जो तमाम हाड़-तोड़ श्रम के बावजूद इंसानी ज़िंदगी जीने की स्थिति में नहीं हैं :

गिरवी हैं सारी उम्मीदें
दिन का चैन रात की नींदें
कर्ज़ पसीने पर हावी हैं आंखें चढ़ी थकान की
इतनी भर ज़िंदगी बची इंसान की।[21]

यह बदहाली दैवीय प्रकोप से नहीं, बल्कि व्यवस्था की देन है। वह व्यवस्था, जो लोकतंत्र के नाम पर चल रही है, पर जिसमें 'तंत्र' में पैठे लोग हर तरह की हरकतों के बावजूद फूल-फल रहे हैं और 'लोक' उनका शिकार बन रहा है। रंजक इस 'लोक' को सावधान करते हैं :

बचकर कहां चलेगा पगले चारों ओर मचान है
हर मचान पर एक शिकारी, आंखों में शैतान है।
हवा धूल में बटमारीपन, छाया की तासीर गरम
सरमायेदारों के कपड़े, पहने घूम रहा मौसम
नद्दी-नालों की ज़ंजीरें, हरियल टहनीदार नियम
न्यायाधीश पहाड़ मौन हैं, खा-पीकर रिश्वती रक़म
सत्ता के जंगल की पत्ती-पत्ती बेईमान है।[22]

इस बेईमान व्यवस्था में आम आदमी की परेशानी इस हद तक पहुंच रही है :

इत वकील उत थानेदारी
लोहू पीवत है
दोनों तरफ़ गांठ के गाहक
बड़ी मुसीबत है
इनके मारे भूख-प्यास पटवारी है गयी है।[23]

किसान के जीवन में 'पटवारी' की भूमिका के बारे में सभी जानते हैं। पटवारी के बस्ते और उसकी नाप-जोख ने न जाने कितने किसानों का जीवन बेहाल कर डाला। यहां 'भूख-प्यास के पटवारी हो जाने' की व्यंजना असीम विस्तार पा जाती है। किसानों के बाद अब निम्नमध्यवर्ग और वेतनभोगी कामगारों की स्थिति देखिए। बढ़ती महंगाई, नियत पगार और हर जगह रिश्वत या लूट-खसोट के चलते उनका जीवन दूभर होने लगा है :

अबकी यह बरस
बड़ा तरस-तरस बीता
दीवारें नहीं पुतीं, रंग नहीं आये
एक-एक माह बांध, खींच-खींच लाये
अब की यह बरस[24]

'दीवारें नहीं पुतीं' से दीपावली और 'रंग नहीं आये' से होली के उत्सव न मना पाने की व्यंजना ध्यातव्य है। अभावग्रस्तता के बीच गृहस्थ व्यक्ति की स्थिति शोचनीय बन गयी है :

दिन का दुख भूलूं
तो झूलूं, झूले शाम के
टूट गये नंगे पांवों में
कांटे काम के
हवा पसीने से कतराती
हंसी उदासी से
छूट गये हैं जैसे लगते-लगते फांसी से
खाली पेट कर रहे दर्शन
चारों धाम के[25]

इन हालात ने जीवन के प्रति सारे उमंग-उल्लास को भंग कर दिया है :

सुबह फ्रिज की सब्ज़ियों-सी
सामने आती
रोज़ चिकनी शाम
पालिश-सी उतर जाती
नींद आने लगी क़िस्तों में
टूट कर दिन हो गये बेस्वाद
बहुत में कुछ हो गया अपवाद[26]

तथा

मेरा बदन हो गया पत्थर का
'सोनजुही-से' से हाथ तुम्हारे
लकड़ी के हो गये
हमारे दिन फीके हो गये
नक्शा बदल गया सारे घर का[27]

लेकिन, ये स्थितियां कवि को अवसाद में नहीं ले जातीं। वह इनसे निकलने की उम्मीद रखता है। उसकी आस्था है कि अंधकार चिरजीवी नहीं है :

निगल रहा है कफ़न रात का संध्या के सुनहरी बदन को
किरनों की चुनरी उढ़ा दे अपने गीतों के बचपन को
गा जब तक ये घन कजरारे, शशि है बादल के पिछवारे
हो न निराश किरन के पथ पर कब तक अंधियारा छायेगा[28]

क्योंकि कवि का दृढ़ विश्वास है कि यदि आदमी-आदमी के बीच का रिश्ता मज़बूत है, यदि यथार्थ का ज़मीनी आकलन है, यदि समय की त्रासदी का संवेदन है और यदि रागात्मकता शेष है तो कवि की कलम जिजीविषा की

पहचान कर लेगी और उसकी कविता ज़िंदगी की जीत के न केवल गीत गायेगी, बल्कि परिदृश्य को परिवर्तित करने की चेतना जागृत कर देगी :

कलम बिकती नहीं है सिर्फ़ उसकी
जुड़ा है जो ज़मीं से, आदमी से
उसी ने चेतना को नोंक दी है
दुखी है जो समय की त्रासदी से
रंगों में राग है तो ज़िंदगी है
कलम में आग है तो ज़िंदगी है।[29]

दुखों का बोध कराने वाली कविता अब नाकाफ़ी लगती है। दुख जिनके कारण हैं, उनके चेहरे पहचानना भी आवश्यक है। जाति, परंपरावाद और धर्म के रास्ते ये दुख जन-जीवन में आये हैं। बांटने वाली ये शक्तियां ही परिवर्तनकामी जनता को लाचार और बेबस बना रही हैं, मारक स्थितियों की ओर ठेल रही हैं। रंजक इन्हें बेनक़ाब कर जनता को आगाह करते हैं :

मारने को हमें गूंगी मौत
दुश्मनों की फ़ौज है तैयार
हमको मारने को।
एक दुश्मन, जाति का परचम लिये
बांधकर तमग़े
हमारे संगठन पर मारता है चोट
दूसरा आधा धंसा है लीक में
लीक को ही मानता है ओट
तीसरे के हाथ में है धर्म की तलवार
हमको मारने को।[30]

स्थितियां कैसी भी हों, उन्हें बदला जा सकता है। यह आशा ही मनुष्य को भय से बाहर निकालती है। परिवर्तन तभी संभव है, जब भय से मुक्ति मिलती है। और, भय से मुक्ति तभी संभव है, जब एकाकी न रहकर अपने जैसे दूसरों के साथ संवाद हो, बिखरी हुई शक्ति पुंजीभूत हो :

डर के आगे आग जलाओ
कद्दावर शब्दों को लाओ
फिर देखो
अपनी ज़मीन का
कितना बड़ा जिगर लगता है
तुमको नाहक डर लगता है[31]

वर्तमान व्यवस्था खुद को 'लोकतंत्र' कहती है, पर इस लोकतंत्र का नियंत्रण 'बड़े लोगों' के हाथ में है। उनके लिए जनता की अहमियत सिर्फ़ वोट पाने के लिए है, जिससे सत्ता प्राप्त कर वे भय का वातावरण बना सकें और अपने स्वार्थों की पूर्ति कर सकें। ऐसी तानाशाही को जनता संगठित होकर ही ख़त्म कर सकती है :

कहीं नहीं होती सुनवाई
कितना ही चिल्लाओ भाई
फैली चारों ओर तबाही
लोकतंत्र में तानाशाही
बिना संगठन के न गिरेगी, यह काली चट्टान।[32]

और

एका में भारी ताक़त है एका में बैठे करतार।
एका की आवाज़ उठे तौ थर-थर कांप जाय सरकार।[33]

'संगठन' या 'एका' तभी होगा जब मानवीय अस्मिता का बोध होगा। देश में करोड़ों मज़दूर-किसान सिर्फ़ दो जून की रोटी कमाने में झोंक दिये गये हैं। रंजक व्यवस्था, जिसकी एक प्रतिनिधि सरकार भी है, के इस दुष्चक्र को भेदने और जनता को मानवोचित गरिमा का साक्षात्कार कराने का प्रयास करते हैं :

रोटी इतनी बिखरा दी है इधर-उधर
जिसे जुटाने में ही लग जाये दिन भर
रात थकन को देकर हम संतोष करें
सिर्फ़ पेट भरने की खातिर जियें-मरें
बैल नहीं हैं, हमको सानी नहिं चइये
नहिं चइये सरकार सयानी नहिं चइये।[34]

मानवीय अस्मिता का बोध मनुष्य की रीढ़ को सीधा कर देता है। वह झुकना बंद करता है और अपनी शक्ति को महसूस करने लगता है :

तन गयी हैं रीढ़ जो मजबूर थीं ग़म से
हाथ बाग़ी हो गये चालाक मरहम से
अब न बहकाओ, छलावा, छलनियों में बह गया है
और आदमक़द हमारा जिस्म लोहा बन गया है।[35]

वंचित वर्ग में अपनी स्थिति का बोध उनमें नयी चेतना का संचार करता है और वे वर्ग भेद को अस्वीकार कर अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होते हैं। उनके लिए संघर्ष का रास्ता चुनते हैं। प्रयाणगीत की धुन पर रंजक इसे इस तरह व्यक्त करते हैं :

ये आदमी की खाइयां
बढ़ा रही लड़ाइयां
बंटी हुई ज़मीन से
रुकी हुई मशीन से
एक आग आ रही है -मुट्ठियां कसे हुए
जवान गीत गा रही है – मुट्ठियां कसे हुए[36]

सम्यक् चेतना का अब प्रसार हो रहा है। सीने में अवरुद्ध हवा प्रसार पाकर तूफ़ान में बदल रही है। चेतना का यह प्रसार अवश्य ही सामाजिक संरचना को परिवर्तित कर डालेगा, ऐसी कवि की आस्था है। परिवर्तन यकायक नहीं होता, धीरे-धीरे दीर्घकाल में होता है, किंतु विराट कालगति के छोटे-से अंश में रहनेवाले लोग, ख़ासकर मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी वर्ग के लोग, उसे चीन्ह नहीं पाते और ऐसी आस्था का प्रायः मज़ाक़ ही उड़ाते हैं। मगर, चेता और कवि इससे डोलते नहीं, वे अपनी आस्था के प्रति दृढ़ विश्वास, श्रद्धा और प्रतिबद्धता रखते हैं, उसे निरंतर अभिव्यक्ति देते हैं :

ये तूफ़ां किसी के न रोके रुकेगा
रुकेगा तो मंज़िल का होके रुकेगा
ये तूफ़ां नयी सरज़मीं चाहता है
ज़मीं पर नया आदमी चाहता है
नयी आग इंसा में ढल के रहेगी
ज़माने की हालत बदल के रहेगी[37]

यद्यपि इस गीत में 'नमामी शमीशान निर्वाण रूपं, विभुं व्यापकं ब्रह्म वेदस्वरूपं' की लय को आधार बनाया गया है,

पर शब्द-योजना से इसे प्रयाणगीत का रूप दे दिया गया है :

18 मई 1951 को निराला से दारागंज में मुलाक़ात का विवरण देते हुए अज्ञेय ने लिखा है, 'इसके बाद निराला ने चार-छः वाक्य कहे उनसे मैं आश्चर्यचकित रह गया। उन्हें याद करता हूं तो आज भी मुझे आश्चर्य होता है कि हिंदी काव्य-रचना में जो परिवर्तन हो रहा था, उसकी इतनी खरी पहचान निराला को थी... निराला ने कहा, 'तुम जो लिखते हो वह मैंने पढ़ा है... तुम क्या करना चाहते हो वह हम समझते हैं... स्वर की बात तो हम भी सोचते थे। लेकिन असल में हमारे सामने संगीत का स्वर रहता था और तुम्हारे सामने बोलचाल की भाषा का स्वर रहता है... ऐसा नहीं है कि हम बात को समझते नहीं हैं। हमने सब पढ़ा है और हम सब समझते हैं। लेकिन हमने शब्द के स्वर को वैसा महत्त्व नहीं दिया, हमारे लिए संगीत का स्वर ही प्रमाण था।'

संगीत से शब्द के स्वर की तरफ़ की यह यात्रा बढ़ती ही गयी और चाहे शब्द के स्वर बहुत कम कवियों ने ही साधे हों, पर धीरे धीरे संगीत के स्वर कविता से छूटते गये। रमेश रंजक ने अपनी कविता में शब्द और संगीत, दोनों के स्वरों को साधा है और इस तरह परंपरा का छोर थामे हुए आधुनिकता को पूरी तरह आत्मसात करने का प्रयास किया है। साठोत्तरी कविता में यह काम करने वाले कुछ ही कवि हैं, जिनमें रमेश रंजक का महत्त्वपूर्ण स्थान है।[38]

रंजक जी की काव्य-यात्रा लंबी है, उसके बहुत से पक्ष इस लेख में नहीं आ सके हैं। आजकल पाठक इतने लंबे लेख को देखकर ही परेशान हो उठते हैं। इतने ही पृष्ठों में बातें और भी कही जा सकती थीं, किंतु रंजक के काव्य का वैविध्य और सौंदर्य अच्छी तरह सामने आ सके ऐसी इच्छा ने लेख में उद्धरणों की संख्या बढ़ा दी है। आशा है, रंजक की कविता के नियमित पाठक क्षमा करेंगे और नये पाठक उनकी काव्य-प्रतिभा का सीधे आकलन करने में सक्षम होंगे। हिंदी में कीर्तन की परंपरा बहुत गहरी जड़ें जमाये हुए है, इसलिए कुछेक कवियों तक ही चर्चाएं सीमित रहती हैं। हिंदी कविता सागर का बहुलांश सामाजिकों के लिए लुप्तप्राय रह जाता है। श्रेष्ठ कवि भी स्टार प्रचारकों, महंत कीर्तनियों की कृपा-दृष्टि के अभाव में उपेक्षित रह जाते हैं या अपेक्षित महत्त्व प्राप्त नहीं कर पाते। इधर तो साहित्य के अपने अनुशासन को इतना गौण मान लिया गया है कि साहित्य की समीक्षा में उसके कलात्मक सौंदर्य पर अंत में दो-चार सपाट-सी पंक्तियां देकर इतिश्री हो जाती है। रंजक ने एक गीत में कवि की इस व्यथा को अभिव्यक्त किया है :

जाने किन सिरफिरे अभावों में
रद्दी के भाव बिक गये हैं हम
बेमौसम।
....
सोचा था तैर कर समुंदर की लहरों पर
नाम लिख गये हैं हम
कितना भ्रम।[39]

लहरों पर नाम तो निस्संदेह लिखा है रमेश रंजक ने, किंतु तट पर बैठे आलोचकों को 'सुनहरे शैवालों' से फ़ुर्सत हो, तो लहरों के थपेड़े खायें और उन पर लिखे रंजकों के नाम पढ़ें!

मो. 9219701949

संदर्भ :

1. उपाध्याय, महेश सं.; 'एक महत्त्वपूर्ण कवि सम्मेलन'; परदे के पीछे; *उद्भावना*, ग़ाज़ियाबाद; प्रथम संस्करण 2019
2. वही, फ्लैप से
3. रंजक, रमेश; गीत सं. 48; *हरापन नहीं टूटेगा*; अक्षर प्रकाशन, दिल्ली-1974; पृ. 76

4. रंजक, रमेश; 'घर में सुबह' शीर्षक गीत; *गीत विहग उतरा*; आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली-1969; पृ. 27
5. वही; 'गीत विहग उतरा' शीर्षक गीत; पृ. 13
6. वही; 'कांपते कगार' शीर्षक गीत; पृ. 20
7. उपाध्याय, डा. महेश-संपादक; 'नदी की आग' शीर्षक गीत; *परदे के पीछे* (रंजक के जन आंदोलनधर्मी गीत); *उद्भावना,* ग़ाज़ियाबाद; प्रथम संस्करण 2019
8. रंजक, रमेश; गीत सं. 62; *हरापन नहीं टूटेगा*; अक्षर प्रकाशन, दिल्ली-1974; पृ. 94
9. वही; गीत सं. 57; पृ. 89
10. वही; गीत सं. 53; पृ. 82
11. रंजक, रमेश; 'गगन भर प्रण' शीर्षक गीत; *गीत विहग उतरा*; आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली-1969; पृ. 11
12. वही; 'याद एक पल की' शीर्षक गीत; पृ. 41
13. रंजक, रमेश; गीत सं. 60; *हरापन नहीं टूटेगा*; अक्षर प्रकाशन, दिल्ली-1974; पृ. 92
14. उपाध्याय, महेश सं.; 'आत्मनिवेदन'; परदे के पीछे; *उद्भावना*, ग़ाज़ियाबाद; प्रथम संस्करण 2019
15. रंजक, रमेश; 'सरस त्रिवेणी' शीर्षक गीत; *गीत विहग उतरा*; आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली-1969; पृ. 36
16. रंजक, रमेश; गीत सं. 1; *हरापन नहीं टूटेगा*; अक्षर प्रकाशन, दिल्ली-1974; पृ. 15
17. वही; गीत सं. 21; पृ. 43
18. रंजक, रमेश; 'ग़रीब की ज्यौनार' शीर्षक गीत; उपाध्याय, महेश सं.; परदे के पीछे; *उद्भावना*, ग़ाज़ियाबाद, प्रथम सं. 2019; पृ. 90
19. वही; 'राजमजूरिन की होली' शीर्षक गीत; पृ. 88
20. वही; 'घरनी का गीत' शीर्षक गीत; पृ. 100
21. वही; 'अंकुश अभाव के' शीर्षक गीत; पृ. 30
22. वही; 'जंगल का गीत' शीर्षक गीत; पृ. 60
23. वही; 'कचहरी के मारे का गीत' शीर्षक गीत; पृ. 92
24. रंजक, रमेश; गीत सं. 16; *हरापन नहीं टूटेगा*; अक्षर प्रकाशन, दिल्ली-1974; पृ. 33
25. वही; गीत सं. 18; पृ. 39
26. वही; गीत सं. 20; पृ. 42
27. वही; गीत सं. 34; पृ. 57
28. रंजक, रमेश; 'किरन के पथ पर' शीर्षक गीत; उपाध्याय, महेश सं.; परदे के पीछे; *उद्भावना*, ग़ाज़ियाबाद; पृ. 27
29. वही; 'कमल का गीत' शीर्षक गीत; पृ. 84
30. वही; 'दुश्मनों की फ़ौज' शीर्षक गीत; पृ. 74
31. वही; 'डर के आगे' शीर्षक गीत; पृ. 79
32. वही; 'दमन की चक्की' शीर्षक गीत; पृ. 45
33. वही; 'रमेश रंजक की आल्हा'; पृ. 116
34. वही; 'बैल नहीं हैं' शीर्षक गीत; पृ. 42
35. वही; 'जिस्म लोहा' शीर्षक गीत; पृ. 75
36. वही; 'आग का गीत' शीर्षक गीत; पृ. 52
37. वही; '...लावा फूटेगा' शीर्षक गीत; पृ. 55
38. अज्ञेय; 'बसंत का अग्रदूत' शीर्षक लेख; सं. विद्याधर शुक्ल; *लेखन-5* (निराला स्मृति अंक) जून, 1999; इलाहाबाद; पृ. 275
39. रंजक, रमेश; 'सोचा था' शीर्षक गीत; *गीत विहग उतरा*; आत्माराम एंढ संस, दिल्ली-1969; पृ. 32

विशेष स्मरण

कवि रामेश्वर प्रशांत और उनकी कविताएं

नीरज सिंह

विगत शताब्दी के छठे दशक में बिहार के जिन कवियों ने साहित्य जगत में अपनी पहचान बनायी थी, उनमें राजेंद्र किशोर, राजेंद्र प्रसाद सिंह,श्रीराम तिवारी, कुमारेंद्र पारसनाथ सिंह, वेदनंदन, नचिकेता, शांति सुमन, शंभू बादल, कार्तिकनाथ गौरीनाथ ठाकुर, प्रभात सरसिज आदि के साथ एक नाम रामेश्वर प्रशांत का भी था। तत्कालीन मुंगेर (संप्रति बेगूसराय) ज़िले के धरतीपुत्र राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' के काव्य में दिखलायी पड़ने वाली आग और राग की अंतर्धाराओं में से आग को पाथेय के रूप में साथ लेकर अपने काव्यपथ का विस्तार करनेवाले प्रखर सामाजिक- राजनीतिक चेतनासंपन्न कवि प्रशांत ने यद्यपि दिनकर के समान विपुल परिमाण में साहित्य सृजन तो नहीं किया, तथापि जितना भी लिखा, सार्थक , सोद्देश्य और महत्त्वपूर्ण लिखा।

प्रशांत जी का जन्म एक सामान्य मध्यवर्गीय परिवार में हुआ था। उनके जन्म के बाद उनके परिवार की हालत विभिन्न कारणों से दिनोंदिन ख़राब होती चली गयी, जिससे उन्हें अपने जीवन में लगातार परेशानियों का सामना करना पड़ा। वे जीवन के विविध मोर्चों पर एक साथ संघर्षरत रहे।घर-गृहस्थी की चिंताओं से जुड़े रहकर भी वे समाज में व्याप्त वर्गभेद और उसके दुष्परिणामों के कारण चारों तरफ़ फैली विसंगतियों को समूल नष्ट करकेएक शोषणरहित मानवीय समाज की स्थापना के संघर्ष में पूरी तरह शामिल थे। इसीलिए वे अपनी एम.ए. की पढ़ाई भी पूरी नहीं कर सके और सातवें दशक के उत्तरार्ध में अतिवामपंथी क्रांतिकारी धारा से भी सक्रिय रूप से जुड़ गये थे। परिणामस्वरूप जीवन के अन्य क्षेत्रों के साथ ही उनके सृजन-कार्य की गति में भी अपेक्षित त्वरा का अभाव रहा और वे अपने लेखन को पर्याप्त समय नहीं दे सके। बहरहाल, उनके भीतर नैसर्गिक काव्य-प्रतिभा थी जिसके कारण विपरीत से विपरीत परिस्थितियों में भी उनकी सृजन प्रक्रिया पूरी तरह अवरुद्ध नहीं हुई। कम ही सही, वे बराबर लिखते रहे और बेगूसराय और आसपास की साहित्यिक-सांस्कृतिक गतिविधियों में भी सदैव हस्तक्षेपकारी भूमिका का निर्वाह करते रहे। जीवन के आख़िरी कुछ वर्षों में वे अत्यंत गंभीर बीमारी से भी पीड़ित हो गये थे जिसने अंततः उनकी जान ही ले ली। उनका एकमात्र कविता-संग्रह *सदी का सूर्यास्त* उन्हीं दिनों प्रकाशित हुआ।

सदी का सूर्यास्त में प्रशांत जी की कुल 60 कविताएं शामिल हैं। इसके अतिरिक्त इसी संग्रह में उनके 10 गीत, 13 ग़ज़लें और 17 मुक्तक भी शामिल हैं। कविताओं में लगभग नौ पृष्ठों की एक लंबी कविता भी है जिसको पढ़ने से कवि के प्रबंध-लेखन के सामर्थ्य का भलीभांति परिचय मिलता है। कहने का तात्पर्य यह कि प्रशांत जी जितने सिद्धहस्त मुक्तक लेखन में थे, उतने ही सफल प्रबंधकार कवि भी हो सकते थे। अपनी सुदीर्घ काव्य-यात्रा में प्रशांत जी ने एक एक्टिविस्ट साहित्यकार की भूमिका का सामर्थ्य भर निर्वाह किया है। अपनी युवावस्था के प्रारंभ से ही वे सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन की कामना के वशीभूत होकर वामपंथी राजनीति के संपर्क में आ गये थे। उनका पैतृक गांव सिमरिया घाट राष्ट्रकवि दिनकर का गांव था। बरौनी और बेगूसराय का इलाक़ा बिहार के लेनिनग्राद के नाम से जाना जाता था। यह स्वाभाविक ही था कि वे कविता और वामपंथी राजनीति—दोनों ही से प्रभावित होते। प्रशांत जी न केवल इन दोनों से प्रभावित हुए बल्कि इन्हें उन्होंने अपने जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य ही बना

लिया। प्रशांत जी जब पटना विश्वविद्यालय से हिंदी में एम.ए. कर रहे थे, तभी देश की वामपंथी राजनीति में एक नयी उग्रवादी धारा अस्तित्व में आयी। उसकी तरफ़ आकृष्ट होकर उन्होंने एम.ए. की पढ़ाई बीच में ही छोड़ दी। एक लंबी अवधि तक वे उसी धारा के साथ जुड़े रहे। आगे चलकर उस अतिवामपंथी धारा से उनका मोहभंग हो गया। कुछ दिनों तक तटस्थ रहने के बाद अंततोगत्वा वे जनवादी लेखक संघ के साथ जुड़े और फिर अपने जीवन के अंतिम दिनों तक उसी के साथ जुड़े रहे।

प्रशांत जी के काव्य-संसार में अपने जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अहर्निश संघर्ष करते लोग हैं, अंधेरे को मिटाने और एक नया सूरज उगाने के लिए प्रयत्नशील लोग हैं, भारी जनसमर्थन से सत्ता की कुर्सी पर बैठने के बाद जनतांत्रिक मूल्यों की धज्जियां उड़ाते आज के भ्रष्ट राजनेता हैं, बुद्ध, सुकरात, गांधी और मार्क्स के विचारों के मुखौटे लगाये सत्ता की चाकरी करते तथाकथित सिद्धांतवादी दलालों के समूह हैं और उनके सामूहिक उत्पीड़न का सामूहिक-संगठित प्रतिकार करते उत्पीड़ित वर्गों के लोग भी हैं। इन कविताओं में भूगोल की विविधता है तो इतिहास की विविधता भी है। इनमें सावन की घनघोर वर्षा है, ग्रीष्म का ताप है और शरद की हाड़ कंपाती ठंड भी है। वियतनाम भी है, दक्षिण अफ्रीका भी है, बांग्ला देश भी है, लेनिन का रूस भी है और माओ का चीन भी। लेनिन भी हैं, पाब्लो नेरुदा भी हैं, बेंजामिन मोलाइसे भी हैं और जनकवि नागार्जुन, जनवादी शायर शमशाद सहर और उत्तर छायावाद के अत्यंत प्रतिष्ठित कवि आरसी प्रसाद सिंह भी। इनमें अलग-अलग आयु-वर्गों के स्त्री-पुरुष भी हैं और पत्नी, प्रेयसी तथा बच्चे भी। इनमें व्यक्ति हैं, क्षुधापीड़ित परिवार हैं और अपनी समस्याओं से लड़ता-हारता समाज भी है। इनमें उड़ीसा में सांप्रदायिक फ़ासीवादी समूहों द्वारा ज़िंदा जला दिये गये फ़ादर ग्राहम स्टेंस और उनके बच्चे भी हैं और भोपाल गैस कांड पीड़ित लोग भी। और तो और, मानवेतर प्राणी भी हैं इन कविताओं में। इतनी सारी विविधताओं के वावजूद प्रशांत जी की कविताएं उनकी प्रबल और स्पष्ट जनपक्षधरता के कारण अगर 'पाग चढ़े धागे' की मानिंद नज़र आती हैं तो इसे न तो अतिरंजित कहा जा सकता है और न ही अस्वाभाविक। एक प्रतिबद्ध क्रांतिचेता कवि की रचनाओं से निर्मित यह काव्य-संसार उसका स्वनिर्मित और सुनिर्मित काव्य-संसार है।

सदी का सूर्यास्त संग्रह के आरंभ में कवि ने गद्य और कविता—दोनों ही के माध्यम से अपनी रचना-प्रक्रिया को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। 'आत्मकथ्य' के अंतर्गत उन्होंने लिखा है: 'मेरी समझ यह है कि कोई भी बात या घटना मेरे ज़ेहन में आलोड़ित-विलोड़ित होकर जब दबाव बनाती है तब सहसा कविता जन्म ले लेती है। इसीलिए मैंने अपनी एक कविता में लिखा है - 'पाक चढ़े धागे की तरह/ जब कोई बात पक जाती है/ तब कविता जन्म लेती है।' प्रशांत जी की कविताओं के संदर्भ में उनकी इस बात का मतलब उनकी विचारसंपन्नता से लिया जाना चाहिए। निर्विवाद रूप से उनकी कविताएं विचारसंपन्न कविताएं हैं। उन्हें पढ़ने के बाद उनकी विचारधारा को लेकर कोई संशय या सवाल नहीं खड़ा किया जा सकता।

प्रशांत जी की कविताओं में आज़ाद भारत में कमज़ोर वर्गों की स्थिति में लगातार ह्रास होते जाने के कारण उत्पन्न गहरा क्षोभ और आक्रोश आद्यंत दृष्टिगोचर होता है। उनकी एक कविता 'आख़िर कब तक' की इन पंक्तियों को इस संदर्भ में देखा जा सकता है: 'लोग पच्चास खाइयों को पार करने के बाद / मुझसे पूछते हैं सवाल / और वही सवाल मैं आपसे भी पूछना चाहता हूं/ कि आज़ादी का अर्थ क्या है / भूख? / बीमारी?/ दवा के बग़ैर घुट -घुटकर मरना / या झेलना अराजकता / आतंक / लूटमार / खुला व्यभिचार?' ये सवाल कवि की लगभग सभी कविताओं की पृष्ठभूमि में विद्यमान हैं। एक अन्य कविता 'भोपाल गैसकांड' की पंक्तियां हैं: 'हम सचमुच में बंद हैं / एक बड़े गैस चैम्बर में / जहां घुट-घुटकर हमारे प्राण छूटते रहते हैं / हम अब भी गुलाम हैं देशी-विदेशी महाप्रभुओं के / और हमें आज़ादी के लिए / बड़ी क़ीमत चुकानी है।' इन सवालों से टकराते हुए कवि जिन निष्कर्षों तक पहुंचता है, उनसे कवि की पक्षधरता पुष्ट भी होती है और स्पष्ट भी। वह प्रायः सभी घटनाओं की पड़ताल वर्गीय

दृष्टिकोण से करता है, यहां तक कि वसंतागमन के प्रभाव का भी। उसका मानना है कि जब तक शिशिर की हाड़ कपाने वाली ठंड के अंत का आभास नहीं होने लगता, तब तक काहे का वसंत! संग्रह की 'वसंत पंचमी का दिन' शीर्षक कविता की निम्नलिखित पंक्तियों को इस संदर्भ में देखा जा सकता है- 'ओ वसंत! / अभी बहती है बर्फ़ीली हवा / दिशाओं में छायी है ठिठुरन/ दीन-दुखियों के कांपते हैं हाड़-मांस / आबालवृद्ध दुबक जाते हैं रजाई में / सरेशाम /....अभी तो शिशिर का पाला / फैलाता है अग-जग में कसाला / ओ वसंत !' प्रशांत जी की कविताओं में यह निर्भ्रांत समझ जगह-जगह अभिव्यक्त हुई है कि 15 अगस्त 1947 को भारत को राजनीतिक आज़ादी भले ही मिल गयी, इस देश के दलित- शोषित वर्गों की मुक्ति अभी भी नहीं हुई है और वह काम अपने आप होगा भी नहीं। उसके लिए अनवरत संघर्ष करना होगा। इसके लिए संघर्षरत वर्गों में अपनी जीत का संकल्प और उसके प्रति भरोसा बना रहना चाहिए; परिवर्तनकामी चेतना के साथ प्रतिबद्धता का भाव बना रहना चाहिए। इस वैचारिक प्रतिबद्धता का बयान करने वाली 'मेरी कविता', 'राही', 'मुझे मत करो प्यार', 'निपट अकेला' जैसी कई कविताएं इस संग्रह में शामिल हैं। 'राही' कविता में कवि का कहना है: 'ओ राही / कितने हाथ हुए साथ / कितने गये / कितनों के द्वारा तुम छले गये / सोच मत / होना नहीं हतप्रभ-मुखम्लान / सुदीप्त सूर्य-सा बलना-विहंसना / पीना है विष तुम्हें / अमृत-रस देना है / ओ राही !'

प्रशांत जी के कवि के लिए आख़िर आज़ादी का मतलब क्या है? कवि ने इस सवाल का कोई सीधा और स्पष्ट उत्तर तो नहीं दिया है, लेकिन उसने अपनी कई कविताओं में यह बतलाने का प्रयास किया है कि समाज के साधनविहीन, बुनियादी सुविधाओं से वंचित लोगों के लिए जीवन का अर्थ बदलना चाहिए, जीने की सूरत बदलनी चाहिए। 'मुर्झाया चेहरा' कविता में एक ऐसे व्यक्ति की चर्चा की गयी है जिसकी अनब्याही जवान बेटी पता नहीं क्यों एक दिन ज़हर पी कर सोयी ही रह गयी थी, जिसका एकलौता बेटा दवा के अभाव में दम तोड़ चुका था और जिसकी पत्नी बेटे के वियोग और अर्थाभाव में लगभग नग्नावस्था में पति का साथ छोड़ गयी थी। ऐसी दमघोंटू जानलेवा स्थिति में किसी के चेहरे पर खिले गुलाब-सी हंसी कैसे दिखलायी पड़ सकती है! इसी तरह 'सावन की एक सांझ', 'फ़ील गुड', 'तुम्हारे विरुद्ध' , 'आख़िर कब तक' आदि कविताओं में देश की रोंगटे खड़े कर देने वाली स्थितियों का अत्यंत यथार्थ और आक्रोशपूर्ण चित्रण किया गया है। आज़ादी के बाद देश के नीति नियंताओं की कारगुज़ारियों से कवि काफ़ी व्यथित दिखलायी पड़ता है: 'समुन्नत होता देश / विनिवेश का प्रवेश / छंटनीग्रस्त मज़दूर / कल-कारख़ाने होते बंद / बेरोज़गारों की बढ़ती क़तार / युवावर्ग होता बेकार / घृणा का होता प्रसार / रिश्ते चलते तार-तार / तंग-तबाह किसान / खाद-बीज-पानी का दाम / छूते आसमान / विदेशी संप्रभुओं का बढ़ता हस्तक्षेप / गुलामी की ओर अग्रसर होता देश'।

देश की दुर्दशा के लिए ज़िम्मेदार शक्तियों ने जनता का ध्यान वास्तविक समस्याओं से भटकाने के लिए अंग्रेज़ों के समय का आज़माया हुआ नुस्ख़ा ही अपनाया, यानी धर्म-जाति-भाषा और क्षेत्रवाद के नाम पर जनता को आपस मे लड़वाने की लगातार कोशिशें की। सातवें दशक की शुरुआत के साथ ही देश में एक तरफ़ मोहभंग की शुरुआत हुई तो दूसरी तरफ़ जनता को बांटने और आपस में लड़ाने की तिकड़मों की। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सांप्रदायिकता की जो आग लगभग ठंडी पड़ गयी थी, वह फिर से सुलग उठी और फिर धीरे-धीरे उसका प्रसार होता चला गया। आज सांप्रदायिकता सबसे बड़ी और गंभीर समस्या बन चुकी है। प्रशांत जी ने इसकी गंभीरता को बहुत शिद्दत से समझा है। इस विषय पर केंद्रित उनकी तीन कविताएं—'कुछ भी नहीं बचेगा शेष', 'वे लोग' और 'ओ मेरे मित्र'—इस संग्रह में शामिल हैं। इन कविताओं में कवि ने धर्म के सच्चे मानवीय स्वरूप की व्याख्या की है और लोगों को परस्पर एकताबद्ध रहते हुए देशविरोधी-जनविरोधी ताक़तों की पहचान करने और उनके विरुद्ध निर्णायक संघर्ष करने की आवश्यकता को रेखांकित किया है। 'कुछ भी नहीं बचेगा शेष' कविता की इन पंक्तियों में अंतर्निहितमर्मस्पर्शी संदेश की प्रासंगिकता और महत्त्व को इस संदर्भ में देखा जा सकता है: 'धर्म की करुणार्द्र आंखों

में झांको / उसे पढ़ो / उसे समझो /मंदिर-मस्जिद से अलग है वह / गिरिजाघर- गुरुद्वारे से भी अलग है इसीलिए / धर्म को बांटो मत / आदमी को बांटो मत / नहीं तो / कुछ भी नहीं बचेगा शेष / सब कुछ भस्म हो जायेगा / घृणा की आग में / अपनी संस्कृति—अपना देश।' कवि ने अपनी इन्हीं भावनाओं को अन्यत्र एक मुक्तक के रूप में भी अभिव्यक्त किया है: 'इस देश की पहचान मिटाने चले कुछ लोग / इंसान को हैवान बनाने चले कुछ लोग / मज़हब का ग़लत अर्थ समझाने चले कुछ लोग / फिर खून की नदियों में डुबोने चले कुछ लोग।' ऐसी मनुष्यविरोधी सोच के परिणाम को भी कवि के एक अन्य मुक्तक में दिखलाया है: 'भीड़ में ऐसे खड़े हैं लोग / आप अपने से डरे हैं लोग / आग नफ़रत की जलायी जा रही / खौफ़ से सिहरे हुए हैं लोग।' स्पष्ट है कि कवि इस तरह की कोशिशों में मुब्तिला लोगों को न केवल देशविरोधी और मानवता का दुश्मन मानता है बल्कि उनके मंसूबों के प्रति अपना विरोध भी दर्ज करता है। रामेश्वर प्रशांत एक सचेत प्रतिबद्ध कवि हैं। वे यह भलीभांति जानते हैं कि जब तक बहुदलीय राजनीतिक प्रणाली वाली इस लोकतांत्रिक व्यवस्था के स्थान पर वर्गसंघर्ष पर आधारित व्यवस्था परिवर्तन नहीं होगा और शासन पर वास्तविक उतपीड़ित वर्गों का अधिकार नहीं होगा, तब तक शोषित-पीड़ित वर्गों की मुक्ति का सपना अधूरा ही रहेगा। फिर भी लोकतांत्रिक व्यवस्था की तमाम सीमाओं के बावजूद अगर सत्ता पर क़ाबिज़ राजनीतिक नेतृत्वकर्त्ता समूह भरसक ईमानदारी से प्रयास करे तो बहुसंख्यक जनसमुदाय की स्थिति में बहुत कुछ सुधार हो सकता है । प्रशान्त जी के कवि का मानना है कि आज़ादी के सात दशकों के बाद भी ऐसा नहीं हुआ। सत्ता पर क़ाबिज़ शक्तियों ने जनहित को दरकिनार करते हुए सत्ता का पूरी तरह दुरुपयोग किया और उसे भोगा। इसीलिए कवि का आक्रोश ऐसी ताक़तों की न केवल स्पष्ट पहचान करता है बल्कि उनके विरुद्ध हर स्तर पर संघर्ष करने की आवश्यकता पर ज़ोर देता है। 'ओ नये वर्ष' शीर्षक कविता में उसने स्पष्ट रूप से इस संदर्भ में अपनी बात कही है: 'मेरे द्वारा चुने हुए लोग / मुझे ठगते रहे / गदहों की तरह रेंकते/ और एक-दूसरे को लतारते रहे / मेरे सामने एक नौटंकी खेली जाती रही / और मैं तमाशबीन बना / सबकुछ देखता रहा अहर्निश / उल्लुओं के दलों ने थाम ली है रोशनी / इसीलिए फैलता रहा अंधकार पूरे वर्ष'। एक अन्य कविता 'सर्कस' में भी लगभग यही भाव व्यक्त हुआ है। इसी संदर्भ को कवि 'शुरू हो जायेगी एक और नयी कविता' में आगे बढ़ाते हुए कहता है: 'सच, ये कुछ कर नहीं पाये / कुछ कर नहीं पायेंगे / कुछ करना भी नहीं था इन्हें /*** इसीलिए / अब समझने लगा हूं / कि इन नारों और इन झंडों के पीछे / बनैले सूअर छिपे हैं / जो मेरी देह और अंतरियों को / चिथरा-चिथरा करते रहते हैं '। इसीलिए कवि अपनी इस समझ को अमली जामा पहनाने के लिए जनता और जनतंत्र के इन दुश्मनों के विरुद्ध एक निर्णायक संघर्ष की आवश्यकता महसूस करता है।

कवि रामेश्वर प्रशांत अपने आरंभिक राजनीतिक जीवन में उग्र और अतिवामपंथी विचारधारा के प्रभाव में रह चुके थे। उस राजनीति की अपनी खूबियां-ख़ामियां थीं, अपने अंतर्विरोध थे, जिनके कारण वे उसके साथ बहुत दूर तक नहीं चल सके। दरअसल, वे व्यक्तिगत दुस्साहसिक कार्रवाइयों की जगह भारतीय क्रांति की नेतृत्वकर्त्ता ताक़तों—मज़दूर-किसान वर्गों—की अगुवाई में बहुसंख्यक जनसमुदाय की व्यापक एकता और सामूहिक-संगठित संघर्षों के पक्षधर थे। इसीलिए वे चाहते थे कि समस्त दलित-शोषित और उत्पीड़ित वर्गों के लोग मिलजुलकर व्यवस्था परिवर्तन की लड़ाई लड़ें और निर्णायक जीत हासिल करें। संग्रह की कई कविताओं में उन्होंने अपनी इस भावना को शब्दों में पिरोया है। 'ज़रूरी है' शीर्षक कविता में वह पुरज़ोर लहजे में आह्वान करता है: 'ओ साथियो, आओ / हम इन कुहेलिकाओं से लड़ें / इन्हें ध्वस्त करने के लिए / ढेर सारी लकड़ियां बटोरें / इकट्ठा करें / आओ / हम एक तीली जलायें / आग सुलगायें / क्योंकि / देह की ठिठुरन मिटाने के लिए / ज़रूरी है / ढेर सारी लकड़ियों का सुलगना / ज़रूरी है / बहुत-बहुत ज़रूरी है ।' इसी तरह का आह्वान कवि 'चिड़िया' कविता में भी करता है: ' ओ चिड़िया! तुम आओ / एकजुट हो चहचहाओ / मुक्त आकाश में विचरो-गाओ / हिंसक मनुपुत्रों को / अपनी तीक्ष्ण चोंचों से बेधो / अपनी रक्षा करो / ओ चिड़िया! ओ चिड़िया!! ओ चिड़िया!!!' एक अन्य कविता

'गुमनाम श्रमिका के नाम पाती' की इन पंक्तियों को भी इस संदर्भ में देखा जा सकता है: 'तुम आओ कि हम एक-दूसरे को सहलायें-दुलरायें / तुम और मैं हम बन जायों / बिखरी हुई शक्तियों को जोड़ें / बाधा-बन्धनविहीन जग का सपना रचे सजायें / अपने पांवों की बेड़ियां तोड़ें / अवरोधों की अट्टालिकाएं ढाहें-गिरायें / एक नया सूरज उगाने के लिए '।

इस तरह *सदी का सूर्यास्त* संग्रह के अंतर्गत रामेश्वर प्रशांत जी के कवि की राजनीतिक चेतना का मुकम्मल विकास-क्रम दिखलायी पड़ता है । प्रसंग ज़रूर अलग-अलग हैं, लेखन-क्रम में स्पष्ट अंतराल भी है, लेकिन कवि की राजनीतिक चेतना में कहीं भी न तो ठहराव है, न ही किसी तरह का भटकाव। उसकी आस्था और प्रतिबद्धता सदैव अपरिवर्तित रही है। उसने लगातार अपने समय और समाज के अंतर्विरोधों को रेखांकित किया है, उन पर सवाल खड़े किये हैं और उनके समाधान भी सुझाये हैं—सामूहिक-संगठित निर्णायक संघर्ष के रूप में। बड़ी बात यह है कि स्पष्ट राजनीतिक प्रतिबद्धता की बार- बार आवृत्ति के बावजूद इन कविताओं में मर्मस्पर्शी संवेदनशीलता का कहीं से भी अभाव नहीं है। इसके विपरीत 'चिड़िया' जैसी कविता में तो कवि की सहानुभूति और संवेदना तब अत्यंत ऊंचाई पर पहुंच जाती है जब वह चिड़िया के संघर्ष को औचित्यपूर्ण बतलाते हुए कहता है कि तुमने तो किसी मनुपुत्र को अपनी चोंचों से अकारण नहीं विंधा है, किसी को अकारण दुख नहीं पहुंचाया है? कवि सामंती-पूंजीवादी व्यवस्था द्वारा शोषित, उत्पीड़ित और छले गये लोगों के प्रति आद्यंत सहानुभूति से भरा नज़र आता है। वह निर्दोष क्रौंच पक्षी की हत्या से व्यथित, क्षुब्ध और आक्रोशित आदिकवि वाल्मीकि की तरह निरीह, अधिकारवंचित और सदियों से सताये गये दलित-उत्पीड़ित लोगों के प्रति सहानुभूति से भरा और उनके मुक्ति-संग्राम में सहभागिता हेतु पूरी तरह प्रतिबद्ध दिखलायी पड़ता है।

कवि रामेश्वर प्रशांत ने जनकवि बाबा नागार्जुन की तरह अपने समय के सुप्रसिद्ध व्यक्तियों पर भी कई कविताएं लिखी हैं। बाबा के यहां ऐसी कविताओं की संख्या बहुत ज़्यादा है। चूंकि प्रशांत जी ने बाबा की तरह विपुल परिमाण में लेखन नहीं किया है, इसलिए स्वाभाविक रूप से उनके यहां ऐसी रचनाओं की संख्या कम है। *सदी का सूर्यास्त* में इस तरह की कुल छः रचनाएं शामिल हैं जो लेनिन, पाब्लो नेरुदा, नागार्जुन, आरसी प्रसाद सिंह, बेंजामिन मोलाइसे और शमशाद सहर को केंद्र में रखकर लिखी गयी हैं। 'महान लेनिन के प्रति' शीर्षक कविता में कवि ने लेनिन को पिता कह कर संबोधित किया है और उनकी ही एक बात का हवाला देते हुए वैसे लोगों पर प्रहार किया है जो बात-बात में लेनिन को उद्धृत करते हैं और उनके विचारों के प्रतिकूल आचरण करते हैं। कवि महान लेनिन को संबोधित करते हुए कहता है कि 'ओ पिता! / अब सजग-सचेत हो गया है / संघर्षशील जन-समुदाय / उफन रहा है जन-सैलाब / गाते हुए तुम्हारा जयगान / हर तरह के प्रहार से वह हो गया है सावधान / नहीं होगा वह विभ्रमित-विमुग्ध / विफल होंगे शत्रुओं के समस्त वाग्जाल / नष्ट हो जायेंगे उनके विषबुझे शर-संधान।' इसी तरह 'पाब्लो नेरूदा' शीर्षक कविता में कवि उन्हें एक अच्छे आदमी और एक अच्छे कवि के रूप में देखता है जो एक अच्छे समाज की कल्पना में जीता था। कवि कहता है कि अपने भलेपन में नेरूदा ने चिली के लोकतांत्रिक ढंग से निर्वाचित प्रथम कम्युनिस्ट राष्ट्रपति साल्वाडोर आयेन्दे के सहयोगी के रूप में वर्ग-सहयोग और शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति पर चलने की भूल की थी लेकिन प्रतिगामी शक्तियों ने उनको धोखा दिया और अपने कुचक्री स्वभाव के अनुरूप विश्वासघात किया। कवि इस कविता के माध्यम से अपने देश के पाब्लो नेरूदाओं को सचेत करने का प्रयास करता है और कहता है कि वे भी 'ग़रीबी हटाओ' जैसे लोकलुभावन नारों से परहेज़ करें, वरना उनका हश्र भी पाब्लो नेरूदा जैसा ही हो सकता है। शेष चार कविताएं, जिनमें से अख़िरी तीन ग़ज़ल के रूप में हैं, क्रमशः नागार्जुन, आरसी बाबू, बेंजामिन मोलाइसे और शमशाद सहर के प्रति श्रद्धापूर्ण भावाभिव्यक्तियां हैं । कवि नागार्जुन के प्रति उसकी भावना देखिए - 'वह जनकवि था / जन-जन का कवि/ जनता की आकांक्षाओं की तसवीर / अपनी कविताओं में उतारता था / उनकी पीड़ाओं के गीत गाता था / कविताएं उसकी जन-जन की आंखों की पुतलियां थीं।' इसी तरह उसकी दृष्टि में कविवर आरसी प्रसाद सिंह एक स्वाभिमानी संत की तरह हैं, जिनमें

वसंत की-सी ताज़गी है। शहीद बेंजामिन मोलाइसे और शायर शमशाद सहर को भी इसी तरह बहुत भावुकतापूर्वक याद किया गया है। इस तरह बाबा और प्रशांत जी की इन व्यक्तिकेंद्रित कविताओं में प्रवृत्ति के लिहाज से काफ़ी समानता है, बावजूद इसके उनके बीच एक महत्त्वपूर्ण अंतर भी है। नागार्जुन जी ने जहां अपने समय के नायकों—रवींद्रनाथ टैगोर, महात्मा गांधी, लेनिन, गीतकार शैलेंद्र जैसे लोगों पर श्रद्धा और सम्मान के भाव व्यक्त करनेवाली कविताएं लिखी हैं, वहीं मोरारजी देसाई, इंदिरा गांधी, बाल ठाकरे जैसे लोगों के जनविरोधी कृत्यों पर कठोर व्यंग्यात्मक प्रहार करनेवाली कविताएं भी लिखी हैं। प्रशांत जी के यहां यह चीज़ नहीं मिलती। उन्होंने अपने समय के नायकों का सकारात्मक मूल्यांकन करते हुए उन्हें सादर सम्मानपूर्वक स्मरण किया है और उन्हें अपनी श्रद्धांजलि निवेदित की है, गोकि प्रशांतजी की कविताओं का मुख्य स्वर समाज के वंचित-उत्पीड़ित वर्गों की मुक्ति की पक्षधरता का है, तथापि उन्होंने कतिपय अन्य विषयों पर भी बहुत मन से लिखा है। 'बच्चे', 'चील', 'गाछ', 'गर्मी की दोपहर', 'वसंत', 'प्यार-1 और 2', 'रेशमी याद', 'खिलने दो', 'यादों का साया', 'भगवान' आदि इसी तरह की कविताएं हैं। इनमें 'यादों का साया' एक प्रेम कविता है तो 'भगवान' व्यंग्य कविता। 'बच्चे' और 'खिलने दो' भी बहुत सुंदर रचनाएं हैं। कवि की यह विशेषता मौसमों और ऋतुओं पर लिखे गये उसके गीतों में भी स्पष्ट दिखलायी पड़ती है।

कवि रामेश्वर प्रशांत अपनी काव्यभाषा के लिहाज से भी एक विशिष्ट कवि हैं। जिस तरह उनकी कविताओं के विषय उनके ग्राम-प्रांतर से लेकर अंतरराष्ट्रीय परिवेश तक फैले हुए हैं, उसी तरह उनकी काव्यभाषा में भी हिंदी के साथ ही संस्कृत, अंग्रेज़ी, अरबी, फ़ारसी के लोकप्रचलित शब्दों का अत्यंत स्वाभाविक समावेश दिखलायी पड़ता है। यहां तक कि मगही, अंगिका और बज्जिका मिश्रित लट्ठमार बेगुसरैया बोली के 'अंतरियां, करुआ, कल्ह, हरियर, सुद्धी गाय' जैसे शब्द भी उनकी भाषा में दिखलायी पड़ते हैं। निश्चित रूप से, रामेश्वर प्रशांत अपने दौर के अत्यंत प्रतिभाशाली और महत्त्वपूर्ण कवि हैं जो अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता और सार्थक रचना-कर्म के कारण हमेशा सादर स्मरण किये जाते रहेंगे।

मो. : 9431685639